जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूं–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

विषय : राजनीति विज्ञान

पंचम पत्र : भारत और विश्व

संवर्ग

संवर्ग–1 • भारत के विश्व दृष्टिकोण का विकास • भारतीय विदेश नीति के अध्ययन के उपागम • भारतीय विदेश नीति के उद्देश्य एवं निर्धारक तत्व • भारतीय विदेश नीति के निर्णय लेने वाले निकाय (विदेश मंत्रालय, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद, प्रधानमंत्री कार्यालय, संसद एवं संसदीय समितियां)

संवर्ग–2 • विदेश नीति के विकास की प्रक्रिया (राजनीतिक दलों एवं संचार माध्यमों सामाजिक आंदोलनों, गैर–सरकारी संगठनों, व्यापारी वर्ग, प्रवासी भारतीयों और चिंतन समूहों जैसे–दबाव समूहों की भूमिका) • भारत की विदेश नीति : एक सिंहावलोकन • संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय संघ • रूस, चीन और जापान

संवर्ग–3 • भारत और इसके पड़ोसी देश • भारत और दक्षिण–पूर्वी एशिया और प्रशांत महासागर • भारत और केन्द्रीय तथा पश्चिमी एशिया के संबंध • भारत, लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई देश • भारत और अफ्रीकी देशों के संबंध

संवर्ग–4 • राजनीतिक एवं सुरक्षा संबंधी समस्याएं (शस्त्र नियंत्रण, निःशस्त्रीकरण, परमाणु, मसले और अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद) • आर्थिक समस्याएं : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश, बहुराष्ट्रीय निगम तथा क्षेत्रीय सहयोग

संवर्ग–5 • सामाजिक–सांस्कृतिक विषय (नृजातीय और धार्मिक आंदोलन, मानव अधिकार और मानवीय हस्तक्षेप तथा पर्यावरण) • राजनीतिक और राजनयिक मामले (संयुक्त राष्ट्र संघ, गैर–आर्थिक क्षेत्रीय संगठन, गुटनिरपेक्ष आंदोलन और भूमंडलीकरण)

Expert Committee

Sr.No.	Name	Designation	Organization
1.	**Prof. K.S. Saxena**	Retd. Professor	Rajasthan University, Jaipur
2.	**Prof. Kanta Katariya**	Professor	Jai Narayan Vyas University, Jodhpur
3.	**Dr. Rajesh Sharma**	Associate Professor	Rajasthan University, Jaipur
4.	**Prof. Anil Dhar**	Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
5.	**Dr. Jugal Kishore Dadhich**	Associate Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
6.	**Prof. A.P. Tripathi**	Professor,	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

ISBN No. 978-93-83634-48-4

लेखक

डॉ. जुगलकिशोर दाधीच

सह-आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं 341306 (राजस्थान)

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2019

मुद्रित प्रतियां : 140

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं - 341306 (राजस्थान)

मुद्रक :

M/s ADITYA PRINTERS & STATIONERS, JAIPUR

विषय-सूची

क्र.सं.	ईकाई	पृष्ठ संख्या
1.	भारत के विश्व–दृष्टिकोण का विकास	01–07
2.	भारतीय विदेश नीति के अध्ययन के उपागम	08–14
3.	उद्देश्य और निर्धारक	15–20
4	निर्णय लेने वाले संस्थान : विदेश मंत्रालय, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद, प्रधानमंत्री कार्यालय, संसद और संसदीय समितियों का विशेष संदर्भ	21–29
5	विदेश नीति के विकास की प्रक्रिया : राजनीतिक दलों तथा जनसंचार माध्यमों, सामाजिक आंदोलनों, गैर सरकारी संगठनों, व्यापारी वर्ग, प्रवासी भारतीयों और चिंतन समूहों जैसे दबाव समूहों की भूमिका	30–38
6	भारत की विदेश नीति : सिंहावलोकन	39–49
7	संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय संघ	50–58
8	रूस, चीन और जापान	59–67
9	भारत और इसके पड़ोसी देश	68–80
10	भारत और दक्षिण–पूर्वी एशिया	81–90
11	भारत और केंद्रीय व पश्चिमी एशिया	91–98
12	भारत, लैटिन अमेरिका और कैरीबियन	99–105
13	भारत और अफ्रीका संबंध	106–114
14	राजनीतिक एवं सुरक्षा संबंधी समस्याएँ : शस्त्र नियंत्रण, निरस्त्रीकरण, परमाणु मसले और अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद	115–123
15	आर्थिक समस्याएँ : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश, बहुराष्ट्रीय निगम, तथा क्षेत्रीय सहयोग इकाई की रूपरेखा	124–131
16	सामाजिक–सांस्कृतिक विषय : नृजातीय और धार्मिक आंदोलन, मानव अधिकार और मानवीय हस्तक्षेप तथा पर्यावरण	132–147
17	राजनीतिक और राजनयिक मामले (संयुक्त राष्ट्र, गैर–आर्थिक क्षेत्रीय संगठन, गुटनिरपेक्ष आंदोलन और भूमंडलीकरण)	148–154
18	संदर्भ ग्रंथ सूची	154–188

प्रस्तावना

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के गत पाँच दशकों से भी अधिक समय में भारत, विश्व के मामलों में एक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया है। इसका उल्लसित प्रकार्यात्मक लोकतंत्र, फलती–फूलती वैविध्यपूर्ण अर्थव्यवस्था और समतावादी, बहु–सांस्कृतिक समाज का विकास आदि सभी बातें आज इसे विश्व के देशों में परिपक्व राष्ट्र का दर्जा प्रदान करने में मिली सफलता के ज्वलंत उदाहरण हैं।

भारत को जिन परिस्थितियों में आज़ादी मिली थी, उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में सभी दृष्टियों से राष्ट्र–निर्माण का कार्य बहुत कठिन था, क्योंकि जब भारत आज़ाद हुआ था उस समय विश्व बहुत मुश्किल से द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका से उबरा ही था कि उसके तत्काल बाद वह शीत युद्ध में उलझ गया। यह शीत युद्ध विश्व की दो महान सैनिक और आर्थिक शक्तियों संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच केंद्रित था। इस शीत युद्ध ने चार दशकों तक विश्व को प्रभावित किए रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि इनमें से मुख्य रूप से एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के वि–उपनिवेशीकृत और तभी स्वतंत्र हुए देश शीत युद्ध के संकट के कारण बिखर गए। शीत युद्ध के कष्टदायक प्रभाव से विश्व का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा। इतना ही नहीं, वि–उपनिवेशीकृत विश्व के बहुत से देश बड़ी शक्तियों की संधियों में आसानी से बंध गए। इस कारण वे अपने राष्ट्र–निर्माण के महान कार्य के अवसर का लाभ न उठा सके।

ऐसी संकटपूर्ण परिस्थितियों में भारत ने विश्व के मामलों में अपने लिए ऐसी भूमिका निश्चित की जो इसे शीत युद्ध के प्रभाव से मुक्त रख सके। इस प्रक्रिया में, इसे पर्याप्त सफलता भी मिली। अपने चिरकाल से सम्मानित सिद्धांतों और अपने इतिहास तथा समन्वयात्मक संस्कृति के मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में भारत ने अपनी आज़ादी के आरंभिक वर्षों में पंचशील को अपनी विदेश नीति का आधार बनाया और अपने सभी निकटस्थ तथा दूरवर्ती पड़ोसियों की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। लेकिन, शीत युद्ध के कभी समाप्त न होने वाले और राष्ट्रों की शक्तियों को निरंतर क्षीण करने वाले तनाव को ध्यान में रखते हुए भारत ने राजनय के एक नए सिद्धांत का विकास किया जिसे गुटनिरपेक्षता का सिद्धांत कहा गया। इसके अंतर्गत भारत ने समान विचार वाले देशों के साथ मिलकर इस तनाव को समाप्त करने या शीत युद्ध–ग्रस्त विश्व में उसे कम करने का पुरज़ोर प्रयास किया। इसका मूल उद्देश्य विश्व में स्थायी शांति को सुनिश्चित करना था ताकि विकासशील देश अपनी ऊर्जा और प्रयास राष्ट्र–निर्माण की ओर लगा सकें।

ऐसा करने के लिए भारत ने युद्धोत्तर विश्व व्यवस्था यानी संयुक्त राष्ट्र संघ को मज़बूत बनाने का प्रयास किया। इस कार्य के लिए भारत ने विश्व की एक बड़ी शक्ति के विरोध के बावजूद चीन को संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाने की कोशिश की। इसी समय, भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर से और बाहर से बड़ी शक्तियों के बीच चाहे वह एशिया में हों या अफ्रीका में, लैटिन अमेरिका में हो या कैरेबियन में पैदा होने वाली युद्ध की स्थिति को छिन्न–भिन्न करने का प्रयास किया। जबकि पश्चिमी मित्र–राष्ट्रों ने इस प्रयास की अपेक्षा की और भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति को अपने भूमण्डलीय उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक समझा। भारत के गुटनिरपेक्षता के सिद्धान्तों पर आधारित इस विश्व–व्यापी आंदोलन में बहुत बड़ी संख्या में विकसित देश शामिल हो गए। इस आंदोलन को इतनी अधिक सफलता मिली कि शीघ्र ही बड़ी शक्तियों में से एक सोवियत संघ ने स्वयं को गुटनिरपेक्ष आंदोलन 'स्वाभाविक मित्र राष्ट्र' घोषित कर दिया। असंदिग्ध रूप से, गुटनिरपेक्ष देशों ने बहुत बड़ी संख्या में इस आंदोलन का समर्थन किया और भारत के लिए वह संभव हो गया कि वह विभिन्न क्षेत्रों के देशों से सहयोगपूर्ण संबंधों की अपेक्षा कर सके।

भारत के स्थायी विश्व–व्यवस्था के प्रयास के चलते विश्व को उपनिवेशवाद, सम्राज्यवाद, जातिवाद और शस्त्रीकरण की होड़ से मुक्त रखने के अथक प्रयासों के बावजूद एकाधिक अवसरों पर विश्व की ये दो बड़ी शक्तियां युद्ध की स्थिति में आमने–सामने आ गई। इस कारण मानव जीवन और प्राकृतिक संसाधनों की अत्यधिक हानि हुई। इतना ही नहीं, भारत के पड़ोसी देश पाकिस्तान ने पश्चिमी मित्र राष्ट्रों के साथ हाथ मिला लिया ओर चीन ने भारत के साथ सीमा–विवाद खड़ा करके सीमा पर झड़पें शुरू कर दीं। इसका भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इन विकट

परिस्थितियों में भारत ने 1970 के दशक के मध्य में परमाणु अस्त्र के परीक्षण का निर्णय किया, जिसे सामान्यतः पोखरण–1 कहा जाता है। जैसी कि आशंका थी, इस परमाणु अस्त्र परीक्षण से भारत विश्व के सभी क्षेत्रों की आलोचना का लक्ष्य बन गया। परन्तु भारत ने देश पर मंडराते खतरों की ओर ध्यान दिया कर अपने इस निर्णय को न्यायसंगत ठहराया। ऐसा होते हुए भी भारत ने स्वयं को किसी गुट के साथ किसी भी प्रकार के सुरक्षात्मक गठबंधन से अलग रखते हुए गुटनिपेक्षता की नीति का अनुसरण किया। इसके साथ ही भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर और बाहर से विश्व में समतावादी व्यवस्था स्थापित करने के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास जारी रखा।

1980 के दशक के अंत तक सोवियत संघ और मध्य एशिया एवं पूर्वी यूरोप के विघटन के परिणामस्वरूप दो बड़ी शक्तियों के बीच शीत युद्ध का अंत हो गया। इस संपूर्ण घटनाक्रम के कारण विश्व–व्यवस्था में अव्यवस्था की स्थिति समाप्त हो गई। इस युग को आर्थिक भूमंडलीकरण का युग कहा गया जिसका शुभारंभ सूचना प्रौद्योगिकी और संचार क्षेत्र में प्रौद्योगिकी के नवाचारों में तेजी से हुई प्रगति से हुआ। विश्व व्यवस्था में हुए इन दूरगामी परिवर्तनों ने भारत को 1990 के दशक के आरंभ में अपनी विदेश नीति के पुनरभिविन्यास के लिए प्रेरित किया। अपनी गुटनिरपेक्षता की नीति को जारी रखते हुए भारत ने वैश्वीकरण की चुनौतियों का सामना करने के लिए अपने बाहरी व्यापार के उदारीकरण और अपनी अर्थव्यवस्था के पुनर्विन्यास के लिए कार्रवाई आरंभ की। यह कार्य बहुत ही मंद गति से किया गया। भारत की अपरिमित आर्थिक संभावनाओं ने असंदिग्ध रूप से विदेशों से प्रत्यक्ष विनिवेश को आकर्षित किया। इसके अतिरिक्त न्याससंगत एवं उचित विश्व व्यवस्था के विकास के लिए भारत ने विश्व–व्यापार और आर्थिक क्षेत्र में प्रमुख तथा सकारात्मक भूमिका अदा की। इसका उद्देश्य न केवल अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा था अपितु उन देशों के हितों की सुरक्षा भी था जिनकी स्थिति भारत के समान थी। आज भारत न केवल एशिया उपमहाद्वीप के क्षेत्रों में अपितु संपूर्ण विश्व व्यवस्था में अपने लिए न्यायोचित भूमिका की तलाश में है। इस प्रयास में भारत ने किसी भी तरह अपने आधारभूत उद्देश्य यानी बेहतर विश्व के निर्माण के लिए गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत को क्षीण नहीं होने दिया।

उपर्युक्त घटनाक्रम की पृष्ठभूमि में भारत और विश्व', नामक एक पाठ्यक्रम तैयार किया गया। इसे सत्रह विशिष्ट विषयों में विभाजित किया गया है। इस पुस्तक का विन्यास छह व्यापक शीर्षकों में किया गया है। इनमें से प्रत्येक सामान्य विषय की चर्चा की गई है।

इसके पहले शीर्षक के अंतर्गत इकाई 1 से 3 में इस पुस्तक के सामान्य विषय विश्व के मामलों में भारत का योगदान का प्रस्तावना के रूप में वर्णन है। इकाई 1 में भारत की विश्व के बारे में समझ के विकास का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास किया गया है। इसमें आज़ादी के बाद की अवधि में भारत की विदेश नीति के ऐतिहासिक और दार्शनिक पक्षों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। इकाई 2 का शीर्षक भारतीय विदेश नीति के अध्ययन के उपागम है। इसमें उन विभिन्न सिद्धांतों/पद्धतियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है जिनके माध्यम से विद्वानों द्वारा भारत की विदेश नीति का विश्लेषण किया जा रहा है। इकाई 3 में उन उद्देश्यों और भू–राजनीतिक और भू–आर्थिक कारकों की आलोचनात्मक दृष्टि से समीक्षा की गई है जिन्होंने भारत के नीति निर्माताओं को बाह्य संपर्कों के विकास में व्यापक रूप से प्रभावित किया।

दूसरे शीर्षक के अंतर्गत इकाई 4 से 6 में नीति निर्माण और उससे संबंधित प्रक्रियाओं का वर्णन है। इस भाग में इकाई 4 में विभिन्न प्रक्रियाओं और संवैधानिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। ये संस्थाएँ भारत की विदेश नीति को महत्वपूर्ण निर्णय पर पहुँचने में मदद करती हैं। यहाँ भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के सांस्थानिक ढाँचे को विशेष महत्व दिया गया है। इकाई 5 में राजनीतिक प्रक्रियाओं की चर्चा की गई है जिसमें अन्य बातों के अलावा नागरिक समाज की व्यवस्था अपने पूर्ण आयामों के साथ सम्मिलित है और उसमें इस बात का भी उल्लेख है कि विभिन्न दृष्टिकोणों पर जनता के बीच कैसे चर्चा होती है और ये अंततः विदेश नीति के निर्णयों को कैसे प्रभावित करते हैं। इकाई 6 में भारत की वर्तमान विदेश नीति की मोटी रूपरेखा प्रस्तुत करने का और इसके कुछ समस्यात्मक क्षेत्रों को विशेष महत्व दिया गया है।

अगले तीन शीर्षकों में भारत के प्रमुख देशों और क्षेत्रों के साथ द्विपक्षीय संबंधों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इकाई 7 और 8 के अंतर्गत आज़ादी के बाद से अमेरिका, यूरोपीय संघ के सदस्य देशों, रूस, चीन और जापान के साथ द्विपक्षीय संबंधों के बारे में वर्णनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। द्विपक्षीय संबंधों का यह बहु–आयामी वर्णन है जिसमें इनके राजनीतिक, राजनयिक, सामरिक महत्त्व के तथा आर्थिक पक्षों को सम्मिलित किया गया है।

अगले शीर्षक में इकाई 9 से 11 के अंतर्गत भारत और इसके निकटस्थ पड़ोसियों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। इनमें मुख्य रूप से इस उपमहाद्वीप के अंतर्गत आने वाले देशों और विशाल ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप शामिल हैं। इकाई 9 में भारत के अपने निकटतम पड़ोसी देशों (मुख्य रूप से पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश और श्रीलंका) के साथ संबंधों का विस्तृत विवरण है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है. कि उपमहाद्वीपीय क्षेत्र में भारत के साथ पाकिस्तान के संबंध का क्षेत्र नाजुक समस्यात्मक रहा है। द्विपक्षीय संबंधों में समय–समय पर यह उतार–चढ़ाव न केवल कश्मीर–समस्या जैसे कुछ अनसुलझे आधारभूत तथाकथित मुद्दों के कारण है बल्कि प्रायः इसे अमेरिका तथा चीन जैसे अन्य देशों द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका ने और जटिल बना दिया है। इकाई 10 में दक्षिण–पूर्व एशिया और एशिया–प्रशांत देशों के विकास का विवरणात्मक चित्रण किया गया है। इस इकाई में इस बृहत्तर क्षेत्र के देशों के साथ परस्पर सोद्देश्य संबंधों के लिए भारत द्वारा किए गए प्रयासों और पहलुओं की समीक्षा की गई है। इकाई 11 के अंतर्गत सोवियत संघ के विघटन के बाद भारत के पश्चिम एशियाई देशों और मध्य एशियाई देशों के साथ संबंधों का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इन क्षेत्रों के संसाधनों का भारत के लिए विशेष महत्व है क्योंकि भारत के लिए इन देशों के साथ आर्थिक विनिमय की अपार संभावनाएं हैं।

शीर्षक 5 में भारत के लैटिन अमेरिका–कैरेबियन और अफ्रीका जैसे विश्व के दो अन्य प्रमुख क्षेत्रों के साथ संबंधों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आज़ादी के बाद से भारत ने इन देशों के साथ – चाहे ये देश संयुक्त राष्ट्र के सदस्य रहे हों या उससे बाहर रहे हों – परस्पर उपयोगी संबंधों की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। इसमें संदेह नहीं कि इन दो क्षेत्रों में लैटिन अमेरिकी–कैरिबियाई क्षेत्र सबसे दूर स्थित है। फिर भी, भारत इन देशों के कई मामलों में औपनिवेशिक और उपनिवेशवाद के बाद के अनुभवों का सहभागी रहा है। इसलिए विश्व के विभिन्न बहु–पक्षीय मंचों पर दक्षिण–दक्षिण आर्थिक और राजनीतिक सहयोग बढ़ाने की आवश्यकता है। इस निरंतर बढ़ते हुए अनुभव की सहभागिता ने भारत और लैटिन अमेरिकी देशों को परस्पर द्वि–पक्षीय आर्थिक व्यापार तथा प्रौद्योगिकी के आदान–प्रदान के अवसर प्रदान किए हैं। इकाई 13 में अफ्रीका के साथ भारत के संबंधों को खोजने का प्रयास किया गया है और साथ ही यह दिखाने की कोशिश की गई है कि भारत ने अफ्रीका के उप–सहारा क्षेत्र के देशों के विकास में किस प्रकार योगदान किया था और अब भी कर रहा है। इस इकाई में यूरोप के उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के अवशेषों के उन्मूलन में भारत की भूमिका की विस्तार से चर्चा की गई है।

अंतिम शीर्षक में इकाई 14 से 17 में भारत की विदेश नीति के प्रमुख पहलुओं और समस्यात्मक क्षेत्रों पर विचार किया गया है। इनमें से प्रत्येक विषय को राजनीतिक सुरक्षा, आर्थिक, सामाजिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक मुद्दों में विभाजित किया गया है। भारत को इन मुद्दों का बहु–पक्षीय संगठनों के मंचों पर– जिनमें संयुक्त राष्ट्र संघ भी शामिल है– सामना करना पड़ता है।

इस पुस्तक के अंत में विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पूरक पठन सामग्री के रूप में भारत की विदेश नीति से संबंधित पुस्तकों की विस्तृत सूची दी गई है।

– डॉ. जुगलकिशोर दाधीच

इकाई–1
भारत के विश्व–दृष्टिकोण का विकास

इकाई की रूपरेखा

1.1. प्रस्तावना

1.2 परंपरागत मूल्यों के स्रोत

1.3 विश्व दृष्टिकोण के विकास में परंपरागत मूल्यों एवं विषयों की प्रकृति

1.3.1 मध्यम मार्ग का महत्व

1.3.2 सहिष्णुता

1.3.3 यथार्थवाद एवं आदर्शवाद की परंपरा

1.3.4 साम्राज्यवादी परंपरा और स्वतंत्रता संग्राम के आदर्शों की अनुपस्थिति

1.3.5 अंतर्राष्ट्रीय कानून का अभिगम।

1.3.6 नकारात्मक शर्तों द्वारा सकारात्मक विचारों की अभिव्यक्ति

1.4 भारत में ब्रिटिश राज

1.5 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भारत के विश्व दृष्टिकोण पर विचार

1.6 सारांश

1.7 अभ्यास

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य इस बात का विश्लेषण करना है कि भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं दार्शनिक परंपरा तथा स्वतंत्रता आंदोलन के आदर्शों ने स्वतंत्रता पश्चात इसके विश्व दृष्टिकोण के विकास में किस प्रकार योगदान किया है। किसी भी राष्ट्र के विश्व दृष्टिकोण, जोकि किसी सामाजिक क्रिया के रूप में हो और उसके निर्माता जो उस सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण के अंश हो जहाँ वे क्रियाशील हैं, उन परंपराओं तथा मूल्यों, विशेष तौर पर वे जो कई युगों से संचारित होते आए हैं, के महत्व का खंडन नहीं किया जा सकता है। भारत के संदर्भ में यह तर्कसंगत है, क्योंकि यह एक प्राचीन सभ्यता स्थल है जहाँ कई महान संस्कृतियों का मिलन होता है।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू, जिन्होंने अपने प्रारंभिक दिनों में भारतीय विश्व दृष्टिकोण का निर्माण किया, के अनुसार भारत के विश्व दृष्टिकोण के दो पक्ष हैं – 'शांति का रचनात्मक पक्ष', और 'राष्ट्रों के बीच अधिकतम सहयोग'। यह भारतीय विदेश नीति के निर्माण में पुरातन चिंतन पर आधारित है। अतः उन सामाजिक मान्य पारंपरिक मूल्यों का वर्णन आवश्यक है जो विभिन्न चिंतकों के लेखन से अभिव्यक्त होता है, अथवा प्राचीन संस्थाओं और प्रथाओं में सम्मिलित है – भले ही इन भारतीय आदर्शों तथा उद्देश्यों में त्रुटि या कोई कमी हो।

1.2 परंपरागत मूल्यों के स्रोत

वेद जैसे धर्मग्रंथ भारत के प्राचीन मूल्यों का मुख्य स्रोत है। इनके अलावा मनु, याज्ञवल्क एवं पराशर ऋषियों द्वारा रचित ग्रंथ, धर्मशास्त्र, बौद्ध एवं जैन ग्रंथव्य रामायण एवं महाभारत, पुराण, दंतकथाएं, प्रसिद्ध राष्ट्रीय घटनाओं का इतिहास, एवं धर्मग्रंथ तथा उपासना की पुस्तकें आदि स्रोत हैं। सामाजिक मूल्यों में जन शिक्षा के माध्यम के रूप में ये महाकाव्य धर्मग्रंन्थों तथा विधि–ग्रंथों से अधिक महत्वपूर्ण हैं, जिनका ज्ञान कुछ लोगों तक ही सीमित है।

उपर्युक्त मूल्यों के परंपरागत स्रोत आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन जैसे मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को छूते हैं क्योंकि प्राचीनकाल में भारतीय मानव क्रियाओं को सख्ती से विभाजित नहीं किया गया था। द्वितीय, इन परंपरागत मूल्यों में कई बदलाव आए। इस बदलाव का कारण इस्लाम एवं पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव, विवेकानंद, टैगोर, तिलक, अरविंद, गांधी एवं नेहरू जैसे आधुनिक भारत के चिंतक जो काफी हद तक प्राचीन भारतीय चिंतन से प्रभावित थे तथा जिसने स्वतंत्र भारत के स्वरूप के निर्माण में उनके चिंतन को प्रभावित किया।

1.3 विश्व दृष्टिकोण के विकास में परंपरागत मूल्यों एवं विषयों की प्रकृति

विश्व दृष्टिकोण के विकास में भारतीय परंपरागत मूल्यों के पांच पक्षों का योगदान रहा है। ये पक्ष हैं मध्यम मार्ग का महत्व, सहिष्णुता, आदर्शवाद एवं यथार्थवादी परंपरा, साम्राज्यवादी पंरपरा की अनुपस्थिति तथा नकारात्मक शर्तों पर सकारात्मक विचारों की अभिव्यक्ति।

1.3.1 मध्यम मार्ग का महत्व

मध्यम मार्ग का महत्व भारतीय संस्कृति एवं परंपरा की मुख्य विशेषता है। जैसे संस्कृत की कहावत है– 'अति सर्वत्र बरजायेत' अर्थात् सदैव अति से दूर रहें। यह कहावत असीमता, अतिवाद एवं चरमता की सोच के प्रति भारतीय दर्शन की घृणा को दर्शाती है। यह भारतीय संस्कृति में एक सूत्र की तरह चला आ रहा है। भारत द्वारा मध्यम मार्ग का महत्व उसके लक्ष्यों के संश्लेषण जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में है। यद्यपि धर्म और मोक्ष को ज्यादा महत्व दिया गया है, परन्तु अर्थ और काम को भी उपेक्षित नहीं किया गया है। उदाहरण के तौर पर, वात्स्यायन के कामसूत्र, खजुराहो की मूर्तियों एवं कहावत 'सर्व गुणः कंचनमश्रयन्ति' में यह सुस्पष्ट है। अतः भगवद्गीता सभी इच्छाओं की दिव्य स्वीकृति का उल्लेख करती है, जोकि नैतिक व्यवस्था और नैतिक संहिता का उल्लंघन नहीं करती है।

इस बात में मतभेद हो सकता है कि भारतीय इन आदर्शों को कितने व्यवहार में ला पाए हैं और जीवन को सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक–धार्मिक व्यवस्थित अवस्था में पहुँचा पाएं हैं, जहाँ दोनों लोकों – इस लोक और परलोक– का आराम पा सकें। लेकिन भारतीय संस्कृति की इन सहक्रियाशील प्रेरणाओं का खंडन नहीं किया जा सकता है। माइकल ब्रिचर के अनुसार भारतीय दार्शनिक परंपरा का केंद्रीय सार महात्मा बुद्ध के समय से चला आ रहा है, जो अतिवाद एवं चरमपंथी मार्ग को अस्वीकार करता है। इसके विपरीत यह दार्शनिक सापेक्षता, बौद्धिक उदारता, अच्छाई एवं बुराई के सह–अस्तित्व पर बल देता है। संक्षेप में, यह समझौतों का मध्यम मार्ग का सिद्धांत तथा विरोधों से सहिष्णुता की बात करता है। नेहरू ने भी कहा है – भारत ने विभिन्न धर्मों को अपनाया और उनमें सामंजस्य स्थापित किया, यहाँ तक कि भूत में विज्ञान और धर्म के बीच विरोध में भी और शायद यह हमारी नियति थी कि विभिन्न विरोधी विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करें।

इस प्रकार की सांस्कृतिक–दार्शनिक परंपरा के कारण भारत ने शीत युद्ध के दौरान दो प्रतिद्वंद्वी अंतर्राष्ट्रीय विचारधाराओं– पश्चिम का उदारवादी प्रजातंत्र और सोवियत समतावाद– के बीच का मार्ग अपनाया। व्यक्ति की गरिमा एवं नागरिक स्वतंत्रता का सम्मान, लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्थाएँ, कानून का शासन एवं आधुनिक तकनीक आदि मूल्यों के क्षेत्र में पश्चिम और भारत के बीच समानता है। इसी तरह, सोवियत वितरण न्याय, उसकी उपनिवेशवाद एवं नस्लवाद के प्रति नीति और उसकी एशियाई मनोवृत्ति को भारत महत्व देता था। इसलिए भारत ने किसी भी गुट का पक्ष लेने से इनकार किया और अपने आदर्शों तथा हित के लिए दोनों से सहयोग करने का निर्णय लिया। सम्राट अशोक का स्मरण करते हुए नेहरू ने कहा– 'हम गुट की राजनीति, जोकि एक–दूसरे की विरोधी हैं, से स्वयं को दूर रखते हैं। इन प्रतिस्पर्धाओं, घृणा एवं आंतरिक द्वंद्व के बावजूद हम आपसी सहयोग और एक विश्व राष्ट्रमंडल की दिशा की ओर बढ़ रहे हैं।'

यह मैत्री का संदेश था, जिसे भारत ने 1946 में दिया। मैत्री की इस नीति ने भारत को ऐसे विश्व में युक्तिचालन करने की स्वतंत्रता प्रदान की जो अपने विभाजनों में बँटा हुआ था। यद्यपि कुछ आपत्तियों के बाद बड़ी शक्तियों ने भी कोरियाई, इंडो–चाइना, स्वेज़ एवं अन्य संकटों में भारत की तटस्थता की नीति को लाभदायक स्वीकार किया। इस प्रकार, भारत ने दोनों गुटों के बीच सेतु का काम किया और उनके बीच विचारधारा के संघर्ष में रुखेपन से ऐसे राष्ट्रों के समूह में विशिष्टता हासिल की, जो सैन्य शक्ति एवं आर्थिक सामर्थ्य में इससे कहीं अधिक थे।

1.3.2 सहिष्णुता

उपर्युक्त उल्लेख भारतीय दार्शनिक भाव को प्रदर्शित करता है, जो अतिवाद को अस्वीकार करता है तथा तर्क या विवेक की प्रथा पर विश्वास करता है और मतांधता का विरोध करता है। जैसे कि प्राचीन भारतीय कहावत के अनुसार, "वदे, व जयते तत्वसिद्धि' अर्थात् ज्ञानोदय की प्राप्ति वाद–विवाद से ही होती है। प्राचीन भारतीय परंपरा विवेक की सर्वोच्चता पर विश्वास करती है। प्रजना (विवेक) एक महत्वपूर्ण धारणा है जो यह निर्देशित करता है कि कोई अपने जीवन के तीन लक्ष्यों– धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति कैसे कर सकता है। उदाहरण के तौर पर, महाभारत में धर्म को अनुभव और विवेक के आधार पर परखने की बात कहकर उसे तुलनात्मक बनाया गया है।

कर्तव्य एवं विवेकपूर्ण प्रथा के लिए अमतांधता का मार्ग भारतीय संस्कृति का केंद्र माना जाता है तथा यह सत्य पर एकाधिकार की माँग नहीं करता है, यहीं से सहिष्णुता का उदय होता है। सहिष्णुता का यह मार्ग इस बात में विश्वास करता है कि मानव मस्तिष्क, जिसकी शक्ति और पहुँच सीमित है, सत्य की प्रकृति को उसकी पूर्णता में नहीं समझ सकता है। अतः ऋग्वेद में कहा गया है – 'एकम् सद्विप्रह बहुध वदन्ति' अर्थात् 'विद्वान एक सत्य की विभिन्न तरीकों से व्याख्या करते हैं। उपनिषद कहता है कि जिस प्रकार विभिन्न रंगों की गाय सफेद रंग का ही दूध देती है, उसी प्रकार विभिन्न मार्ग एक ही लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं।

सहिष्णुता का उल्लेख सिर्फ धर्मग्रंथों में ही नहीं है, बल्कि यह एक सामाजिक सत्य भी है। यही कारण है कि जब पहले 47 ईस्वी में केरल पहुँचे तो वे न तो सताए गए, न ही वहाँ से भगाए गए। इसी प्रकार, जब प्रथम यहूदी लोग 70 में केरल पहुँचे तो उनका स्वागत किया गया, तथा उन्हें अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतंत्रता दी गई। इसी तरह से

इस्लाम के उदय के साथ पारसी अपना देश छोड़कर 7वीं सदी में भारत पहुँचे तो उन्हें भी अपना धर्म मानने तथा प्रचार करने की अनुमति दी गई। सम्राट अशोक के राज आदेश–पत्र भी सहिष्णुता की बात करते हैं। यद्यपि कुछ मुसलमान शासकों के शासनकाल के दौरान धार्मिक उत्पीड़न के उदाहरण मिलते हैं, किंतु मुगल सम्राट अकबर के काल में सहिष्णुता स्पष्ट थी जिसने विश्व सौहार्द (सुल्ह–ए–कुल) की नीति को अपनाया था। मुसलमान कवि रहीम और हिंदू कवि तुलसीदास घनिष्ठ मित्र थे। सम्राट शाहजहाँ के वरिष्ठ पुत्र दाराशिकोह ने उपनिषद का फारसी में अनुवाद किया था। भारत में निरंतर जातीय एवं धार्मिक हिंसा यह बताती है कि आज की तुलना में पहले कहीं ज्यादा सहिष्णुता थी। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सहिष्णुता भारतीय जन–जीवन के लिए मूल आधार है। इन सब बातों से यह पता चलता है कि धर्मनिरपेक्षता को क्यों अपनाया गया और इसके इतने उत्क्रमण के बावजूद यह भारत में विद्यमान रही।

विदेश संबंधों के क्षेत्र में भारत की सहिष्णुता की प्रथा ने उसे किसी भी गुट से संबंध न रखने को बाध्य किया और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को किसी भी गुट के नज़रिए से नहीं देखने का निर्णय लिया। भारत की सहिष्णुता एवं बहुलता के दृष्टिकोण ने उसे सहज ज्ञान से शीत युद्ध को देखने को प्रेरित किया जिसकी विशेषता असहिष्णुता थी तथा दोनों गुटों के इस दावे को अस्वीकार किया कि सत्य और सद्गुण पर उनका ही अधिकार है। भारत ने शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व एवं सभी देशों के साथ मैत्री के मार्ग को अपनाया।

यही कारण है कि जब 1950 में तत्कालीन अमेरिकी विदेश मंत्री जॉन फॉस्टर डलेस तथा तत्कालीन उप–राष्ट्रपति रिचर्ड एम.निक्सन ने गुटनिरपेक्ष देशों के लिए असंसदीय भाषा का प्रयोग किया तब नेहरू ने उनसे आग्रह किया कि इस विचार–विमर्श को न दबाएँ तथा नए देशों के विदेश संबंधी विचार–विमर्शों में सहिष्णुता अपनाएँ। उन्होंने कहा कि मैं मिस्टर निक्सन और मिस्टर डलेस को सुझाव देना चाहता हूँ कि वे जो कह रहे हैं, वह लोकतांत्रिक भावनाओं के विपरीत है। लोकतंत्र का सार है, विभिन्न मतों के प्रति सहिष्णुता।' भारत द्वारा विवादों का हल, विचार–विमर्श से निकालने के तरीके में ही सहिष्णुता की परंपरा की झलक मिलती है। स्थायी परिणाम भारतीय प्रथा का सार है, तथा प्रयत्न यह करना चाहिए कि संघर्ष में लिप्त दो दलों को न्यूनतम क्षति पहुँचे। इसी प्रकार, महात्मा गांधी ने भारतीय आंतरिक तनावों को सुलझाने की कोशिश की– महाभारत में आच्छादित वार्ता के सिद्धांतों को आधुनिक काल में अपनाया। नेहरू ने इस प्रथा को कई अवसरों पर अनुमोदित किया। 12 जनवरी, 1951 को रेडियो प्रसारण में अपने भाषण के दौरान उन्होंने कहा, "यदि हम शांति चाहते हैं तो हमें शांति की प्रवृत्ति का विकास करना होगा, और उन लोगों को मित्र बनाना होगा, जो हमें संदेह की दृष्टि से देखते हैं, या जो सोचते हैं कि वे हमारे विरुद्ध हैं।

वार्ता का उपर्युक्त मार्ग भारत के चीन के साथ 1954 में पंचशील के समझौते में स्पष्टतः उल्लिखित है। यह चीन के साथ 1959 के सीमा–विवाद को कूटनीतिक वार्ता के द्वारा सुलझाने की बात करता है यद्यपि स्थिति 1959 में अत्यधिक बिगड़ गई थी तथा 1962 के संघर्ष के बाद मित्र देशों द्वारा प्रस्तावित कोलंबो प्रस्ताव को स्वीकार करना, भारत का वार्ता के प्रति समर्थन दिखाता है। 2003 में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा चीन यात्रा भारत–चीन संबंधों में सुधार की दिशा में एक सच्चा प्रयास था, जोकि भारत की वार्ता की प्रथा का एक मार्ग है। समझौते का यह मार्ग 1949 में पाकिस्तान के साथ युद्ध न करने की संधि में भी प्रतिबिंबित होता है। भारत द्वारा इस संधि का आने वाले वर्षों में निरंतर अनुमोदन करना तथा युद्ध–विराम रेखा के आधार पर कश्मीर का विभाजन भारत–पाक शांति के हित में था। नई दिल्ली द्वारा वर्तमान में पाकिस्तान के साथ शुरू की गई शांति की पहल इसी वार्ता के तरीके को दर्शाता है।

1.3.3 यथार्थवाद एवं आदर्शवाद की परंपरा

प्रारंभ से ही अंतर–राज्य संबंधों के दो महत्वपूर्ण मार्ग रहे हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, भारद्वाज के कार्यों में, मनुस्मृति एवं पंचतंत्र के कुछ भाग में प्रत्यक्षवादी मार्ग का समर्थन किया गया है। यद्यपि इन यथार्थवादी चिंतकों के बीच साधनों के प्रयोग के सवाल पर मतभेद हैं, परंतु वे राज्य की सुरक्षा और युद्ध पर विश्वास करते हैं, तथा यह न्यायसंगत मानते हैं कि जरूरत पड़ने पर सारे देश पर अधिकार करना चाहिए। इनका विश्वास है कि युद्ध को सिर्फ अंतिम आश्रय ही मानना चाहिए, इसलिए नहीं कि युद्ध अनैतिक है, बल्कि इसलिए भी क्योंकि यह महँगा और कष्टप्रद है तथा इसमें विजय की संभावना अनिश्चित होती है। पंचतंत्र में कहा गया है कि राजनीति में शांति शुरुआत के लिए तथा युद्ध अंत के लिए है।

दूसरी तरफ एक अति–प्राचीन भारतीय दर्शन के अनुसार प्रायश्चित, आत्म–त्याग, अहिंसा आदि पाप से मुक्ति में सहायक होते है एवं मोक्ष की प्राप्ति करवाते है। उपनिषद् हमें अहिंसा के सिद्धान्त का आधार प्रदान करता है। आत्मा विभाजित एवं अविभाज्य है, जिसे हम ईश्वर या सत्य कहते हैं। यह विश्व उसकी अभिव्यक्ति है, तथा सभी जीव उसके अंश हैं। चूंकि इस सत्य को अनुभव करने में ही पूर्णता है, किसी भी प्राकर हिंसा इस सत्य का खंडन है। बौद्ध एवं जैन धर्मावलम्बी अहिंसा के प्रबल समर्थक हैं, यद्यपि अहिंसा का सख्ती से पालन सिर्फ संतों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार यह मैक्यावलि सूत्र स्वर्णप्रभाषोत्म सभी तरह के युद्धों को पाप कहकर इसकी बुराई करता है। जब सम्राट अशोक ने

बौद्ध धर्म अपनाया तब उसने युद्ध को त्याग कर अपनी विदेश नीति को अंतरराज्य संबंधों में एक नया आयाम प्रदान किया। उसने अपने सभी पड़ोसी देशों एवं अन्य देशों से दोस्ताना और कूटनीतिक संबंध स्थापित किए और अपने समस्त शासनकाल में शांति एवं अनाक्रमण नीति का पालन किया।

आधुनिक काल में, महात्मा गांधी ने पहले दक्षिण अफ्रीका तथा उसके बाद भारत में अहिंसा के विचार को क्रांतिकारी स्वरूप प्रदान किया और उसका सामाजिक–राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए औजार की तरह इस्तेमाल किया। उन्होंने अहिंसा के अपने आदर्शों का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में भी प्रयोग करना चाहा। यह परमाणु युग में सुरक्षा का एकमात्र उपाय था। भारत में विश्व दृष्टिकोण में निरस्त्रीकरण का महत्व उसके अहिंसा के अपने आदर्शों का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में भी प्रयोग करना चाहा। यह परमाणु युग में सुरक्षा का एकमात्र उपाय था। भारत के विश्व दृष्टिकोण में निरस्त्रीकरण का महत्व उसके अहिंसा के आदर्शों से उत्पन्न होता है।

भारत के विश्व दृष्टिकोण के यथार्थवाद को 1962 के चीन के हमले के बाद बल मिला। नेहरू ने भी स्वीकार किया कि 'पहले हम गरीबी एवं निरक्षरता जैसी मानवीय त्रासदियों से लड़ने में तल्लीन थे, अतः हम रक्षा आवश्यकताओं को कम प्राथमिकता दे रहे थे।' अतः चीनी आक्रमण के बाद भारत का विश्व दृष्टिकोण उसकी विचारधारा के बंधनों के बावजूद, यथार्थवादी अधिक और अव्यावहारिक कम रहा।

1.3.4 साम्राज्यवादी परंपरा और स्वतंत्रता संग्राम के आदर्शों की अनुपस्थिति

भारतीय परंपरा की सबसे बड़ी विशेषता है– साम्राज्यवादी परंपरा का विरोध। इसमें सांस्कृतिक साम्राज्यवाद भी शामिल है। कौटिल्य या मनु या बोधायन जैसे कोई भी प्रमुख भारतीय चिंतक भारतीय साम्राज्य का विस्तार उसकी भौगोलिक सीमा अर्थात् भारत से बाहर फैलाने की बात नहीं करता है। यह सीमा समय–समय पर परिवर्तित होती रही है, लेकिन इसका अर्थ था– हिमालय से लेकर दक्षिण सागर तथा पश्चिम सागर से लेकर पूर्वोत्तर तक। कौटिल्य के अर्थशास्त्र या समुद्रगुप्त के शिलालेखों में कभी भी यह उल्लेख नहीं किया गया है कि किसी भारतीय सम्राट ने देश की भौगोलिक सीमा के बाहर अपना साम्राज्य विस्तार किया हो। महाभारत में भी भारतीय साम्राज्य का उसकी भौगोलिक सीमा के बाहर विस्तार करने से मना किया गया है।

चक्रवर्ती (सर्वोच्च शासक जो न्याय प्रदान करता है तथा शांति व्यवस्था करता है) की धारणा भी देश की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक सीमा तक ही सीमित थी। इसी प्रकार, बौद्ध साहित्य भी एक विश्व राज्य की बात करता है, जोकि एक शासक द्वारा शासित होगा। लेकिन यह शासन भी बल द्वारा नहीं, अपितु प्रेम द्वारा स्थापित होगी। भगवान बुद्ध को इसी प्रकार का चक्रवर्ती माना गया है। इस तरह, यह हिंदुओं एवं बौद्धों के बीच युद्ध को नकारता है। हिंदू और बौद्ध दक्षिण–पूर्व एशिया एवं श्रीलंका में व्यापारी एवं मिशनरी के तौर पर गए थे, न कि आक्रामक और विजेता बन कर वे वहाँ की सम्पत्ति लूटने नहीं गए थे। इसके विपरीत, जिन भारतीयों ने भी दक्षिण–पूर्व एशिया में शासन किया, उन्होंने वहाँ की देशी परंपरा को पूर्णतः धारण किया। वे किसी भारतीय शक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं होते थे, न ही वे उन पर निष्ठा रखते थे। कनिष्क द्वारा चीन पर आक्रमण तथा चोलों द्वारा इंडोनेशिया तथा श्रीलंका पर आक्रमण एवं शासन, हिंदू और बौद्ध संस्कृति के प्रतिकूल है। ये घटनाएँ विपथगमन या असामान्य हैं, इनसे भारत की असाम्राज्यवादी परंपरा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सत्य यह है कि चोल वंश किसी विदेशी संस्कृति का विरोध नहीं कर रहे थे, बल्कि उन वंशों पर आधिपत्य की कोशिश कर रहे थे जो उनकी स्वयं की संस्कृति थी।

प्राचीन भारतीय इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा है, जब राजाओं ने विजयी प्रदेशों को अपनी इच्छानुसार छोड़ दिया। उदाहरणस्वरूप, कालिदास के रघुवंशम में उल्लिखित राजाओं ने न्यायसंगत विजय प्राप्त की, किंतु जीते हुए प्रदेशों को छोड़ दिया। एक गुप्त वंश के विजेता बालादित्य ने एक हुण मिहिरकुल को हराया, लेकिन अपनी माँ की आज्ञा मानते हुए न सिर्फ मिहिरकुल को उसका राज्य लौटाया बल्कि एक शाही राजकुमारी से उसका विवाह भी करवाया। कल्हण ने अपनी रचना राजतरंगिनी में ऐसे कई राजाओं का उल्लेख किया है। हिंदू राजाओं के अलावा, अशोक ने बौद्ध विचारधारा के अनुसार हर प्रकार के युद्ध का परित्याग किया।

सर्वोतम मुसलमान एवं मुगल शासकों का भी उद्देश्य था, एक स्थायी भारतवर्ष की स्थापना तथा भारत से बाहरी दुनिया को अनदेखा करना। सम्राट अकबर ने सहिष्णुता, समझौतों तथा कूटनीति के द्वारा भारत का एकीकरण करना चाहा। मुसलमान शासकों का ध्यान भारत तक ही सीमित था, उनके लिए भारत ही समस्त विश्व था। उन्होंने या तो आपस में युद्ध किए या जब भी हिमालय के पार से या समुद्री मार्ग से आक्रमण हुआ तो उनके साथ युद्ध किया।

भारत के इतिहास में कभी भी साम्राज्यवाद का प्रयास नहीं किया गया। साम्राज्यवाद विरोधी परंपरा एवं भावना को ब्रिटिश राज के दौरान काफी बल मिला, क्योंकि भारतीय जनता ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से काफी कष्ट उठाए थे। अतः भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने इस आंदोलन को समस्त विश्व के साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरोध का एक हिस्सा माना।

इस साम्राज्यवादी विरोधी परंपरा एवं संस्कृति के कारण ही भारत ने अपनी आज़ादी के पश्चात गुटनिरपेक्ष आंदोलन एवं पंचशील के द्वारा उपनिवेश तथा आश्रित क्षेत्रों की स्वाधीनता के लिए और नस्लीय समानता के लिए प्रबलता से कार्य किया। भारत ने आश्रित देशों की स्वतंत्रता संग्राम में जो सहायता की, वह अब एक इतिहास बन चुका है। उदाहरण के तौर पर, 1949 में नेहरू ने इंडोनेशिया की डच से आज़ादी के मसले पर दिल्ली में एक सम्मेलन आयोजित किया, भारत ने अल्जीरिया एवं ट्यूनीशिया को फ्रांस से आज़ादी तथा नामीबिया को दक्षिण अफ्रीका से आज़ादी के संबंध में संयुक्त राष्ट्र संघ को समर्थन दिया। भारत द्वारा 1972 में पाकिस्तान से जीते गए क्षेत्र को उसे लौटाने तथा 1971 में भारत–पाक युद्ध, जिसके कारण बांग्लादेश का एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ, भारतीय परंपरा के अनुसार ही था। इसने भारत की आक्रामक परिकल्पना को रोका तथा इस बात पर बल दिया कि कोई संस्कृति या राष्ट्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने स्वयं का साध्य अपना सकता है। नेहरू ने कहा कि भारत का विश्व दृष्टिकोण उसकी प्राचीन परंपरा तथा इस धरती की संस्कृति के अनुरूप है।'

1.3.5 अंतर्राष्ट्रीय कानून का अभिगम

प्राचीन भारत में यह सिद्धांत प्रचलित था कि राजा का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह अपनी राज्यसभा में दूसरे राज्य के दूत को सुरक्षा प्रदान करे। कोई भी अगर किसी दूत की हत्या करता है तो वह कर्तव्य के मार्ग से विमुखित होता है तथा नारकीय दंड का पात्र होता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस दृष्टिकोण का समर्थन करता है। रामायण में भी लंका–नरेश रावण ने तब राजनयिक प्रतिरक्षा का पालन किया, जब उसने अपने भाई की सलाह पर श्रीराम के दूत बनकर लंका में आए हनुमान को न मारने का निर्णय लिया।

आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय कानून भी विदेशी दूतों को कुछ उन्मुक्ति तथा विशेषाधिकार प्रदान करता है। हालांकि कुछ देशों ने इस पूर्ण–स्थापित कानून का उल्लंघन किया है। जैसे, पाकिस्तान में 1980 में अमेरिकी दूतावास को जला डाला गया था और ईरान ने अमेरिकी दूतावास के कर्मचारियों को लंबे समय तक बंधक बनाया था। दूसरी तरफ, भारत सरकार ने सभी प्रकार की राजनयिक उन्मुक्तियों का पालन किया है। भारत की नीति शरणार्थियों के प्रति उल्लेखनीय है। जब नेपाल–नरेश ने नेपाली कांग्रेस के नेताओं पर अत्याचार करना शुरू किया तो भारत ने उन्हें राजनीतिक शरण प्रदान की। भारत ने तिब्बत के दलाई लामा को आतिथ्य प्रदान किया, यद्यपि भारत को इसकी सैन्य एवं राजनीतिक, दोनों प्रकार से कीमत चुकानी पड़ी। भारत ने 1971 में पूर्वी पाकिस्तान से आए लाखों शरणार्थियों का भार उठाया। उनमें से काफी लोग अपने देश वापस लौटे ही नहीं तथा शरणार्थियों को इस देश में आना जारी रहा है। 1971 के भारत पाक युद्ध के दौरान युद्धबंदियों के साथ भारत ने सम्मानजनक व्यवहार किया। वे बिना किसी शर्त के पाकिस्तान वापस लौटा दिए गए। 1980 के दशक के मध्य में भारत ने तमिल शरणार्थियों की रक्षा का उत्तरदायित्व लिया। भारत की शरणार्थियों के प्रति नीति महाभारत के उस कथन के अनुरूप है जिसमें कहा गया है कि भय, निस्सहाय तथा पराजय से शरण चाहने वाले एक शत्रु का अपने स्वयं के पुत्र की तरह ध्यान रखना चाहिए।

हितोपदेश के अनुसार, यदि कोई शत्रु भी हमारे घर में आता है तो उसका सत्कार करना चाहिए। सभी को वृक्ष के समान होना चाहिए। जिस प्रकार वृक्ष अपनी छाया किसी व्यक्ति से वापस नहीं लेता है, भले ही वह व्यक्ति उस वृक्ष को काट ले। इन्हीं आदर्शों के कारण पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गौरी को उसके बार–बार आक्रमण करने के बावजूद हमेशा माफ किया, लेकिन जब पृथ्वीराज चौहान युद्ध हारे तो मुहम्मद गौरी ने उनकी हत्या कर दी।

1.3.6 नकारात्मक शर्तों द्वारा सकारात्मक विचारों की अभिव्यक्ति

भारतीय इतिहास, परंपरा एवं संस्कृति ने ही स्वतंत्र भारत के विश्व दृष्टिकोण को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि गुटनिरपेक्षता ने भी भारतीय विश्व दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया है। जैसा कि के.पी.मिश्र ने लिखा है–'भारत में दर्शन एवं सभ्यता की परंपरा यह दिखाती है कि भारतीयों को संज्ञा के साथ नकारात्मक का लगाव था।' यद्यपि भारतीयों ने उन सकारात्मक एवं स्वीकारात्मक विचारों को भी नकारात्मक शर्तों पर व्यक्त किया है जिनका सामाजिक उदय में काफी महत्व है। उदाहरण के तौर पर, 'शांति' को भारतीयों ने 'अहिंसा' कहा। 'हार' के स्थान पर 'पराजय' शब्द का प्रयोग किया। इसी प्रकार, हम या बहुत' के स्थान पर अनेक', 'उद्यम' के स्थान पर अप्रमाद', 'सहिष्णुता' के स्थान पर 'अवैर' का प्रयोग। हमें बौद्ध एवं जैन साहित्यों में इस प्रकार के शब्दों एवं अभिव्यक्तियों का उल्लेख भी मिलता है। इन सकारात्मक अर्थ वाले नकारात्मक शब्दों का काफी महत्व है।

नर्क्मा ने सही कहा है कि दूसरे देशों के लिए नैतिक निर्देशों को नकारात्मक तरीके में दिखाना असंतोषजनक एवं शक्तिहीनता या मजबूरी का द्योतक है, लेकिन भारतीयों के लिए, जोकि नकारात्मक शब्द पर महत्व देते हैं तथा अनिश्चय का पालन करते हैं, व्यक्त करने के लिए नकारात्मक तरीके में एक अधिक सकारात्मक एवं सशक्त अभिप्राय है।'

नकारात्मक तरीकों की पद्धति का प्रतिपादन इस बात की याद दिलाता है कि विश्व सभ्यता के लिए भारत की एक अति–महत्वपूर्ण देन है – शून्य की धारणा तथा गणित के प्रयोग में इसका सकारात्मक मान। अगर हम बड़े पैमाने पर देखें तो गुटनिरपेक्षता की विषय वस्तु में भी भारतीय परंपरा की झलक दिखाई पड़ती है। 'गुटनिरपेक्ष' शब्द यद्यपि नकारात्मक

शब्द है, लेकिन उसका अर्थ अत्यंत सकारात्मक है। इसके अंतर्गत एक स्वतंत्र विश्व–दृष्टिकोण का पालन, विकास के लिए प्रयत्न करना, निरस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद का विरोध एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का लोकतंत्रीकरण शामिल है।

1.4 भारत में ब्रिटिश राज

भारत में ब्रिटिश राज ने भारत के विश्व दृष्टिकोण की उत्पत्ति में तीन प्रकार से काम किया। प्रथम, इसने स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित किया, जिसके कारण भारत ने समस्त विश्व में पराधीन लोगों की स्वतंत्रता को समर्थन दिया। ब्रिटिश शासन के गुण और दोष, दोनों ने ही भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में योगदान दिया। जहाँ तक गुणों का संबंध है, संचार का जाल बिछा कर संचार की सुविधा प्रदान की, अंग्रेज़ी भाषा का परिचय, रेल का आरंभ करना तथा सामाजिक सुधार एवं सबसे ऊपर है – भारत को एक प्रशासनिक तंत्र में गठित करनी। ब्रिटिश राज ने भारत में राष्ट्रवाद के उदय को प्रोत्साहित किया। दूसरी तरफ, उसकी नस्ल–भेद की प्रथा, आर्थिक शोषण एवं भारतीयों को शासन से वंचित रखने ने उस अमीर वर्ग में भी राष्ट्रीय चेतना की भावना भर दी, जो तब तक अंग्रेज़ों का समर्थन करते थे। बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना जन–आंदोलन का रूप लेने लगी। बंगाल के विभाजन (1905) का विरोध व्यापक रूप लेने लगा तथा अरविंद घोष, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी जैसे नेताओं ने जनमानस की नब्ज़ पहचान कर जन–संपर्क अभियान शुरू किए। इस प्रकार, स्वाधीनता संघर्ष ने स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय आंदोलन का रूप ले लिया, जो अंततः 1947 में प्राप्त हुई।

इन परिस्थितियों में स्वतंत्र भारत द्वारा समस्त विश्व में पराधीन देशों के लोगों को स्वतंत्रता आंदोलन में समर्थन देना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। भारत के विश्व दृष्टिकोण की रूपरेखा के बारे में 7 सितंबर, 1946 में जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि हम लोग उपनिवेश एवं पराधीन देशों की जनता की स्वाधीनता के बारे में दिलचस्पी ले रहे हैं।

दूसरा, अंग्रेज़ों की रंगभेद नीति के कारण भारतीयों ने जो अपमान और तिरस्कार 'सहन किया उसने स्वतंत्र भारत के नेताओं को रंगभेद का सख्त विरोधी बना दिया। भारत के विश्व दृष्टिकोण के बारे में बोलते हुए 7 सितंबर, 1946 को नेहरू ने कहा, 'हम नाज़ी विचारधारा के नस्लवाद को अस्वीकार करते हैं, चाहे वह किसी भी रूप में, कहीं भी प्रचलित हो ।' उन्होंने संविधान सभा में 16 मई, 1949 को कहा – 'हमारी विदेश नीति के स्तंभों में से एक है – नस्लवाद के विरोध में लड़ाई।

तृतीय, भारत के इंग्लैंड के साथ ऐतिहासिक संबंधों ने स्वतंत्र भारत को इंग्लैंड से व्यावहारिक समस्याओं के कारण संबंध–विच्छेद न करने को बाध्य कर दिया। जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में भारत के इंग्लैंड के नेतृत्व वाले राष्ट्रमंडल देशों के संबंध के बारे में कहा – 'यह सभा जानती है कि पिछली सदी से सभी प्रकार के संबंध भारत और इंग्लैंड के बीच उत्पन्न हुए हैं, इसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन से एक रिक्त पैदा हो जाएगा, जोकि नुकसानदेह साबित हो सकता है। हमारी शिक्षण पद्धति इससे प्रभावित रही है, हमारी सैन्य प्रणाली इससे प्रभावित रही है, और हमारी सैन्य प्रणाली ब्रिटिश सेना की तरह ही विकसित हुई है। अगर हम इससे संबंध–विच्छेद कर लें तो इसका परिणाम यह होगा कि बिना उपयुक्त व्यवस्था के एक अलग प्रक्रिया अपनाई जाए। यदि हम उसका मूल्य नहीं चुकाना चाहते हैं, तो हम वह नहीं चुकाएँगे, और किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहेंगे।

1.5 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का भारत के विश्व दृष्टिकोण पर विचार

भारत का विश्व दृष्टिकोण तब तक पूरा नही कहलाएगा जब तक कि आज़ादी के दौरान कांग्रेस द्वारा समर्थित राष्ट्रवाद एवं अंतर्राष्ट्रवाद के विचारों पर चर्चा न कर ली जाए।

1921 में कांग्रेस के मुख्य नेताओं के अंतर्राष्ट्रीय परिवर्तनों पर कांग्रेस प्रस्ताव को स्वतंत्र भारत के विश्व दृष्टिकोण का मार्गदर्शक माना जा सकता है। महात्मा गांधी ने कहा कि 'जब हम अपने स्वराज की योजना के लिए परिपक्व हो रहे हैं तो हमें अपनी विदेश नीति की व्याख्या करना आवश्यक है। हम समस्त विश्व को आधिकारिक रूप से बता देना चाहते हैं कि हम उनसे किस प्रकार का संबंध रखना चाहते हैं।

कांग्रेस की जयपुर प्रस्तावना ने अपनी सूची में विश्व शांति को प्रोत्साहन, सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता, नस्ली समानता एवं साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति को इस संगठन का मार्गदशक सिद्धांत माना। इनमें एक बात और जोड़ी जा सकती है – जो भारतीय मूल के नागरिक विदेशों में बसे हैं, उन्हें स्वयं को उस देश का नागरिक मानना चाहिए तथा उन का शोषण नहीं करना चाहिए। कांग्रेस ने अपने अधिवेशनों में लगातार इन्हीं दिशाओं पर भारत के विश्व दृष्टिकोण का प्रस्ताव पारित किया है।

जैसा कि कांग्रेस का हरिपुर प्रस्ताव (1935) भारतीय विश्व दृष्टिकोण की रूपरेखा की व्याख्या करते हुए कहता है – 'भारत की जनता अपने सभी पड़ोसियों तथा सभी देशों के साथ शांति एवं मैत्री चाहती है, तथा इसी कारण आपस के सारे संघर्षों की समाप्ति चाहती है। एक स्वतंत्र भारत ऐसी व्यवस्था के साथ प्रसन्नता से संबंध रखना चाहता है तथा निरस्त्रीकरण एवं सामूहिक सुरक्षा का समर्थन करता है। लेकिन विश्व सहयोग की प्राप्ति तब तक असंभव है जब तक

अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों की जड़ व्याप्त है, तथा एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के ऊपर आधिपत्य है या साम्राज्यवाद का प्रभाव रहेगा। अतः विश्व शांति के लिए साम्राज्यवाद एवं व्यक्ति द्वारा दूसरे के शोषण का अंत करना होगा।

1.6 सारांश

भारत के विश्व दृष्टिकोण के विकास का मूल प्राचीनकाल से ही दिखाई पड़ता है, जैसे अंत–राज्य संबंधों में यथार्थवाद एवं आदर्शवाद दोनों पद्धतियों की उपस्थिति। बुद्ध एवं गांधी द्वारा समर्थित आदर्शवाद नेहरू युग के भारत के विश्व दृ ष्टिकोण में प्रभावशाली रहा, यद्यपि कुछ स्थितियों में हिंसा का सहारा लेना पड़ा (जैसे कि गोआ की आज़ादी के लिए सैनिक कार्रवाई)। यह तर्क दिया जा सकता है कि नेहरू की गुटनिरपेक्षता की नीति आदर्शवाद से प्रभावित थी। एक वैकल्पिक नीति यह हो सकती थी कि भारत किसी महाशक्ति से गठबंधन कर लेता, परंतु इससे परिणाम यह होता कि शीत युद्ध भारत के द्वार पर आ जाता, तथा वह भारत की स्वायत्तता एवं आर्थिक विकास को प्रभावित करता। गुटनिरपेक्षता की नीति के कारण 1962 के भारत–चीन युद्ध के समय जब सोवियत संघ ने तटस्थता की नीति को अपनाया था, तब भारत को इंगलैड और अमेरिका से सहायता मिली, एवं भारतीय हित की पूर्ति हुई। साथ ही इस नीति के कारण भारत विश्व शांति एवं उपनिवेशवाद के खिलाफ अपना योगदान दे सका। इस तरह, गुटनिरपेक्षता की नीति आदर्शवाद तथा यथार्थवाद, दोनों को प्रतिबिंबित करती है।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि नेहरू की गुटनिरपेक्षता की अव्यावहारिकता ने भारत की सैन्य तैयारी की उपेक्षा की। परिणामस्वरूप चीन से पराजय झेलनी पड़ी, जिसे नेहरू ने भी संसद में स्वीकार किया। भारत का विश्व दृष्टिकोण 1962 के बाद अधिक यथार्थवादी हो गया। यद्यपि भारत का विश्व दृष्टिकोण लगातार बदल रहा है, लेकिन वह इसी निरंतरता की संरचना के अंतर्गत हो रहा है।

1.7 अभ्यास

1. भारत के परंपरागत मूल्यों के स्रोत क्या हैं? व्याख्या कीजिए कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात इन मूल्यों ने भारत के विश्व दृष्टिकोण को किस प्रकार प्रभावित किया है।
2. प्राचीन भारत की आदर्शवादी और यथार्थवादी सोच की परंपरा का विश्लेषण कीजिए। यह विवेचन कीजिए कि नेहरू किस प्रकार और कहाँ तक इन दोनों दृष्टिकोणों को अपने विश्व दृष्टिकोण में सम्मिलित करने में सफल रहे।
3. भारत की धर्मनिरपेक्षता और गुटनिरपेक्षता की नीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, और वह है सहिष्णुता की परंपरा ।' टिप्पणी कीजिए।
4. भारत के विश्व दृष्टिकोण के परंपरागत स्रोतों का विवेचन कीजिए।

इकाई–2

भारतीय विदेश नीति के अध्ययन के उपागम

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 भारतीय विदेश नीति के राजनीतिक यथार्थवाद तथा जटिल नव–यथार्थवाद उपागम

2.3 अंतर–निर्भरता (परस्पर निर्भरता) तथा जटिल अंत–निर्भरता पर विचार

2.4 नई विश्व व्यवस्था

2.5 गुटनिरपेक्षता एवं नेहरूवादी सर्वसम्मत

2.6 सारांश

2.7 अभ्यास

2.1 प्रस्तावना

भारतीय विदेश नीति से संबंधित साहित्य ने इस विषय के बारे में कई उपागम प्रस्तुत किए हैं। परंपरागत उपागम का क्षेत्र कई सिद्धांतों पर आधारित है जैसे यथार्थवाद, नव यथार्थवाद, अंतर–निर्भरता (परस्पर निर्भरता) एवं जटिल अंत–निर्भरता। यह उन उपागमों पर भी आधारित है जिनकी जड़ें आंतरिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक–राजनीतिक प्रकृति हैं, तथा जिनका केंद्र ऐतिहासिक अनुभवों और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन तथा महात्मा गांधी एवं जवाहरलाल नेहरू जैसे भारतीय नेताओं के आदर्श और आकांक्षाएँ थी। प्रारंभ में ही, हमें दो विषयों पर बल देने की आवश्यकता है। प्रथम, प्रत्येक उपागम हमें भारतीय विदेश नीति को समझने में सहायता प्रदान करता है, परंतु विभिन्न दर्शनग्राही (उदार) संदर्भ में अध्ययन करने की जरूरत है। कोई भी एक उपागम भारतीय विदेश नीति के निर्माण और संचालन की जटिलता को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त इस उपलब्ध साहित्य की एक विशेषता है, जो इस देश की मूल है। इस कारण नीति निर्माता एवं कार्यवाहक अपनी इस प्रक्रिया को किसी अनम्य सैद्धांतिक ढाँचे के अनुरूप नहीं ढाल पाए।

लेकिन यह भी सही है कि विभिन्न उपागमों के अध्ययन ने सिद्धांतों तथा आदर्शों, प्रक्रिया एवं साधनों और उन कर्ताओं एवं शक्तियों पर महत्वपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि डाली है जो देश की विदेश नीति के निर्माण एवं कार्यान्वयन के लिए उचित साधन और उद्देश्यों का गठन करते हैं।

भारतीय विदेश नीति अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रतिक्रियाओं का मिश्रण मात्र नहीं है। चाहे कोई भी कारण हो – क्षेत्र का विस्तार, जनसंख्या, अर्थव्यवस्था, नेतृत्व इत्यादि – भारत ने निरंतर स्वतंत्र एवं उत्साहपूर्वक अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रिया में अपनी क्षमता और स्थिति के अनुसार और अपने उत्तरदायित्वों से अभिज्ञ अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रक्रियाओं को प्रभावित किया है।

2.2 भारतीय विदेश नीति के राजनीतिक यथार्थवाद तथा जटिल नव यथार्थवाद उपागम

यह तर्क स्वयंसिद्ध है कि शायद अमेरिका को छोड़कर भारत की विदेश नीति के संस्थापक अथवा भारतीय युद्धनीतिज्ञों पर यथार्थवाद का अभिभावी प्रभाव रहा था। कम से कम छह अभिज्ञेय समूहों के सोपानक अर्थात् सैनिक, राजनयिक दूतवर्ग, नौकरशाही (जिसमें विदेश सेवा भी सम्मिलित है), राजनीतिक वर्ग, मीडिया एवं परिषद सदस्य से नीति विशेषज्ञ तथा विदेश नीति संगठन से वैज्ञानिकों एवं तकनीकीकर्ताओं के समुदाय भारत की विदेश नीति के निर्माण में सहायक हैं।

युद्धनीतिज्ञ समूह आपस में सम्मिलित हैं तथा राज शक्ति का व्यवहार समूह जैसे अन्य लोगों से ज्यादा उपयोग करते हैं – यद्यपि आर्थिक उदारीकरण के कारण व्यापार का प्रभाव बढ़ रहा है और यह विभिन्न सरकार–व्यापार परामर्शक प्रक्रियाओं में दिखाई पड़ता है। उक्त उल्लिखित छह अभिज्ञेय समूहों के मध्यम सोपानक भले ही प्रभाव न कर सकें, परंतु लोकप्रिय स्तर पर नीति को वैधता प्रदान करते हैं। यह आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि विदेश नीति एवं कूटनीति को विशिष्ट वर्ग ही प्रभावित करते हैं।

भारत के युद्धनीतिज्ञ राजनीतिक यथार्थवाद या साधारण यथार्थवाद की परिसीमा के अंतर्गत ही कार्य करते हैं। यह युद्धनीतिज्ञ स्वयं को दूरदर्शी, उत्तरदायी एवं अनुभवी मानते हैं। और व्यावहारिक समस्या के समाधान के लिए अभिमुखी या अनुकूल माने जाते हैं। ये युद्धनीतिज्ञ समूह तदर्थ तरीके से प्रतिक्रिया करते हैं। इसके विपरीत, ये युद्धनीतिज्ञ समूह विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने मूलभूत लक्ष्यों और साधनों से अभिज्ञ हैं।

राजनीतिक यथार्थवाद शक्ति को अंतरराज्यीय संबंधों का आधार मानता है जोकि सामान्यतः संघर्षात्मक तरीका माना गया है, जहाँ प्रत्येक राज्य स्वार्थपरक तरीके से अपने हित की प्राप्ति में लगा रहता है। नव–यथार्थवाद राजनीति की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है, लेकिन यह भी मानता है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का आधार अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था है, जोकि सिर्फ संघर्ष ही नहीं बल्कि पात्र या राज्यों के हितों के अभिसरण पर आधारित है। उक्त उल्लिखित दृष्टिकोण के

अनुसार, बाह्य राष्ट्रीय सुरक्षा तथा आंतरिक राष्ट्रीय एकता के साथ तीन प्रमुख लक्ष्य जुड़े हुए पाए गए हैं। दो अतिरिक्त लक्ष्य हैं, – तृतीय विश्व में तथा क्षेत्र के अंतर्गत नेतृत्व; एवं भारत के क्षेत्र, महत्ता और सामर्थ्य के अनुरूप राष्ट्र राज्य के समूहों के बीच एक उचित स्थान।

इस उपागम की दो मान्यताएँ हैं। प्रथम, भारत राज्य की सुरक्षा सर्वोपरि है तथा इसे राष्ट्रीय हित माना जाता है। बाकी सभी तत्व एवं लक्ष्य इस बुनियादी राष्ट्रीय हित के अधीनस्थ हैं। यह सभी राजनीतिक एवं युद्धनीतिज्ञ चिंतन एवं योजनाओं का मार्गदर्शक है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सुरक्षा की राजनीतिक–सैन्य शब्दावली में व्याख्या की गई है। यह माना जाता है कि भौतिक एवं सैन्य दृष्टिकोण से सुरक्षित राष्ट्रीय–राज्य समाज की एकता एवं कल्याण के लिए यह अत्यावश्यक है।

विदेशी प्रभुत्व एवं उपनिवेशवाद के अनुभव एवं विश्वास ने राष्ट्रीय सुरक्षा के लक्ष्य की महत्ता को और बढ़ा दिया है। यदि हम इतिहास की तरफ देखें तो एक बात स्पष्ट है। कि जब–जब भारत का राज्यतंत्र विखंडन एवं कमजोर रहा है, तब–तब देश विदेशी प्रभुत्व एवं शासन का शिकार रहा है। दूसरी मान्यता के अनुसार (जोकि प्रथम मान्यता से संबंधित है), अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था वास्तव में एक अंतर–राज्य व्यवस्था है। गैर–राज्य एवं परा–राज्य कर्ता/पात्र की उपस्थिति भी है, परंतु अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राज्य की केंद्रीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अंतराष्ट्रीय व्यवस्था के वैधानिक एवं नैतिक मानदंड का सभी देशों द्वारा पालन किया जाना चाहिए। लेकिन, अंततः विश्व को बड़ी शक्तियाँ ही गठित करती हैं, क्योंकि उन्हीं के पास शक्ति है।

यह एक विवादास्पद विषय है लेकिन शक्ति की सुस्पष्टता राज्य की शक्ति के रूप में ही व्याख्या की गई है। ऐसा कहा जाता है कि भारत संभवतः एक विश्व शक्ति है, इसीलिए उसे अपने सामर्थ्य को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए, इसकी विदेश नीति को इस आकांक्षा को प्रतिबिंबित करना चाहिए तथा इसकी उपलब्धियों को प्रोत्साहित करना चाहिए। भारत का परमाणु एवं प्रक्षेपास्त्र (मिसाइल) विकास कार्यक्रम, अंतरिक्ष अनुसंधान तथा इसकी वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियाँ, असैनिक नियंत्रण के अधीन एक विशाल और पेशेवर सुरक्षा बल, एक अति–सक्षम नौकरशाह वर्ग, एक विशाल पेशेवर एवं कुशल जनसंख्या, एक दूरदर्शी नेतृत्व एवं भारतीय लोकतंत्र ये सभी तत्व राष्ट्रीय सुरक्षा एवं बड़ी शक्ति की पदवी को हासिल करने के लिए आवश्यक माने गए हैं।

जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कुशल कूटनीति विदेश नीति की एक प्रमाण या छापी मानी गई, इंदिरा गांधी के नेतृत्व में सैन्य शक्ति का क्रमबद्ध विकास, तथा 1990 के पश्चात चतुराईपूर्वक महत्वपूर्ण शक्तियों को राजनीतिक एवं युद्धनीति संबंधित वार्ताओं में व्यस्त रखना भारतीय विदेश नीति की महत्वपूर्ण क्षमता को प्रदर्शित करता है, जो उसके बड़ी शक्ति होने का प्रमाण है।

इस प्रवृत्ति के कारण ही सभी राजनीतिक उद्घोषणाओं और विश्लेषणों में अक्सर भारत को एक बड़ी शक्ति या बड़ी शक्ति की क्षमता वाला देश माना गया है। परमाणु बम के परीक्षण एवं 1998 के बाद से प्रक्षेपास्त्र प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियों के कारण भारत को एक बड़ी शक्ति, कभी उभरती हुई शक्ति एवं कभी 'महाशक्ति' कह कर संबोधित किया जाने लगा है।

क्या किसी प्रकार का पेक्स इंडिका संभव है? स्वतंत्रता पश्चात करीब 1960 के दशक तक 'भारत के 'युद्धनीतिज्ञ समूह' ने देश को भविष्य में एक महान शक्ति बनना एक नियति माना तथा दो अन्य एशियाई शक्तियों – रूस एवं चीन – को इसका प्रतिद्वंदी माना। 1980 के दशक तक भारतीय यथार्थवादियों का महत्वाकांक्षी दृष्टिकोण था, लेकिन उन्होंने भारत की क्षेत्रीय महत्ता को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि समस्त विश्व इस तथ्य को स्वीकार कर ले। दूसरे शब्दों में, देश को दक्षिण एशिया में एक अग्रणी के रूप में प्रस्तुत करना न कि एक आधिपत्य के रूप में। सोवियत संघ के विघटन तथा शीत युद्ध के पश्चात की अनिश्चितता के वातावरण में इस दृष्टिकोण को बल मिला और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने भी भारत को एक बड़ी शक्ति के रूप में स्वीकार किया।

क्षेत्रीय अग्रणी का विचार एक सशक्त एवं उत्तरदायी अंतर्राष्ट्रीय खिलाड़ी की इच्छा के साथ संलग्न था। जटिल नव–यथार्थवाद के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में परिवर्तन के समय – जैसा कि सोवियत संघ के विघटन के समय उत्पन्न स्थिति में – मध्यवर्ती शक्तियों को उपरिमुखी गतिशीलता का अवसर मिलता है। 1990 के दशक में भारतीय विदेश नीति के अंतर्गत परमाणु अस्त्रों का सफल परीक्षण, दूर तक मार करने वाली प्रक्षेपास्त्र प्रणाली का विकास तथा अपनी सैन्य क्षमता के बल पर बड़ी शक्तियों के संघ में शामिल होने का मार्ग था।

भारतीय विदेश नीति के यथार्थवादी दृष्टिकोण में कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिनकी बार–बार पुनरावृत्ति हुई। सर्वप्रथम सर्वथा यह देखा गया कि चीन भारत का संभावित या वास्तविक सैन्य प्रतियोगी या प्रतिद्वंद्वी है। 1962 के भारत–चीन संघर्ष तथा सीमा विवाद ने इस दृष्टिकोण को बल प्रदान किया है कि दो बड़े और शक्तिशाली पड़ोसियों का प्रतिद्वंद्वी होना तय है – कम से कम समय–समय पर तो अवश्य ही। पाकिस्तान का विद्वेष तथा जम्मू और कश्मीर के ऊपर विवाद, शीत युद्ध के समय सोवियत संघ की तरफ झुकाव एवं उसके साथ 1971 की मैत्री संधि, तथा भारत–अमेरिका संबंधों के हर

एक पहलू का चीनी आयाम रहा। चीन का एक आर्थिक एवं सैन्य शक्ति के रूप में उदय का एशिया एवं प्रशांत तथा हिंद महासागर क्षेत्र की सुरक्षा में बड़ा एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा। परिणामतः क्षेत्रीय समीकरणों के असंतुलन एवं पुनःसंतुलन (बनने–बिगड़ने) से भारत की सुरक्षा और संप्रभुता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा। चीन के इस असंतुलित प्रभाव के जवाब में भारत की विशाल जनसंख्या (जिसका स्थान विश्व में द्वितीय है), बढ़ता हुआ सकल घरेलू उत्पाद तथा कुशल मानव–शक्ति एवं इसके दस लाख से भी अधिक बड़े सुरक्षा बल को हमेशा तैयार रहना होगा। 1998 के परमाणु परीक्षण से पहले का यह घोषित मत कि चीन भारत का शत्रु नंबर एक है, इसी यथार्थवादी चिंतन को प्रदर्शित करता है।

उपर्युक्त वर्णित विचार उस अंतःराज्य संबंध और भू–राजनीतिक विचार की ऐतिहासिक धारणा को व्यक्त करता है, जिसे यथार्थवादी मानते आए हैं। (कुछ यथार्थवादी यह भी मानते हैं कि ऐसा भी संभव है कि भविष्य में एक शक्तिशाली चीन और एक शक्तिशाली भारत मित्र–राष्ट्र भी बन सकते हैं।) चीन की सैन्य चुनौती का प्रतिकार एवं भारत का 'बड़ी शक्ति' के संघ में होना उसके परमाणुकरण को तर्कसंगत ठहराता है। अतः यह तर्क दिया जाता है कि भारत का परमाणु शक्ति होने का निर्णय उसके पाकिस्तान के संबंधों से स्वतंत्र है। प्रतियोगी सुरक्षा उपागम का एक कथन कि हमारे प्रतिद्वंद्वी की असुरक्षा में ही हमारी सुरक्षा है', यथार्थवादियों द्वारा कुछ समय तक प्रोत्साहित किया गया। पाकिस्तान के साथ संबंधों में भारत की विदेश नीति के योजक एवं विश्लेषकों का पर्याप्त समय और ऊर्जा लगा है। एक स्थायी, सुरक्षित एवं लोकतांत्रिक पाकिस्तान भारत के राष्ट्रीय हित में है, न कि एक उद्धत राष्ट्रवादी, निरंकुश और भारत से वैर रखने वाला पाकिस्तान भारत–पाक संबंधों में कई समस्याएँ पाई गई हैं। पाकिस्तान के पश्चिम गुट के साथ संबंधों ने शीत युद्ध को भारत की दहलीज पर लाकर खड़ा कर दिया। इन संबंधों द्वारा उत्पन्न समाप्ति के भय को दूर करने के लिए भारत में एक अत्यंत कुशल कूटनीति का सहारा लिया। पश्चिमी देशों, विशेष तौर पर अमेरिका ने पाकिस्तान को अपने अंतर्राष्ट्रीय सैन्य हितों के दृष्टिकोण से देखा है। प्रथम, उसे सोवियत विस्तार के विरुद्ध एक बचाव के रूप में देखा गया तथा सोवियत संघ द्वारा अरब सागर/हिंद महासागर की उष्ण जल की खोज ने पाकिस्तान को शीत युद्ध के दौरान अमेरिका द्वारा अग्रिम पंक्ति का देश घोषित किया गया। 1978 में सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में हस्तक्षेप ने पाकिस्तान को पुनः एक अग्रिम पंक्ति का देश बना दिया – इस समय पूर्व एवं पश्चिम के इस महायुद्ध में पाकिस्तान को एक माध्यम के रूप में मुजाहिदीनों को धन एवं हथियार देने के लिए प्रयोग किया गया। 11 सितंबर, 2001 को अमेरिका में हुए आतंकवादी हमले के फलस्वरूप पाकिस्तान पुनः अग्रिम पंक्ति का देश बन गया और इस बार अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद से लड़ने के लिए। इसके अतिरिक्त, पश्चिमी देश मध्य एशियाई क्षेत्र के खनिज तथा प्राकृतिक गैस के उपयोग के लिए पाकिस्तान को एक प्रवेश–द्वार मानते हैं। भारतीय विदेश एवं सुरक्षा नीति निर्माताओं ने शायद कभी भी इस धारणा पर गौर नहीं किया कि अमेरिकी शक्ति का ह्रास हो सकता है, जो कि शीत युद्ध के दौरान नव–यथार्थवादियों के बीच प्रचलित था।

एक अन्य चिंता का विषय है – 'चीन–पाकिस्तान धुरी' पाकिस्तान चीन का उस समय से सबसे भरोसे का साथी है, जब चीन अंतर्राष्ट्रीय मसलों में अलग–थलग पड़ गया था। चीन का पाकिस्तान को गुप्त रूप से उसके परमाणु एवं प्रक्षेपास्त्र विकास कार्यक्रम में मदद देना, उनके भारत–विरोधी रिश्ते को दिखाता है। कुछ बाहरी शक्तियों और दबाव का उद्देश्य भारत और पाकिस्तान के बीच सैन्य समानता लाना है, जोकि भारतीय विदेश नीति निर्माताओं एवं नेतृत्व के लिए चिंता का विषय है। भारत क्षेत्र, जनसंख्या, सकल घरेलू उत्पाद, सैनिक क्षमता आदि में पाकिस्तान से कई गुना बड़ा है। पाकिस्तान से सैन्य समानता की यह बाहरी विचारधारा, उसके बड़ी शक्ति होने के भारत के दावे पर रूकावट खड़ी करती है। अंतर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय शक्तियों का अभिमुख होना तथा जम्मू और कश्मीर विवाद ने भारत–पाकिस्तान संबंधों को कटु बना दिया है। यथार्थवादियों का कहना है कि पाकिस्तान के साथ विरोध राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकारक है। पाकिस्तान भारत की सीमा–पार से जम्मू–कश्मीर एवं पूर्वोत्तर राज्यों में आतंकवादियों को मदद करना जैसी कई घरेलू समस्याओं का स्रोत है।

2.3 अंतर–निर्भरता (परस्पर निर्भरता) तथा जटिल अंतर–निर्भरता पर विचार

एक प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार भारत के घरेलू कारक तथा विदेश नीति प्राथमिकताओं के बीच गहरा संबंध है। राजनीतिक–सैनिक सुरक्षा से संबंधित संकीर्ण तथा सामान्य धारणा न सिर्फ गतिहीन है, बल्कि पुरानी भी है। 1990 के दशक में अधिकतर लेखों में यह कहा गया है कि भारत की विदेश नीति राजनीतिक अस्थिरता एवं विचारधारा की इस अनिश्चितता से गुजर रही है कि बाह्य संबंधों का मूलभूत लक्ष्य तथा उचित साधन कैसा होगा।

एक बात जिसे लगातार महसूस किया जा रहा है, वह यह है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था, अंतर–राज्य व्यवस्था से कहीं अधिक है क्योंकि इसमें विभिन्न प्रकार के गैर–राज्य एवं परा–राज्य कर्ता/पात्र और संबंध शामिल हैं। इसके अंतर्गत परा–राष्ट्रीय निगम और गैर सरकारी संगठनों, अंतर्राष्ट्रीय गैर–सरकारी संगठनों और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के समूह आते हैं। संक्षेप में, यह अखंडनीय है कि जो नीति निर्माण को प्रभावित करते हैं या जिनका हित इसमें सम्मिलित हो, ऐसे सामाजिक पात्र एवं गैर–सरकारी पात्र, घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय दोनों हैं।

इसके अतिरिक्त यह कहा जा सकता है कि सैनिक–राजनीतिक सुरक्षा किसी भी देश की सुरक्षा का सिर्फ एक पहलू है, तथा यह परिभाषा सिर्फ संकीर्ण ही नहीं बल्कि गतिहीन भी है। पर्यावरण प्रदूषण, सीमा–पार विस्थापन, अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद का जाल, अपराध तथा गैर–कानूनी तरीके से पूँजी का हस्तांतरण तथा दक्षिण के देशों में बढ़ती गरीबी एवं उत्तर व दक्षिण के बीच बढ़ता आमदनी का अंतर जैसे कुछ विषय पर्यावरण, आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा व संप्रभुता से संबंधित है। महाशक्तियाँ (जोकि अंतर्राष्ट्रीय संबंध की दिशा को प्रभावित करने में सक्षम हैं) भी समस्त विश्व की उस चुनौती का सामना कर रही हैं, जो अत्यधिक अंतर–निर्भरता व बहु–ध्रुवीय हैं। नई चुनौतियों का सामना करने के लिए नए तरीके के अंतर–राज्य सहयोग तथा परा–राज्य गतिविधियों की आवश्यकता है।

शीत युद्ध के पश्चात तथा तेजी से हो रहे आर्थिक एकीकरण से अंतर्राष्ट्रीय संबंध अंतर निर्भर हो गए हैं। पश्चिम के विकसित देशों तथा दक्षिण के विकासशील देशों के बीच बढ़ते हुए सामाजिक एवं आर्थिक तथा सभी विकासशील देशों के अंतर्गत विशिष्ट वर्ग एवं गरीबों की विशाल जनसंख्या के बीच बढ़ता हुआ अंतर या विकासशील देशों में जनसंख्या विस्फोट तथा सीमा–पार एवं अंदर विस्थापन और विश्व–व्यापी पर्यावरण प्रदूषण आदि समस्याओं पर यथार्थवादी विचार नहीं करते हैं। इन समस्याओं के कारण यथार्थवादियों द्वारा प्रतिपादित सुरक्षा से संबंधित दृष्टिकोण का पतन हो रहा है तथा यह पुराना भी हो चुका है।

अंतर–निर्भरता आर्थिक वैश्वीकरण के पहलुओं को रेखांकित करता है, अर्थात् परा–राष्ट्रीय आर्थिक कर्ता/प्रतिनिधि, प्रक्रिया एवं संस्थाओं का उदय। ये परा–राष्ट्रीय निकाय हैं – विश्व व्यापार संगठन, विश्व मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा जी–7 के देश। वित्त का विस्तार एवं ढाँचा, तकनीकी नियंत्रण व्यवस्था, विकसित देशों के बाज़ार में प्रवेश के लिए या ऋण तथा सहायता के लिए बढ़ती हुई राजनीतिक एवं सामाजिक शर्तें लादना, औद्योगिक देशों – विशेष तौर पर अमेरिका – द्वारा विकासशील देशों पर विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) के मसले पर सामूहिक दबाव डालना ताकि वे अपनी कृषि, औद्योगिक, सेवा एवं आर्थिक क्षेत्र को विश्व वित्तीय एवं आर्थिक कर्ताओं/पात्रों के लिए खोल दे आदि, जिससे आर्थिक संप्रभुता का अर्थ ही पुराना पड़ जाए। कई सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली देशों को भी आर्थिक मंदी का सामना करना पड़ा तथा 1990 के दशक में तो कई देशों का पतन भी हो गया। भारतीय विदेश नीति की एक मुख्य चुनौती यह है कि वह इन उभरते हुए अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थागत ढाँचों में किस प्रकार हस्तक्षेप करे। दूसरे शब्दों में, भारत की विदेश नीति वर्तमान तथा भविष्य में आर्थिक मामलों में काफी प्रभावित रहेगी। प्रश्न यह उठता है कि विश्व अर्थव्यवस्था में भारत का क्या स्थान रहेगा? यह प्रश्न शायद भारत के महाशक्ति बनने की स्थिति के लक्ष्य से ज्यादा महत्वपूर्ण है। भू–अर्थशास्त्र ने भू–राजनीति पर वरीयता या श्रेष्ठता प्राप्त कर ली है। आज राष्ट्रीय सुरक्षा नागरिकों की समृद्धि तथा रहन–सहन के स्तर से जुड़ी है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार, भारत को स्वयं को यथार्थवादी ढाँचे से तथा उसके पश्चात बड़ी शक्ति की स्थिति से मुक्त करना होगा। सर्वप्रथम, इस अंतःनिर्भर विश्व में महाशक्तियाँ भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रक्रिया को निर्णायक ढंग से प्रभावित नही कर सकती हैं। यह कथन इस समय विश्व की एकमात्र महाशक्ति मानी जाने वाले अमेरिका पर भी चरितार्थ होता है जिसने शीत युद्ध के दौरान न कि शीत युद्ध के पश्चात ज्यादा प्रभावित किया। इंग्लैंड, फ्रांस एवं संभवतः जर्मनी एवं जापान जैसी अन्य बड़ी शक्तियों का प्रभाव और भी कम है। जटिल अंतःनिर्भर विश्व में शक्ति एवं प्रभाव का अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अंतर्गत विस्तार हुआ है जोकि बहु–ध्रुवता तथा शक्तियों के सामंजस्य के उदय का समर्थन करता है। इन शक्तियों में भारत भी शामिल है। यह आवश्यक है कि भारत उन अवसरों का विवेकपूर्ण तरीके से लाभ उठाए, जिन्हें वैश्वीकरण ने प्रदान किया है। भारत को अपने आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए समान विचार वाले देशों के साथ गठबंधन करना चाहिए।

भारत के यथार्थवादियों ने चीन को एक संभावित बड़ी शक्ति या भविष्य की महाशक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। यह सलाह भी दी गई है कि भारत को चीन के साथ आर्थिक गठबंधन करके लाभ उठाना चाहिए तथा व्यावहारिक तरीके से आदान–प्रदान की प्रक्रिया से सीमा–विवाद को सुलझाना चाहिए। आज के समय में यह जरूरी नहीं है कि भौगोलिक निकटता एक प्राकृतिक तौर पर प्रतिद्वंद्विता के संबंध उत्पन्न करे। इसके विपरीत, यह परा–सीमा व्यापार, निवेश तथा संयुक्त उत्पादन व्यवस्था की शुरुआत हो सकती है। चीन तथा भारत के बीच का व्यापार भू–अर्थशास्त्र के सिद्धांत को सही ठहराता है।

आलोचकों का मानना है कि क्षेत्रीय अग्रता की यथार्थवादी धारणा ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। इसके स्थान पर भारतीय विदेश नीति को दक्षिण एशिया में आर्थिक सहयोग पर ध्यान देना चाहिए। सामान्यतः दक्षिण एशिया केंद्रित विदेश नीति के दो पहलुओं पर बल दिया गया है। कम तथा मध्यम अवधि के लिए पाकिस्तान के साथ रिश्तों में तनाव घटाने के तरीके पर बल दिया गया है जिससे धीरे–धीरे संबंधों में बदलाव आ जाए। भारत को पाकिस्तान के साथ शांति अभियान शुरू करना चाहिए, जैसे विश्वास निर्माण की दिशा में कदम, परमाणु तथा उससे संबंधित मुद्दों की जाँच के लिए पारस्परिक व्यवस्था करना, नागरिक समाज का अधिकतम मिलना–जुलना आदि। दूसरे, इस धारणा के अनुसार भारत को

दक्षिण एशिया में आर्थिक सहयोग के लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। एक सशक्त दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन 'सार्क' के अभाव में अन्य क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों – जैसे एशिया–प्रशांत आर्थिक सम्मेलन (एपेक) अथवा दक्षिण अमेरिकी सामान्य बाज़ार (मरकोसूर) – आदि के साथ आर्थिक कूटनीति का एक सीमित लाभ मिलेगा, और भारत को स्वयं को भी भविष्य में क्षेत्रीय प्रमुखता का मौका मिलेगा। क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग अंततः दक्षिण एशिया में एक राजनीतिक समुदाय के गठन के एक साधन के रूप में देखा गया है, जोकि एक लंबे समय में इस क्षेत्र से अन्य बाह्य शक्तियों को दूर रखने के लिए आवश्यक है। एक जटिल दक्षिण एशिया केंद्रित नीति के द्वारा ही अशांत अंतःराज्य संबंधों का एक स्थायी एवं संतोषजनक हल निकल सकता है – चाहे वह कश्मीर में अलगाववाद का मुद्दा हो, सीमा–पार आतंकवाद, बांग्लादेशी घुसपैठिये या शरणार्थी हों, या श्रीलंका में तमिल का मुद्दा हो।

अंतःनिर्भरता एक भिन्न प्रकार की व्यावहारिकता की बात करती है, जोकि व्यापार एवं आर्थिक सहयोग पर केंद्रित है। परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट हैं। उदाहरण के तौर पर, विदेश आर्थिक नीतियों में वित्त मंत्री का योगदान बढ़ गया है, जबकि विदेश मंत्रालय, विशेषकर विदेशों में भारतीय दूतावासों का योगदान सहूलियत प्रदान करने का रह गया है। घरेलू क्षेत्रों में विदेश नीति का प्रभाव तथा निगम क्षेत्र की भूमिका बढ़ गई है। सरकार भले ही नीतियों का निर्माण करती है, परंतु निगम ही उसे कार्यान्वित करते हैं। यह एक विवादास्पद विषय है कि क्या भारत के निगम क्षेत्र 'युद्धनीति समुदाय के एक प्रभावशाली सदस्य बन सके हैं? यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपर्युक्त विश्लेषण यथार्थवादी दृष्टिकोण का एक भाग है, जोकि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में परिवर्तन को स्वीकार करता है। भारत की नीति है कि वैश्वीकरण की तरफ पूरी तरह से बढ़े बिना ही राष्ट्रीय हित एवं सुरक्षा के परंपरागत राजनीतिक–सैन्य आयाम को छोड़े बिना ही, किसी तरह आगे बढ़ते जाना।

2.4 नई विश्व व्यवस्था

धनी एवं गरीब तथा कमज़ोर और शक्तिशाली के बीच अंतःनिर्भरता एक विषम संबंध को जन्म देती है। यह गरीब एवं कमजोर को धनी एवं शक्तिशाली के ऊपर निर्भर करती है। वैश्वीकरण का अर्थ, अन्य बातों के अलावा, यह भी है कि नीति निर्माण का केंद्र राष्ट्रीय संप्रभुता के नियंत्रण से स्थानांतरित हो रहा है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में घटती हुई स्वायत्तता का अर्थ है – नीति निर्माण शक्ति का ह्रास सिर्फ आर्थिक ही नही बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी हुआ है। चाहे वह निवेश से संबंधित नीतियाँ हों, प्रौद्योगिकी का आयात या विदेशी ऋण हो, उनके साथ शर्तें जुड़ी होती हैं। ये शर्तें सिर्फ आर्थिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक एवं सामाजिक–लोकतांत्रिक व्यवस्था को भी क्षति पहुँचाती हैं। इससे सरकार न सिर्फ शक्तिहीन बल्कि अलोकप्रिय और असंवैधानिक बनकर रह जाती है। इसके साथ–साथ इसके परिणाम सामाजिक सामंजस्य एवं स्थायित्व के लिए भी हानिकारक हैं। आंतरिक तरीके से सर्वसम्मति होना तथा विचारधारा की पसंद या वरीयता को त्याग कर प्रत्येक देश ने आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय मान्यता–प्राप्त नियमों को अपनाया है। लोगों का आत्म–विश्वास तथा आत्म–ज्ञान का ह्रास हो रहा है तथा इसका स्थान कटुता एवं असंतोष ले रहा है। इससे उग्र राष्ट्रीयता एवं रूढ़िवाद बढ़ रहा है। भारत की घरेलू अर्थव्यवस्था एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी अमेरिका तथा अन्य बड़ी शक्तियों का दबाव एवं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष/विश्व बैंक का हस्तक्षेप बढ़ रहा है।

इस नई प्राधान्य विश्व–व्यवस्था का सर्वप्रमुख आयाम है – वैश्वीकरण इसे अमेरिकी नेतृत्व में पश्चिमी देश भारत सहित दक्षिण के देशों के ऊपर थोप रहे हैं। इसका एक महत्वपूर्ण नतीजा है कि भारतीय विदेश नीति से नेहरूवादी दृष्टिकोण का ह्रास हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भारत का स्थान न सिर्फ संकुचित हुआ है बल्कि गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति में उसके कार्य की स्वायत्तता एवं नैतिक दृष्टिकोण का भी पतन हुआ है। अमेरिकी नेतृत्व द्वारा प्रचलित नई विश्व व्यवस्था के सिद्धांत ने दक्षिण के देशों की राष्ट्र–राज्य की धारणा को खतरे में डाल दिया है। कई राज्यों का विघटन हुआ है, और कई दूसरों में वहाँ की जनता की रक्षा एवं कल्याण के नाम पर हस्तक्षेप किया गया है। नई विश्व व्यवस्था ने परिश्रमपूर्वक सर्वसम्मति से तैयार की गई एक स्वतंत्र विदेश नीति, राष्ट्रीय सुरक्षा, राष्ट्रीय एकता एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था को संकट में डाल दिया है।

आलोचकों ने भारत को नई विश्व व्यवस्था से खतरा बताते हुए आगाह किया है और चेतावनी भी दी है कि कहीं राष्ट्रीय लक्ष्य एवं आकांक्षाएँ, अमेरिकी एकपक्षीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की शर्तों की बंधक बन कर न रह जाएँ।

2.5 गुटनिरपेक्षता एवं नेहरूवादी सर्वसम्मत

काफी समय के लिए, विशेष तौर पर नेहरूवादी समय में, गुटनिरपेक्षता भारतीय विदेश नीति के अध्ययन का एक मुख्य दृष्टिकोण था। भारत में कभी भी विश्व का दृष्टिकोण एवं वहाँ उसका स्थान इतना सशक्त नही रहा जितना कि वह गुटनिरपेक्षता के स्वर्णकाल के दिनों में 1950 एवं 1960 के दशकों में था। 1970 के दशक तक भारतीय विदेश नीति का लक्ष्य एवं साधन सामंजस्य के बजाए संसक्त था, जब नेहरूवादी सहमति का पतन हुआ क्योंकि भारतीय विदेश नीति अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर उच्च नैतिकता का पालन करती थी, तथा 1962 के चीनी आक्रमण के कारण गुटनिरपेक्षता भारतीय सुरक्षा को निश्चित करने में असक्षम रही, और भारत की बड़ी शक्ति की महत्वाकांक्षा को धक्का लगा। यद्यपि यह

अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि तृतीय विश्व एकता, जो गुटनिरपेक्षता का आधार था, आज भी भारतीय विदेश नीति को महत्वपूर्ण तरीके से प्रभावित करती रही है।

नेहरूवादी सर्वसम्मत भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के काल में विकसित आदर्शों एवं सिद्धांतों पर आधारित था। राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी का गहरा प्रभाव था। हम लोगों ने जो संघर्ष किया, वह राजनीतिक स्वतंत्रता मात्र नहीं था बल्कि भारतीय सभ्यता का सांस्कृतिक एवं नैतिक उदय था। नेहरू ने दो विश्व युद्धों के मध्य की अंतर्राष्ट्रीय संबंध की व्याख्या करने के लिए गांधीवादी नैतिक और सामाजिक आवश्यकताओं का संयोजन किया। नेहरू ने यह स्थापित किया कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के दो प्रमुख प्रतिमान हैं । शक्ति की राजनीति; एवं बल प्रयोग का भय। इन प्रतिमानों के कारण ही प्रथम विश्व युद्ध भड़का, राष्ट्र संघ की विफलता हुई, फासीवाद का उदय हुआ तथा सह–बंधन की राजनीति एवं उसके विपरीत सह–बंधन के कारण ही द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत हुई। नेहरू को इस बात का ज्ञान था कि अमेरिका और सोवियत संघ के बीच की प्रतिद्वंद्विता का कारण भी यही प्रतिमान है।

यह शोधकर्ताओं के बीच तर्क का विषय है कि नेहरू आदर्शवादी थे तथा उन्होंने भारतीय विदेश नीति को कुछ आदर्शों पर आधारित करना चाहा, अथवा यथार्थवादी थे जो कूटनीति के सहारे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की शक्ति की राजनीति का निवारण चाहते थे। भारतीय विदेश नीति को गुटनिरपेक्षता के सिद्धांतों पर आधारित कर नेहरू अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में नियामक परिवर्तन लाना चाहते थे, तथा उसके पश्चात भारत के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करना चाहते थे।

उन्होंने इन लक्ष्यों की पूर्ति कैसे की? प्रथम, गुटनिरपेक्षता एशिया एवं अफ्रीका के नवोदित देशों की स्वतंत्रता और कार्यों में स्वतंत्रता पर आधारित थी। इस प्रकार, नेहरूवादी विदेश नीति संप्रभु राष्ट्र–राज्य को अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एक इकाई मानती है। द्वितीय, नेहरू संघर्ष (जो शक्ति की राजनीति पर आधारित है) के विपरीत अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अंतःराज्य सहयोग को प्रोत्साहित करना चाहते थे। यह आदर्शवाद एवं कठोर राष्ट्रीय हित का मिश्रण था जो उनके संरक्षण में भारतीय विदेश नीति के कम से कम तीन महत्वपूर्ण मामलों में दिखाई पड़ता है। गुटनिरपेक्षता उस संकट की प्रतिक्रिया थी जो अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में दो महाशक्तियों द्वारा उत्पन्न की गई थी, जिनके पास परमाणु हथियार थे तथा जो विश्व के कमजोर देशों को अपने अधीन एवं नियंत्रण में रखना चाहते थे। इस प्रकार, महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा पश्चिम से बाहर भी फैलने लगी तथा इसके अंतर्गत विकासशील देश भी आ गए, जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था संकट में पड़ गई। दूसरे शब्दों में, शीत युद्ध के कारण सर्वव्यापक लोकतांत्रिक अंतर्राष्ट्रीय समाज का पतन होने लगा। गुटनिरपेक्षता वह सैद्धांतिक और एक दूरदर्शी कदम था जो गुट की राजनीति द्वारा तेजी से हो रहे अंतर्राष्ट्रीय लोक स्थान के ह्रास के विरुद्ध स्वायत्तता के लिए स्थान का विस्तार एवं सुरक्षा चाहता था। नेहरू एक अनुभूतिक्षम यथार्थवादी थे जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संबंध की दिशा को पहचान लिया था तथा भारत एवं अन्य संघर्षरत उपनिवेशों को 1946 से ही द्विध्रुविता के खतरों के विरुद्ध प्रेरित किया।

भारतीय विदेश नीति के नेहरूवादी दृष्टिकोण की यह आलोचना की जाती है. कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े मामलों को महत्व नहीं देता है। परंतु गुटनिरपेक्ष दृष्टिकोण के समर्थकों का कहना है कि विदेश नीति के निर्माण की स्वायत्तता पर बल देकर तथा शीत पद के प्रसार को रोक कर राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न को हल किया गया है। भारत के पाकिस्तान के साथ संबंधों ने इस बात की पुष्टि कर दी कि गुटनिरपेक्षता आदर्शवाद से कहीं बढ़ कर थी। गुटनिरपेक्षता ने पश्चिम की तरफ से मिले अवसरों से अपने को दूर नहीं किया था, भारत के विरुद्ध सोवियत–चीन धुरी के निर्माण को हतोत्साहित किया (जो 1957 तक अच्छे मित्र थे), तथा कश्मीर के मसले पर भारत एवं पाकिस्तान के रिश्ते को अक्षुण्ण रखा जबकि पाकिस्तान पश्चिमी गठबंधन का सदस्य था। चीन द्वारा भारतीय सुरक्षा की चुनौती का सामना भी नेहरू ने इसी कूटनीति से किया। प्रथम, पंचशील एवं हिंदी–चीनी भाई–भाई एवं इसके बाद बुशचेव के समय सोवियत संघ से निकट संबंध स्थापित करके (जिसने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को अपना स्वाभाविक मित्र' कहकर स्वीकार कर लिया)। चीन से युद्ध में हार के बावजूद कुशल कूटनीति पर विश्वास रहा ताकि भारत एक महत्वपूर्ण शक्ति रहे और इसी समय अंतर्राष्ट्रीय संबंध को शक्ति की राजनीति से दूर रखना, नेहरू के कार्यकाल में भारतीय विदेश नीति की पहचान है।

आज बदले हुए परिवेश में नेहरूवादी सहमति की प्रासंगिकता पर सवाल उठ रहे हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सैन्य बल से ज्यादा कुशल कूटनीति पर आश्रय आज ज्यादा प्रासंगिक हो गया है क्योंकि अब भारत सभी शक्तियों के साथ अनुकुल संबंध एवं आर्थिक सहयोग बढ़ाना चाहता है। यह उस दृष्टिकोण के विपरीत है जो यह कहता है कि 'नेहरूवादी सहमति' पुराना सिद्धांत हो चुका है तथा उसका परित्याग कर दिया गया है। कुछ हद तक वह अंतर्राष्ट्रीय लोक स्थान, जिसने कि नेहरू तथा गुटनिरपेक्ष आंदोलन को कार्य करने की स्वायत्तता दी, का ह्रास हो रहा है। इसके अतिरिक्त, गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने स्वयं ही आंतरिक सामंजस्य एवं एकता को खो दिया, अतः उसकी प्रासंगिकता पर सवाल उठ खड़े हुए हैं।

गुटनिरपेक्ष विदेश नीति को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के बृहत सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक प्रसंग में रखकर, विश्लेषकों ने भारत की विदेश नीति के कार्यान्वयन एवं चिंतन में नेहरू के व्यक्तिगत प्रभाव को जोशीली श्रद्धांजलि दी है। नेहरू

अंतर्राष्ट्रीय मामलों के उत्सुक प्रेक्षक थे तथा उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में अंतर्राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर अपने दृष्टिकोण एवं विचार के प्रतिपादन में महत्वपूर्ण समय व्यतीत किया। वह स्वयं विदेश मंत्री भी थे। उन्होंने प्रधानमंत्री के पद पर बने रहते हुए भारतीय विदेश नीति का निर्माण किया तथा सरदार पटेल, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डॉ.राधाकृष्णन एवं वी.के.कृष्ण मेनन जैसे अपने बहुत करीबी मंत्रियों तथा गोपालस्वामी अयंगर, सर वी.एन. राव, सर गिरिजा शंकर बाजपेयी एवं भारत के प्रथम विदेश सचिव के.पी.एस. मेनन–सीनियर सरीखे अधिकारियों से सलाह लेते थे। नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल के शुरू में सांस्थानिक एवं संरचनात्मक नीति निर्माण प्रक्रियाएँ या तो कमजोर थीं, या उनका अभाव था। भारत के पूर्व विदेश सचिव जे.एन.दीक्षित के अनुसार 'नेहरू राष्ट्रीय महत्व एवं हितों को समझते थे, नीतियों एवं विकल्पों की परिकल्पना कर सकते थे, तथा विदेश नीति से संबंधित किसी भी पहलू पर कोई नीति या कार्यवाही शुरू करते थे। विदेश मंत्रालय में उन्हें सभी नीतियों एवं प्राथमिकताओं पर अबाधित राष्ट्रीय सहमति का समर्थन प्राप्त था।' वे भारतीय विदेश नीति के महत्वपूर्ण पक्षों पर मंत्रिपरिषद, संसद, राजनीतिक दल एवं जनमत को साथ लेकर चलने में सक्षम थे।

2.6 सारांश

भारतीय विदेश नीति विभिन्न प्रभावों, तत्वों, लक्ष्यों तथा प्रक्रियाओं का मिश्रण है। इसी कारण भारत की विदेश नीति के अध्ययन के लिए कोई एक निश्चित सैद्धांतिक उपागम नही है। भारत की विदेश नीति के अध्ययन के लिए सबसे उपयुक्त विभिन्न दर्शनग्राही उदार उपागम है। भारतीय विदेश नीति की रचना/लेखन में एक देशी विशेषता झलकती है। ये लेखन भी विभिन्न दबाव एवं तत्वों – घरेलु तथा अंतर्राष्ट्रीय – का जवाब देते रहे हैं। राजनेता, नीति निर्धारक एवं कर्ता भी अपने विचारों और प्रक्रियाओं को किसी एक सैद्धांतिक ढाँचे में नहीं रख सकते हैं।

यद्यपि विभिन्न उपागमों के अध्ययन से उन सिद्धांतों एवं आदर्शों, प्रक्रियाओं और साधनों, पात्र और उन दबावों का पता चलता है जो विदेश नीति के लक्ष्यों एवं उचित साधनों के लिए ज़रूरी है। अतः भारतीय विदेश नीति के उपागमों की विषय–वस्तु के अध्ययन का यही उद्देश्य है।

2.7 अभ्यास

1. भारतीय विदेश नीति के यथार्थवादी दृष्टिकोण का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. 'नेहरूवादी सर्वसम्मत' से आप क्या समझते हैं?
3. भारतीय विदेश नीति के अध्ययन में यथार्थवादी और अंतःनिर्भरता उपागमों में मुख्य अंतरों को स्पष्ट कीजिए।

इकाई–3
उद्देश्य और निर्धारक

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 भारत की विदेश नीति : उद्देश्य और सिद्धांत

3.3 भारतीय विदेश नीति के निर्धारिक

- 3.3.1 भूगोल
- 3.3.2 इतिहास एवं परंपरा
- 3.3.3 आर्थिक दशा
- 3.3.4 नेतृत्व का स्वरूप
- 3.3.5 घरेलू वातावरण
- 3.3.6 अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति

3.4 सारांश

3.5 अभ्यास

3.1 प्रस्तावना

किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति शून्य में उत्पन्न नही होती है। उस राष्ट्र का इतिहास और संस्कृति, राजनीतिक व्यवस्था एवं अन्य तत्व उसे दिशा और स्वरूप प्रदान करते हैं। उनमें से कुछ तत्व (जैसे भूगोल एवं प्राकृतिक सीमाएँ) तो यथावत रहते हैं, जबकि अन्य (जैसे आंतरिक और बाह्य पर्यावरण) कई बार तो बिना जाने ही परिवर्तित हो जाते हैं। किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति की निरंतरता और परिवर्तन के तत्वों की इन्हीं कारकों एवं शक्तियों के संदर्भ में व्याख्या की जा सकती है। यह जरूरी नही है कि राष्ट्र की विदेश नीति के निर्धारक तत्वों के प्रभाव संपूर्ण समय और काल के विस्तार में एकरूप ही हों। यह स्थान और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता है। इस इकाई का उद्देश्य भारतीय विदेश नीति के मुख्य निर्धारकों को उसके उद्देश्य और सिद्धांतों के संदर्भ में खोजना तथा मूल्यांकन करना है।

3.2 भारत की विदेश नीति : उद्देश्य और सिद्धांत

कोई भी क्रिया तभी उत्पादक होती है जब उसे कोई लक्ष्य और उद्देश्य मार्गदर्शित करे। भारत की विदेश नीति के साथ भी ऐसा ही है। बिना इन उद्देश्यों के ज्ञान के इन नीतियों की दशा का मूल्यांकन करना सरल नह है। भारत के नेताओं ने, स्वतंत्रता के समय से ही इन उद्देश्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसके अलावा, कई विश्लेषक एवं शोधकर्ताओं ने अपने लेखन एवं विश्लेषणों से इन उद्देश्यों का मूल्यांकन किया है।

भारतीय विदेश नीति का मुख्यतः लक्ष्य राजनीतिक स्वतंत्रता एवं बाह्य सुरक्षा को प्रोत्साहित करने के संदर्भ में राष्ट्रीय हित की रक्षा एवं उसे बढ़ावा देना है। भारत जैसा राष्ट्र जिसने औपनिवेशिक शासन से स्वयं को स्वतंत्र किया हो, स्वभावतः ऐसी विदेश नीति का पालन करेगा जिससे उसे अपने स्वतंत्र राष्ट्र के अस्तित्व के साथ समझौता न करना पड़े अथवा किसी अन्य राष्ट्र को यह अवसर न मिले कि वह इसके व्यवहार को निर्देशित कर सके। एक सफल विदेश नीति के सहयोग से भारत किसी भी विदेशी आक्रमण को रोक सकता है या प्रतिरोध कर सकता है। भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को समस्त विश्व की सुरक्षा के संयुक्त रूप से कार्य करने की इच्छा के विस्तृत एवं विवेकशील पृष्ठपट पर रखा गया है। दूसरे शब्दों में, भारत कभी भी यह नही चाहता कि उसकी सुरक्षा से दूसरे राष्ट्र स्वयं को असुरक्षित महसूस करें। भारत ने हमेशा से ही सभी राष्ट्रों के साथ मित्रतापूर्वक संबंध रखने चाहे हैं, विशेष रूप से बड़े देशों और पड़ोसी देशों के साथ। संक्षेप में, भारतीय विदेश नीति विश्व शांति को प्रोत्साहित करती है, बीसवीं सदी के शुरू के दो विश्व युद्ध जैसे भयावह युद्धों से बचने के लिए कार्य करती है। भारत उन सभी बड़े राष्ट्रों में शांति और सहयोग को प्रोत्साहित करना चाहता है, जिनके बीच राजनीतिक, विचारधारा और अन्य मतभेद हैं।

भारत जोकि स्वयं औपनिवेशक शासन से पीड़ित रहा है और लंबे अहिंसक संघर्ष के पश्चात आज़ाद हुआ, की विदेश नीति उपनिवेशवाद को खत्म करने के लिए वचनबद्ध है। तदनुसार, भारत ने अफ्रीका और एशिया की जनता के राष्ट्रीय संघर्ष का समर्थन किया है। इस लक्ष्य के विस्तार के क्रम में भारत की यह इच्छा रही है कि उसकी विदेश नीति बिना किसी भेदभाव के, सभी लोगों और राष्ट्रों के समान अधिकार की प्राप्ति के लिए वचनबद्ध रहे। इसलिए भारत, दक्षिण अफ्रीका में रंग–भेद जैसी घृणित नीति का विरोध करता रहा है। भारत ने प्रयत्न किया है कि भारतीय मूल के नागरिकों, चाहे वे जहाँ भी हों, की समानता के अधिकार की रक्षा कानून के अंतर्गत हो।

शोषित राष्ट्र और उसकी जनता के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना, भारतीय विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है। इसकी प्राप्ति के लिए भारतीय विदेश नीति ने हमेशा औद्योगिक रूप से विकसित राष्ट्रों से हितकारी संबंध विकसित करने चाहे हैं ताकि महत्वपूर्ण मदद की प्राप्ति हो सके। भारतीय नीति का लक्ष्य सिर्फ स्वयं के विकास की जरूरतों को पूरा करना ही नहीं है, बल्कि तृतीय विश्व के नव–स्वाधीन (नवोदित) उन गरीब राष्ट्रों के लिए भी है जिन्होंने हाल ही में स्वाधीनता पाई हो। भारतीय विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य यह है कि एक न्यायसंगत आर्थिक एवं सामाजिक विश्व–व्यवस्था की स्थापना हो जोकि विश्व से बीमारी और वंचन को समाप्त करने में सहायक हो।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि कुछ प्रशंसनीय सिद्धांत भारत को ऐसी विदेश नीति के लक्ष्यों का अनुसरण करने के लिए निर्देशित करते हैं। अब हम इन सिद्धांतों पर विचार करते हैं। भारत दूसरे राष्ट्रों के साथ मतभेदों को सुलझाने के लिए बल प्रयोग से दूर रहने के सिद्धांत पर अटल रहा है। वास्तव में भारत, राष्ट्रों के बीच तनाव को कम करने और मतभेदों को कम करने के लिए बातचीत, वार्ता, समझौता एवं कूटनीति जैसे शांतिपूर्ण तरीकों को बढ़ावा देता है। विश्व की विभिन्न समस्याओं से ग्रसित पक्ष के नियंत्रण के लिए अंतर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भारत का सक्रिय सहयोग रहा है। संयुक्त राष्ट्र एवं अन्य विश्व संगठन और क्षेत्रीय संगठनों की मज़बूती में भारत का दृढ़ विश्वास रहा है, जोकि अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सहयोग के मुख्य उपकरण हैं। परमाणु एवं अन्य प्रकार के व्यापक क्षति वाले हथियारों के ह्रास (कटौती) और समापन के कार्य में भारत विश्वास रखता है। भारत की विदेश नीति के सिद्धांत – जोकि पंचशील (1954) में स्थापित हैं। – अनाक्रमण, अहस्तक्षेप (तटस्थता) एवं शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की आवश्यकता पर बल देते हैं।

संक्षेप में, भारत अपनी विदेश नीति के माध्यम से एवं शांतिपूर्ण, परिपक्व, कानूनपालक (विधिपालक) और विश्वसनीय स्वयं को प्रतीयमान होना चाहता है, यद्यपि विश्व समुदाय के अन्य राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण संबंध के द्वारा लाभ उठाने की चेष्टा भी करती है।

3.3 भारतीय विदेश नीति के निर्धारक

भारतीय विदेश नीति के निर्धारण में कई कारकों का प्रभाव रहा है और वे वर्तमान में भी प्रभावित कर रहे हैं। इनमें से कुछ कारकों की प्रकृति स्थायी है, जबकि कुछ समय के साथ बदलते रहे हैं। इकाई के इस भाग में हम भूगोल, इतिहास एवं सांस्कृतिक, आंतरिक स्थिति, बाह्य वातावरण आदि जैसे मुख्य भारतीय विदेश नीति–निर्धारकों का विश्लेषण करेंगे।

3.3.1 भूगोल

भारत का भौगोलिक आकार और स्थिति उसकी विदेश नीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। भारत एक विशाल देश है, संसार का यह सातवाँ सबसे बड़ा राष्ट्र है। इसका क्षेत्र लगभग 30 लाख वर्ग किलोमीटर है। इसके उत्तर में इसकी सीमाएँ विश्व–प्रसिद्ध हिमालय पर्वत से लगी हुई हैं। इसकी 15,000 किलोमीटर लंबी थल सीमा पश्चिम में पाकिस्तान के साथ, उत्तर में भूटान, चीन और नेपाल तथा पूर्व में बांग्लादेश एवं म्यांमार के साथ लगी हुई है। अफगानिस्तान एवं पूर्व सोवियत संघ, जम्मू–कश्मीर के काफी निकट हैं। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी हमेशा कहते हैं कि मित्र तो बदला जा सकता है, पड़ोसी नहीं। अतः भारत अपने सभी पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण एवं तनावमुक्त संबंध रखना चाहता है।

भारत की 7,500 किलोमीटर की तटरेखा को तीन तरफ से हिंद महासागर ने घेरा हुआ है। जैसा कि भारतीय बंदरगाहों में यूरोप, पश्चिमी एशिया, दक्षिण–पूर्व एशिया एवं पूर्वी एशियाई देशों की ओर जाने वाले या आने वाले वाणिज्य पोतों के यातायात से पता चलता है, भारत का ज्यादा विदेश व्यापार हिंद महासागर के मार्ग से होता है। इससे हिंद महासागर के भू–राजनीतिक और भू–सामरिक महत्व का पता चलता है। जैसा कि हम जानते हैं कि 17वीं–19वीं शताब्दी के दौरान हिंद महासागर विदेशी शासन, जैसे फ्रांसीसी, ब्रिटिश, डच, पुर्तगाली भारत और पूर्वी एशिया के अधीन रही। स्पष्टतः भारतीय विदेश नीति इस बात की जरूरत महसूस करती है कि उसकी उत्तरी सीमाएँ सुरक्षित रहें और उसके साथ हिंद महासागर में उसका क्षेत्रीय जल शांत एवं विदेशी सामरिक निर्माण से मुक्त रहे। भारत की विशाल तटरेखा न केवल उसे एक शक्तिशाली नौसेना रखने के लिए बल्कि हिंद महासागर में स्थित अन्य नौसैनिक शक्तियों से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखने के लिए बाध्य करती है। इन नौसैनिक शक्तियों में से इंग्लैंड एवं संयुक्त राज्य अमेरिका का दिएगो गार्सिया में नौसैनिक अड्डा भी शामिल है।

देश की भौगोलिक स्थिति भी उल्लेखनीय है। सबसे बड़े महाद्वीप – एशिया – के मध्य स्थित भारत दक्षिण एशिया का सदस्य है।

हालांकि भारत, चीन और पाकिस्तान के सैन्य आक्रमण का शिकार रहा है, यह उसके हित में रहा है कि वह संचार के माध्यमों को बनाए रखे। अतः भारत चाहता है कि इन पड़ोसियों के साथ समस्याओं का समाधान शांतिपूर्ण तरीके से हो। यह एक सत्य है कि भारत दक्षिण–पूर्व एशिया और पश्चिमी एशिया का प्रवेश–द्वार है, अतः भारत की सुरक्षा एवं मुख्य हित एशिया के बृहत् क्षेत्र की शांति एवं स्थिरता से जुड़ा हुआ है। इस तरह भारत क्षेत्रीय शक्तियों (जैसे ईरान, इंडोनेशिया,

मलेशिया, जापान, वियतनाम आदि) से निकट संबंध बनाए हुए है। भारत पूर्वी देशों के साथ संबंधों में सुधार की नीति का पालन करता है, साथ ही वह आसियान देशों के साथ आर्थिक एवं सामरिक संबंध भी विकसित कर रहा है।

3.3.2 इतिहास एवं परंपरा

भारत की विदेश नीति उसकी ऐतिहासिक परंपरा को प्रतिबिंबित करती है। भारत ने अपने क्षेत्रीय विस्तार के लिए देश के बाहर कभी भी कोई आक्रामक अभियान नहीं किया है। असल में वह स्वयं कई आक्रमणों एवं विदेशी शासन का लक्ष्य रहा है। उल्लेखनीय है कि कई आक्रामकों ने इस देश को अपना घर मान लिया और यहाँ की प्रथा एवं परंपरा के अनुसार अपने को ढाल लिया। ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य ने सुनियोजित तरीके से एक देशी रियासत को दूसरे के साथ लड़वा कर अपनी स्थिति सुदृढ़ की जिसमें विजेता और हारने वाले दोनों को ही बराबर का नुकसान हुआ। भारत के युद्धों से पीड़ित अनुभव ने उसकी विदेश नीति की प्रकृति को युद्ध–विरोधी बना दिया। इसके अतिरिक्त, महात्मा गांधी और उनके अनुयायियों के नेतृत्व में लड़े गए अहिंसक स्वाधीनता संग्राम की प्रकृति भी भारत की विदेश नीति में सुस्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

सिर्फ यही नहीं, प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की धरोहर भी विदेश नीति के निर्धारण में सहायक सिद्ध हुई है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (अर्थात् सारा विश्व एक परिवार है) की पारंपरिक मान्यता प्राचीन धर्मग्रंथों और स्वामी विवेकानंद जैसे महापुरुषों के आध्यात्मिक कार्यों के माध्यम से भारत की जनता तक पहुँची है। भारतीय विदेश नीति की संरचना में विशेष तौर पर सहायक हुए मूल्य हैं– सहिष्णुता, अहिंसा और विश्व–बंधुत्व। ए.अप्पादुरै के अनुसार, भारतीय विदेश नीति में अहिंसा की परंपरा, विदेश नीति की समस्या के एक अभिगम की पद्धति की सुविचारित स्वीकृति है जोकि सामंजस्य और शांति की प्रकृति पर बल देती है और प्रतिशोध तथा घृणा की प्रकृति के विपरीत है।

स्वतंत्रता आंदोलन के ज्यादातर नेता इंग्लैंड में शिक्षित थे या फिर उदार शिक्षा से परिचित थे। वे स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र को महत्व देते थे। ये आदर्श भारतीय विदेश नीति में सन्निहित हैं। यद्यपि भारत उदार लोकतांत्रिक देशों के साथ सहयोग करता है, लेकिन समाजवादी देशों का भी विरोध नहीं करता है। गुटनिरपेक्षता की नीति भारत को गुट की राजनीति से दूर रहने का परिणाम ही नही है बल्कि यह राष्ट्रीय आंदोलन के आदर्शों और उद्देश्यों के अनुसार है जिसे हमारी जनता ने संजोया था।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रभाव और राष्ट्रीय आंदोलन तथा स्वतंत्रता संग्राम का प्रभाव भारत की विदेश नीति के निर्माण में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। ए.अप्पादुरै के अनुसार, भारत की विदेश नीति में ब्रिटिश राज्य का दोहरा प्रभाव पड़ा। प्रथम, इसने राष्ट्रीय आंदोलन को स्वतंत्रता के लिए प्रेरित किया जिससे विश्व की पराधीन जनता को स्वतंत्रता के लिए भारत का सहयोग मिला; द्वितीय, ब्रिटिश शासन के दौरान प्रचलित नस्लीय असमानता ने भारत को रंग–भेद का उन्मूलन करने के लिए प्रतिबद्ध किया।

हालांकि, इस आदर्शवादी धारणा के अलावा शासन कला के प्राचीनकाल के विद्वान कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित यथार्थवाद का भी महत्व नकारा नही जा सकता अर्थात आवश्यकतानुसार बल प्रयोग के द्वारा देश के अनिवार्य हितों की रक्षा करना भी जरूरी है। भारतीय नेता जवाहरलाल नेहरू और इंदिरा गांधी संकट की स्थिति में राजनीति के निर्देशन में आदर्शवाद की सीमाबद्धता को स्वीकार करते हैं। गोआ (1961) और बांग्लादेश (1971) में भारतीय कार्रवाई व्यावहारिकता को दर्शाता है।

3.3.3 आर्थिक दशा

कच्चे माल और प्राकृतिक संपदा का स्वामित्व तथा आर्थिक विकास की अनिवार्यता, देश की विदेश नीति के निर्धारण में दिशा प्रदान करते हैं।

भारत विशाल प्राकृतिक संपदा का भंडार है जिसके पास विकास में आर्थिक ऊँचाइयों को छूने की क्षमता है। इसकी नदियाँ विद्युत शक्ति के उत्पादन की क्षमता रखती हैं तथा पीने और सिंचाई के लिए पर्याप्त जल का प्रबंध करती हैं। बॉक्साइट, कोयला, तांबा, मैगनीज़ एवं अन्य खनिजों का विशाल भंडार भारत की संपत्ति है। साथ ही, कुशल और शिक्षित श्रमिक वर्ग इसका आधार है। हालांकि कृषि, साक्षरता, विज्ञान और प्रौद्योगिकीय प्रगति के बावजूद इस बात से इनकार नही किया जा सकता है कि भारत विकास में काफी पिछड़ा हुआ है। बढ़ती हुई जनसंख्या का अधिकांश भाग रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं का प्रबंध करने में भी सक्षम नही है। स्वतंत्रता के पश्चात हमारे नेता यह जानते थे कि देश को धन (कोष) का हस्तांतरण, मशीनों एवं तैयार माल का आयात, भारतीय सामान का निर्यात, तकनीकी कार्मिकों के प्रशिक्षण आदि कई बातों के लिए विदेशी सरकारों से सहायता लेनी पड़ेगी। विचारधारा से ध्रुवित विश्व में भारत को दोनों, मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था वाले पश्चिम और पूर्व सोवियत संघ के नेतृत्व वाले समाजवादी देशों के साथ मैत्री एवं सद्भाव की आवश्यकता थी। ऐसे में गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाकर भारत ने दोनों गुटों से मदद की अपेक्षा की। भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग अपनाया, जिसमें सार्वजनिक और निजी क्षेत्र का मिश्रण है। सार्वजनिक क्षेत्र में भारतीय राजकीय निवेश किया गया और साथ ही आधारभूत सेवाओं आदि जैसे कई क्षेत्रों में निजी क्षेत्र का योगदान रहा।

भारत के पूर्व–औपनिवेशिक शासक इंग्लैंड के साथ आर्थिक संबंध से नेहरू को उस देश के साथ द्विपक्षीय एवं राष्ट्रमंडल के अंतर्गत मैत्रीपूर्ण संबंध बनाने में सहायता मिली। भारत के व्यापार के बृहत् भाग के अंतर्गत कच्चे माल जैसे कपास, चाय का निर्यात तथा भारी मशीनें एवं प्रौद्योगिकी का आयात मुख्यतः अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोपीय देशों के साथ होता है। ये देश कई परियोजनाओं के लिए उदार अनुदान एवं ऋण की व्यवस्था करते आए हैं। इसके साथ ही विश्व बैंक एवं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से बहु–पक्षीय ऋण की भी सुविधा प्रदान करते रहे हैं। पूर्व सोवियत संघ भी आसान शर्तों पर रक्षा और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्य क्षेत्रों में भारत का महत्वपूर्ण साझेदार बना है।

यह भी उल्लेखनीय है कि औद्योगिक और आर्थिक आवश्यकताओं के लिए तेल पर निर्भरता ने मध्य–पूर्व में तेल समृद्ध अरब देशों से संबंध के विशेष महत्व के अलावा विश्व–बाज़ार में स्थिर मूल्य एवं आपूर्ति के लिए भारत कार्यरत है।

एक अलग स्तर पर, देश की आर्थिक दशा भारतीय विदेश नीति को एक दिशा प्रदान करते हुए विकसित एवं विकासशील देशों के बीच असमानता को कम करने का तर्क देती है और विकासशील देशों के बीच अधिक आर्थिक सहयोग चाहती है।

3.3.4 नेतृत्व का स्वरूप

किसी भी नेता की व्यक्तिगत योग्यता या क्षमता एक राष्ट्र के भविष्य को एक निश्चित समय में अपने नेतृत्व द्वारा विदेश नीति के स्वरूप को एक निश्चित दिशा प्रदान करती है। जैसे, बीसवीं शताब्दी के पूर्व दशकों में अमेरिका की विदेश नीति को स्वरूप देने में वुडरो विल्सन के योगदान को कौन इनकार कर सकता है। या फिर इसी सदी के अंत में सोवियत नीति के निर्माण में मिखाइल गोर्बाचोब के योगदान को? इसी तरह, भारत की स्थिति में भी पदासीन प्रधानमंत्रियों के व्यक्तित्व की देश की विदेश नीति में एक विशेष पहचान दिखाई पड़ती है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू, जिन्होने भारत की नीति को डेढ़ दशकों से भी ज्यादा समय तक दिशा प्रदान की, एक दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीयतावादी माने जाते थे और किसी भी समस्या का संकुचित और स्व–केंद्रित मार्ग अपनाने के बजाए एक प्रबुद्ध मार्ग को वरीयता देते थे। वे अपने काल के सभी दूरदर्शियों में सबसे महान माने जाते थे। स्वाभाविक है कि इस काल में भारत की विदेश . नीति में विश्व–शांति और निरस्त्रीकरण के संबंध में राष्ट्रों के सौहार्द के सामूहिक हित के लिए प्रतिबद्ध थी। पंचशील का सिद्धांत विभिन्न देशों की समस्याओं के समाधान का एक विशिष्ट नेहरूवादी दृष्टिकोण का प्रतिरूप था।

पंडित जवाहरलाल नेहरू की बेटी इंदिरा गांधी का प्रभाव बिल्कुल विपरीत था। स्वभाववश वह बहुत प्रभावशाली एवं दृढ महिला थी। राष्ट्रीय हित की अनिवार्य आवश्यकताओं के प्रति उनकी प्रकृति व्यावहारिक एवं संवेदनशील थी, जिसने विदेश नीति को आदर्शवाद की जगह दोबारा यथार्थवाद के मार्ग की ओर अग्रसर किया। इस तरह भारत की नीति को बांग्लादेश की स्वाधीनता, परमाणु अ–प्रसार संधि की अस्वीकृति तथा पूर्व सोवियत संघ से प्रगाढ़ संबंध के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। दूसरी ओर, उदारवादी गुणों के लिए विख्यात अटल बिहारी वाजपेयी ने पाकिस्तान और अमेरिका के साथ व्यस्त रखने की नीति को प्रभावित किया।

3.3.5 घरेलू वातावरण

किसी भी देश की विदेश नीति अपनी आंतरिक गतिशीलता के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकती है। घरेलू अथवा आंतरिक वातावरण से तात्पर्य है – शासकीय प्रणाली की प्रकृति, राजनीतिक संस्कृति, जिसके अंतर्गत राजनीतिक दल, लोकमत आदि, परंपरा, सरकार की संरचना और प्रबुद्ध नेतृत्व शामिल हैं।

स्वतंत्र भारत 'अनेकता में एकता' का सजीव उदाहरण है। भारत ने अहिंसक आंदोलन के बाद ब्रिटिश–राज से स्वतंत्रता प्राप्त की और लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाया जोकि क्षेत्रीय, धार्मिक और सांस्कृतिक विविधताओं को समुचित प्रतिनिधित्व देती है। कार्यपालक जन–प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जन–प्रतिनधि निश्चित समयांतराल पर मतदान द्वारा चुने जाते हैं। भारत की राजनीतिक व्यवस्था इंग्लैंड की संसदीय प्रणाली पर आधारित है। हालांकि, कार्यपालिका प्रायः ऐसा विश्वास करती है कि विदेश नीति पर उसका विशेषाधिकार है। लेकिन कार्यपालिका पर संसद के नियंत्रण ने देश की विदेश नीति को प्रभावित करने का माध्यम खोज लिया है। भाग्यवश, भारत की विदेश नीति राष्ट्रीय सम्मति को प्रतिबिंबित करती है जोकि शासक दल और विपक्ष, दोनों के राजनीतिक मतभेदों के ऊपर है। गुटनिरपेक्षता की नीति इसका स्पष्ट उदाहरण है। यद्यपि इसका यह अर्थ नही है कि प्रधानमंत्री और संसद विदेश नीति के हर मामले पर हमेशा सहमति रखते हैं। नेहरू के काल में, जोकि अन्य प्रधानमंत्रियों के बजाय अधिक विवेकाधिकार का प्रयोग करते थे, चीन से सीमा विवाद और गोआ के मामले पर 1950 के दशक के उत्तरार्ध में संसद ने नेहरू की नीतियों के विरोध में अपने अधिकारों का प्रभाव डालने का प्रयत्न किया था। पुनः हाल ही में 2003 में इराक के मामले पर भारतीय नीति काफी हद तक संसद में व्याप्त भावना से प्रभावित रही, यहाँ तक कि सत्तारूढ़ शासक–दल भी अमेरिकी सैन्य कार्रवाई पर खेद व्यक्त करने वाला एक पक्ष बनने को राज़ी हो गया।

चुनावों के समय में राजनीतिक दल भी विदेश नीति के मामले में अपने चुनाव घोषणा पत्र में अपना दृष्टिकोण रखते हैं। भूमंडलीकरण, विश्व व्यापार संगठन और कई अन्य मामलों में भारतीय जनता पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के मत भिन्न हैं। इसी तरह, कुछ क्षेत्रीय दल जैसे तमिलनाडु में द्रमुक, अन्नाद्रमुक, एम.डी.एम.के. आदि और जम्मू–कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस क्रमशः श्रीलंका एवं पाकिस्तान के प्रति देश की नीति को प्रभावित करते हैं।

संचार के साधनों तथा हित/दबाव समूहों (जैसे मैत्री संस्थाएँ या व्यापार संघ) के कार्यकलापों के द्वारा बने जनमत ने भारत की विदेश नीति के निर्धारक के रूप में महत्व अर्जित किया है। जैसे सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संबंधों के संदर्भ में आई.एस.सी.यू.एस. या सी.आई.आई. की भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मुद्रण और दृष्टि संचार मीडिया भी नीति निर्माण का महत्वपूर्ण निर्धारक रहा है। 1999 में कांधार में भारतीय वायुसेना के अपहरण के मामले में तथा इराक में युद्ध के बाद सेना भेजने के संयुक्त राज्य अमेरिका के अनुरोध को नहीं मानने संबंधी सरकारी घोषणा ऐसे दो उदाहरण हैं जहाँ भारतीय नीति को प्रभावित करने में मुद्रण संचार एवं दूरदर्शन की भूमिका उल्लेखनीय है।

3.3.6 अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति

किसी निश्चित समय में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्पष्ट प्रचलन का विदेश नीति में प्रत्यक्ष असर पड़ता है। विदेश नीति के संचालन में कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि राज्यों के पास दूसरे राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए निश्चित माध्यम का अभाव रहता है। दो विश्वयुद्धों के बीच के समय (1919–1939) में फ्रांस की सुरक्षा का प्रश्न, उसके बाद इटली में फासीवाद तथा जर्मनी में नाज़ीवाद का उदय एवं जापान में सैन्यवाद आदि ने सभी देशों की विदेश नीतियों को प्रभावित किया। अमेरिका ने सोवियत संघ के प्रति अपनी नीतियों में परिवर्तन किया और उसे मान्यता प्रदान की क्योंकि 1933 में जर्मनी में हिटलर के उदय ने युद्ध के पश्चात स्थापित विश्व व्यवस्था के लिए संकट पैदा कर दिया था। 1931 में मंचूरिया (चीन) पर जापानी हमले ने अमेरिका और सोवियत संघ दोनों के लिए सुदूर पूर्व में एक सामान्य संकट उत्पन्न कर दिया था। दोनों शक्तियों ने इसीलिए तब अपनी शत्रुता छोड़ दी।

शीतयुद्ध काल (1945–90) ने अधिकतर देशों की विदेश नीति को अत्यधिक प्रभावित किया। अमेरिका के परमाणुकरण के भय के कारण पूर्वी यूरोप के देश सोवियत संघ के नियंत्रण में आ गए और इसका परिणाम यह हुआ कि ये देश समाजवाद अपनाते हुए सोवियत संघ के पक्ष में खड़े हो गए। अमेरिका द्वारा स्थापित नाटो, सिएटो तथा अन्य सैन्य संधि/ व्यवस्था से उसकी साम्यवाद को नियंत्रित करने की नीति स्पष्ट होती है। भारतीय प्रयासों से प्रतिपादित गुटनिरपेक्ष की नीति अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में उत्पन्न इसी ध्रुवीकरण की एक प्रतिक्रिया थी।

विश्व राजनीति अगले करीब 45 वर्षों तक शीत युद्ध से प्रभावित रही। परमाणु क्षेत्र में हथियारों की दौड़, बढ़ते हुए संदेह की तीव्रता और आने वाले विनाश के भय का द्योतक है। परमाणु निरस्त्रीकरण की भारत की नीति इसी आशंका पर व्याप्त है कि दुर्घटनावश या विवेकपूर्ण तरीके से भी इन हथियारों का प्रयोग मानव सभ्यता के लिए विनाश का कारण बन सकता है। परमाणु क्षेत्र से संबंधित 1998 में भारत द्वारा परमाणु अस्त्र का सफल परीक्षण का यह तर्क दिया जा रहा है कि अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में तेजी से हो रहे बदलाव के कारण यह एक आवश्यक प्रतिक्रिया है, जोकि परमाणु निरस्त्रीकरण की माँग को अस्वीकार करता है तथा परमाणु–सम्पन्न शक्ति एवं परमाणु–विपन्न शक्ति के बीच असमान श्रेणीबद्धता का समर्थन करता है। शीत युद्ध के आकस्मिक अंत एवं उसके साथ सोवियत संघ के विघटन के बाद भारत की विदेश नीति में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की तरफ कम उत्साह होना, अमेरिका की चिंता को समायोजित करने की उत्सुकता; इज़राइल के साथ पूर्ण कूटनीतिक संबंध स्थापित करना; यूरोप, दक्षिण–पूर्व एशिया एवं दक्षिण एशिया के साथ संबंधों में आर्थिक पक्ष पर बल देना आदि जैसे कई प्रकार से पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं।

पुनः, शीत युद्ध के पश्चात, आतंकवाद एवं मानव–अधिकार के मामलों में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की बढ़ती हुई संवेदनशीलता ने भारतीय विदेश नीति में महत्वपूर्ण समायोजन (समन्वय) करने के लिए प्रेरित किया। 1990 के दशक में भारतीय विदेश नीति के आलोचनात्मक प्रेक्षकों का मानना था कि बड़ी शक्तियों और अंतर्राष्ट्रीय मंचों में भारत सरकार जम्मू कश्मीर के मामले पर पूर्वाधिकृत रही। 11 सितंबर, 2001 को अमेरिका के न्यूयॉर्क और वाशिंगटन में आतंकवादी हमले ने भारत को अपनी आतंकवादी–विरोधी नीति को अधिक दृढ़ता के साथ पेश करने का मौका दिया।

3.4 सारांश

भारतीय विदेश नीति के विविध उद्देश्यों ने अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय हितों के एक सम्मिश्रण को प्राप्त किया है। भारत अपनी सुरक्षा और सामाजिक–आर्थिक विकास की प्राप्ति की इच्छा के साथ–साथ सभी राष्ट्रों और जनता की शांति, स्वतंत्रता, विकास एवं न्याय के लिए काम कर रहा है। गुटनिरपेक्षता, मतभेदों के समझौते के लिए शांतिपूर्ण तरीकों को अपनाना, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं में सक्रिय भूमिका निभाना आदि भारतीय विदेश नीति के उद्देश्य हैं।

जैसा कि उल्लेख किया गया है कि विदेश नीति के कई निर्धारकों में जो प्रासंगिक तत्व हैं, वे हैं– भारत का भौगोलिक आकार, स्थिति, ऐतिहासिक अनुभव एवं परंपरा, साथ ही नेतृत्व का व्यक्तित्व, देश का पड़ोसियों एवं अन्य देशों के साथ

संबंध। ये निर्धारक विदेश नीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साथ ही, अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में बदलाव, चाहे वह शीत युद्ध हो या शीत युद्ध पश्चात के प्रचलन हो। हमारी विदेश नीति में परिवर्तन को समझने का एक दृष्टिकोण है, जिसे अस्वीकार नही किया जा सकता है। संक्षेप में, भारत ने अपनी विदेश नीति का निर्माण और उसे कार्यान्वयन बड़ी कुशलता से किया है, जिसे पूरे देश की सहमति प्राप्त है और जिसने देश को शांतिप्रिय, परिपक्व, लोकतांत्रिक एवं अंतर्राष्ट्रीय मामलों में विधिपालक के रूप में प्रस्तुत किया है।

3.5 अभ्यास

1. भारतीय विदेश नीति के उद्देश्य और सिद्धांतों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. भारतीय विदेश नीति के निर्धारकों में भूगोल, इतिहास एवं परंपरा का वर्णन कीजिए।
3. यह व्याख्या कीजिए कि भारत के आर्थिक पिछड़ेपन ने किस प्रकार से भारतीय विदेश नीति को प्रभावित किया।
4. भारतीय विदेश नीति के उद्देश्यों और अन्य हिस्सों पर विभिन्न प्रधानमंत्रियों के प्रभाव की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।
5. भारत की विदेश नीति के निर्धारण में घरेलू वातावरण ने कहाँ तक प्रभावित किया है। टिप्पणी कीजिए।
6. भारत में मीडिया और विदेश नीति पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
7. बदलती हुई अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों ने भारत की विदेश नीति को कहाँ तक प्रभावित किया है?

इकाई 4

निर्णय लेने वाले संस्थान : विदेश मंत्रालय, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद, प्रधानमंत्री कार्यालय, संसद और संसदीय समितियों का विशेष संदर्भ

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 विदेश नीति–निर्धारण और विदेश मंत्रालय

4.3 राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद

4.4 प्रधानमंत्री कार्यालय

4.5 संसद

4.5.1 संसदीय समितियाँ

4.6 सारांश

4.7 अभ्यास

4.1 प्रस्तावना

भारत ने संसदीय लोकतंत्रीय प्रणाली को अपनाने का निश्चय किया। संसदीय लोकतंत्र में सरकार का गठन चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं। इस प्रणाली में सरकार लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों के प्रति नियमित रूप से उत्तरदायी और जवाबदेय होती है। इसलिए विदेश नीति निर्धारित करते समय लोगों की इच्छाओं का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है। आइए देखें और यह जानने की कोशिश करें कि भारतीय संसदीय सरकार विदेश नीति निर्धारण का कार्य कैसे करती है।

परंपरागत रूप से, यूरोपीय देशों में विदेश नीति निर्धारण, विदेश कार्यालय और प्रभारी मंत्री का कार्य होता था। विदेश नीति निर्धारित करते समय न ही आम लोगों की राय ली जाती थी और न ही सामान्यतः विदेश नीतियों पर राष्ट्रीय संसदों में बहस होती थी। किंतु भारत जैसे संसदीय लोकतंत्र में विदेश नीति में निर्णय काफी फैला हुआ है। ऐसे में यह कहना बहुत ही मुश्किल है कि नीतिगत निर्णय कौन लेता है और इन्हें किस स्तर पर लिया जाता है। इसलिए, हमें विदेश नीति–निर्माण करने की प्रक्रिया को जानना बहुत जरूरी है। जब हम 'प्रक्रिया' शब्द का इस्तेमाल करते हैं तो इसका यह तात्पर्य है कि नीति–निर्माण पहले से निर्धारित प्रतिभागियों में सरल प्रविधि है। किंतु अक्सर, विदेश नीति–निर्धारण टेढ़ी–मेढी प्रक्रिया है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी प्रतिभागी, विदेश नीति संबंधी सभी प्रकार के निर्णय लेने में अनिवार्य रूप से शामिल हों ही। फिर भी, मोटे तौर पर यह कहना सही होगा कि भारत में विदेश नीति को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में मंत्री–परिषद द्वारा अंतिम रूप दिया जाता है।

कैबिनेट, मंत्री–परिषद का आंतरिक वृत्त है। किंतु सभी नीतिगत निर्णय लेने से कैबिनेट भी काफी बड़ा निकाय है। कैबिनेट की एक उप–समिति होती है जिसे सुरक्षा संबंधी कैबिनेट समिति के नाम से जाना जाता है। यह समिति विदेश नीति और राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी महत्वपूर्ण मुद्दों को प्रभावित करने वाले अधिकांश मामलों पर निर्णय लेती है। इस प्रकार, सरकार के भीतर सुरक्षा संबंधी कैबिनेट समिति विदेश नीति और सुरक्षा मामलों को अंतिम रूप देती है। 11 सितंबर 2001 के बाद अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध अमेरिका के संघर्ष में भारत के सहयोग करने के संदर्भ में प्रधानमंत्री वाजपेयी ने कहा था कि नीति–निर्णयन है 'जब मिलेंगे तो विचार–विमर्श और बहस होगी। किंतु जब हम निर्णय ले लेंगे तो सभी उसका पालन करेंगे।

अब इस पर सहमति है कि विदेश नीति राष्ट्र के साधनों और लक्ष्यों का संश्लेषण है। इस संदर्भ में हमारा लक्ष्य राष्ट्रीय हित होते हैं और उसका साधन शक्ति है। इस प्रकार राष्ट्रीय लक्ष्यों और इसके संसाधनों के बीच अंतक्रिया के द्वारा लक्ष्य और साधनों में संश्लेषण हो सकेगा। यह कार्य विदेश नीति निर्माताओं का है। जबकि विदेश नीति को सरल शब्दों में इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है – 'विदेश नीति, बाहरी विश्व से व्यवहार करने का देश का तरीका है।' मॉडलेस्की ने विदेश नीति को वैज्ञानिक ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है, '.....समाजों के अन्य राज्यों के व्यवहार को बदलने और अंतर्राष्ट्रीय परिवेश के अनुरूप अपने कार्यकलापों को व्यवस्थित करने संबंधी कार्य शामिल हैं।' यहाँ अन्य राज्यों के व्यवहारों के संदर्भ में बदलने' शब्द के स्थान पर 'विनियमित' शब्द का इस्तेमाल किया जा सकता है ताकि राष्ट्रीय हित को पूरा किया जा सके। किंतु अपनी राष्ट्रीय नीति की हमेशा सुरक्षा और उसे सदैव बढ़ावा देना ही विदेश नीति का सार है।

भारत में हालांकि राजनीतिक नेतृत्व हमारी विदश नीति को अंतिम रूप देता है, किंतु यह कार्य काफी हद तक सरकार की विभिन्न संस्थाओं के लगाए गए साधनों के परिणाम पर निर्भर करता है। इन विभिन्न संस्थाओं में से सबसे महत्वपूर्ण उपादान है – विदेश मंत्रालय। इस इकाई में आप सरकार के विभिन्न अंगों और एजेंसियों के बारे में पढ़ेंगे। इनमें से प्रधानमंत्री सर्वोपरि हैं, जिनके द्वारा भारत के विदेश नीति संबंधी निर्णय लेने में विभिन्न भूमिकाएँ निभाई जाती हैं।

4.2 विदेश नीति–निर्धारण और विदेश मंत्रालय

विदेश नीति को निर्धारित करना एक बहुत ही जटिल प्रक्रिया है। घरेलू नीति के मामले में, उदाहरण के लिए, प्याज या आलू जैसी किसी वस्तु की कीमत की बढ़ोत्तरी की जाँच करने पर कोई भी यह निर्णय ले सकता है कि इन्हें विदेश से खरीद लिया जाए या कि उनकी कीमतों पर नियंत्रण किया जाए। किंतु विदेश नीति में विशेष ज्ञान और उसके व्यवहार की आवश्यकता होती है। इसका सीधा सरल कारण यह है कि विदेश नीति का संबंध किसी अन्य देश और देशों से है और उनका व्यवहार भारत के नियंत्रण में नहीं है। भारतीय नीति निर्धारक किसी विशिष्ट मामले में अन्य देश के व्यवहार का अंदाजा ही लगा सकते हैं।

इस प्रकार, क्या अब भारत को पाकिस्तान के साथ बातचीत शुरू करनी चाहिए क्योंकि यह बार–बार कहा गया है कि बातचीत का अच्छा परिणाम निकलेगा? पाकिस्तान को सीमा–पार आतंकवाद रोकने के लिए गंभीरता प्रदर्शित करनी होगा। क्या यह एक ऐसा जुआ है जिससे अच्छा परिणाम निकल सकता है? क्या प्रधानमंत्री का यह कहना सही है कि यह उनका अंतिम प्रयास होगा या यदि वे सफल नहीं रहे तो वे सेवानिवृत्त हो जाएंगे? क्या इस प्रकार के वक्तव्य इस्लामाबाद में नीति–निर्धारण पर कोई प्रभाव डालने में कामयाब हो पाएँगे? यदि पाकिस्तानी नीति निर्धारक यह सोचते हैं कि भारत में अगले चुनावों तक एक और वर्ष इस उम्मीद से इंतज़ार किया जाए कि शायद कांग्रेस सरकार सत्ता में आ जाए और पाकिस्तान के समक्ष बेहतर शर्ते रखे। कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के प्रश्नों के निश्चित उत्तर नहीं पा सकता।

सरकार में विदेश मंत्रालय वह मंत्रालय है जिससे इस प्रकार के प्रश्नों के लिए सही और बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर देने की अपेक्षा की जा सकती है क्योंकि विदेश मंत्रालय, विदेश संबंधी मामलों के विशेषज्ञ–ज्ञान का भंडार होता है। विदेश मंत्री, विदेश मंत्रालय का प्रमुख होता है। विदेश मंत्री की नियुक्ति राजनीतिक होती है। और वह कैबिनेट का सदस्य होता है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि वह विदेश संबंधी मामलों में निर्णय लेने का विशेषज्ञ हो ही। किंतु मंत्रालय में विशेषज्ञों द्वारा संस्तुत सभी नीतियाँ और निर्णय लागू किए जाने से पूर्व विदेश मंत्री द्वारा निर्धारित अथवा संशोधित किए जाते हैं। विदेश मंत्री द्वारा निर्धारित कई नीति निर्णयों में कैबिनेट की मंजूरी भी ली जाती है।

विदेश मंत्रालय में मुख्यतः भारतीय विदेश सेवा के अधिकारी होते हैं। ये अधिकारी, संघ लोक सेवा आयोग (यू.पी.एस.सी.) द्वारा ली जाने वाली प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से चुने जाते हैं। विदेश सचिव काफी वरिष्ठ और अनुभवी आई.एफ.एस. अधिकारी होता है। वह मंत्रालय का स्थायी अध्यक्ष भी होता है। वह विदेश मंत्री का महत्वपूर्ण सलाहकार होता है। विदेश सचिव की सहायता के लिए दो अन्य वरिष्ठ अधिकारी होते हैं, जिन्हें विदेश सचिव (पूर्व) और विदेश सचिव (पश्चिम) के नाम से जाना जाता है।

ये अधिकारी सामान्यतः बहुत ही वरिष्ठ होते हैं और इन्हें विदेश मंत्रालय में प्रमुख के रूप में काम करने के लिए चुना जाता है। विदेश सचिव की सहायता के लिए तीन अतिरिक्त सचिव भी होते हैं। विदेश मंत्रालय का कार्य, 24 प्रभागों में विभाजित है। प्रत्येक प्रभाग का प्रमुख एक संयुक्त सचिव होता है। मंत्रालय में 12 प्रादेशिक प्रभाग है जोकि कनाडा और अमेरिका, लैटिन अमेरिका और कैरीबियन देशों, खाड़ी के देशों, पूर्वी एशिया जैसे सीमित क्षेत्र से संबंधित कुछ देशों के समूह का कार्य देखते हैं। मंत्रालय में नवाचार विदेश प्रचार, ऐतिहासिक, नीति निर्माण और संयुक्त राष्ट्र आदि जैसे ग्यारह प्रकार्यात्मक प्रभाग भी हैं। विदेश मंत्रालय के आंतरिक कार्यों को निपटाने के लिए एक प्रशासनिक प्रभाग भी है।

नीति–निर्माण को ध्यान में रखते हुए आपको कुछ महत्वपूर्ण प्रभागों के काम–काज के ' ' बारे में परिचित होना आवश्यक है। आगे के समय के बारे में सोचने और किसी भी अपार की आकस्मिकता से निपटने या फिर अनुसंधान करने के लिए शुरु में नीति 'नियोजन अथवा कोई प्रभाग नहीं था। तब केवल ऐतिहासिक प्रभाग था। प्रादेशिक प्रभागों । किसी भी प्रकार की जानकारी आवश्यकता पड़ने पर यह प्रभाग सूचना उपलब्ध कराता

1 अक्तूबर, 1962 में चीनी आक्रमण के अनुभव के पश्चात योजना और अनसंधान ना स्थापित किए जाने की आवश्यकता महसूस की गई। जब चीनी आक्रमण हुआ तब विदेश मंत्रालय के पास उस क्षेत्र के बारे में भारत के अधिकार के बारे में ज्यादा सूचना नहीं थी जिसपर चीन ने विवाद खड़ा किया था।

बाद में 1963 में 'पूर्वी एशिया अनुसंधान और समन्वय प्रभाग' की स्थापना की गई। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रभाग का कार्य–क्षेत्र चीन तक ही समित था। लेकिन 1965 में विस्तृत आधार वाले योजना और अनुसंधान प्रभाग की स्थापना की गई, जिसे 'सामयिक अनुसंधान प्रभाग' के नाम से जाना जाता है। 1966 में इसका नाम बदलकर नीति नियोजन और समीक्षा समिति के साथ नीति नियोजन और समीक्षा प्रभाग रख दिया गया। किंतु कहीं और व्यवस्थित न

हो पाने वालों को रखने । के लिए इसका वास्तविक इस्तेमाल श्रीमती गांधी और राजीव गांधी द्वारा किया गया था। इस समय विदेश मंत्रालय में नीति नियोजन और अनुसंधान प्रभाग है। योग्य अधिकारियों द्वारा नीति बनाने और पूर्वानुमान करना इस प्रभाग का उद्देश्य है, प्रभाग द्वारा अधिकारी को तब तक अपने यहाँ ही रखा जाता है। जब तक नियमित तैनाती नहीं हो जाती।

विभिन्न विदेशों की राजधानियों में भारतीय दूतावासों में आई.एफ.एस. अधिकारियों को विदेश भेजा जाता है। अन्य कार्यों के अलावा, दूतावासों का वास्तविक कार्य विदेशों में विकास संबंधी सूचना एकत्र करने के सरकारी केंद्र के रूप में काम करना है। दूतावास वह सूचना एकत्र करते हैं जो संभवतः देश में खुले तौर पर उपलब्ध न हो। सूचना एकत्र करने का कार्य एक विशेषीकृत कार्य का रूप ले चुका है। यह आवश्यक नहीं है कि पेशेवर राजनयिक के रूप में प्रशिक्षित कोई व्यक्ति सेना अथवा कृषि संबंधी जैसी जानकारी एकत्र करने में उपयुक्त ही हो। इसलिए दूतावासों में कृषि अताशे अथवा मिलिट्री अताशे जैसे अधिकारी भी मिलेंगे जोकि उस देश की कषि संबंधी प्रगति अथवा मिलिट्री के विकास संबंधित क्षेत्रों की जानकारी एकत्र करने का विशेषीकृत कार्य करते हैं जहाँ दूतावास–विशेष अवस्थित होता है। अमेरिका और इंग्लैंड, जैसे शक्तिशाली देशों में उद्योग, शिक्षा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी आदि जैसे अन्य क्षेत्रों के अताशे भी होते हैं। इस प्रकार के अताशे भारत की आवश्यकता और जिस देश में। दुतावास है, उसके उल्लेखनीय महत्व के आधार पर होते हैं।

राजनयिक व्यक्तियों से खुले तौर पर दूतावासों द्वारा सूची एकत्र करने के अतिरिक्त. सभी देश अन्य महत्वपूर्ण सूचना पर भी निर्भर करते हैं। यह सूचना देश के प्रतिनिधियों द्वारा गोपनीय तौर पर एकत्र की जाती है। इस प्रकार की सूचना को 'आसूचना कहा जाता है। नीति निर्माण के लिए आसूचना बहुत निर्णायक होती हैं। हम आम तौर पर समाचार–पत्रों में यह पढ़ते हैं कि नीति–निर्धारण में जो असफलता होती है, सामान्य जनता या नीति–निर्माण उसका कारण आसूचना की असफलता बताते हैं। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि 6 मई, 1999 को प्रकाश में आने से बहुत समय पहले पाकिस्तानी सैनिकों ने कारगिल चोटियों पर कब्जा कर लिया था। तब उसे 'आसूचना' की विफलता माना गया था। विदेश आसूचना एकत्र करने के लिए कैबिनेट सचिवालय की एक विशेष एजेंसी है जिसे 'अनुसंधान और विश्लेषण स्कंध' के नाम से जाना जाता है। भारत का यह स्कंध, अमेरिका की सेंट्रल इंटेलीजेंसी एजेंसी (सी.आई.ए) के समकक्ष है। आसूचना ब्यूरो आंतरिक आसूचना एकत्र करता है। जब भी नीति निर्माता आसूचना पर आक्षेप करते हैं तो आसूचना अधिकारी ऐसा अनुभव करते हैं कि वे नीति निर्माताओं की विफलता पर आक्षेप कर रहे हैं और वे स्वयं को बचा नहीं पा रहे हैं। परिणामस्वरूप आसूचना अधिकारी एकत्र की गई आसूचना का समुचित विश्लेषण करने के बाद आसूचना उपलब्ध कराने के स्थान पर सारी आसूचना को प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण अलग–अलग आसूचना एजेंसियाँ बनाने का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता।

4.3 राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद

भारत की विदेशी/राष्ट्रीय सुरक्षा नीति–निर्माण सामान्यतः दो प्रमख कमियों के कारण आहत होती है। एक, काफी अधिक तदर्थता, और दूसरा प्रभावी नीति समन्वय का अभाव। श्रीमती गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में श्री दिनेश सिंह विदेश मंत्री थे। उन्होंने कहा कि उनके कार्यकाल के दौरान विदेश नीति सकारात्मक रूप से भारतीय नीति निर्धारित करने के स्थान पर ज्यादातर अन्य लोगों को उत्तर देने में रही। इसके क्या कारण हैं, इसके लिए हमें दूर जाने की जरूरत नहीं है। नेहरू, श्रीमती गांधी और राजीव गांधी जैसे प्रधानमंत्रियों का यह मानना था कि संकट की प्रत्येक स्थिति में उत्तर दिया जाए। किंतु मंत्री प्रशिक्षित विदेश सेवा अधिकारियों की भाँति कभी भी विशेषज्ञ नहीं हो सकता। उसे मंत्रालय के अधिकारियों द्वारा व्यक्त किए गए विचारों को पर्याप्त महत्व देना चाहिए।

प्रधानमंत्री नेहरू का ऊँचा व्यक्तित्व था और उन्होंने अपने शासनकाल में राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी निर्णय अकेले ही लिया, ज्यादा से ज्यादा कभी–कभी विशिष्ट मुद्दे पर वे एक अथवा

दो विश्वसनीय लोगों से परामर्श कर लेते थे। उन्होंने कभी भी पूर्णकालिक विदेश मंत्री द्य नियुक्त नहीं किया। इसलिए, उदाहरण के लिए उन्होंने 1950 के दशक में अपनी कैबिनेट के कुछ समय रहे रक्षा मंत्री कृष्ण मेनन पर विश्वास किया। श्रीमती गांधी जब आवश्यक होता तो अपनी सरकार के कुछ विश्वसनीय लोगों से परामर्श करती थीं।

शुरू से ही, हमेशा विदेश/राष्ट्रीय सुरक्षा नीति निर्माण की प्रणाली को व्यवस्थित कि जाने के बारे में कुछ हल्की आवाज़ में विचार सामने आते रहे हैं। प्रोफेसर के पी, मि और के. सुब्रह्मण्यम ने सबसे पहले राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद गठित करने का सुझाव दिया था। के. पी. मिश्रा ने विशेषज्ञ सलाहकार समिति की आवश्यकता और नीति नियोजन की भी आवश्यकता को रेखांकित किया। किंतु सुब्रह्मण्यम ने नीति चर्चा परिषद के स्थान पर नीति निर्माण सचिवालय सृजित करने पर जोर दिया। यह मुख्य रूप से इसलिए था क्योंकि सामूहिक नीति निर्माण के लिए कैबिनेट प्रणाली उपलब्ध कराई जाती है। तब उस समय की राजनीतिक मामलों से संबंधित कैबिनेट समिति ने अमेरिका के विचार–विमर्शी निकाय की भाँति राष्ट्रीय सुरक्षा। परिषद पर विचार किया।

किंतु जे.बंद्योपाध्याय ने अपनी कृति मेकिंग ऑफ इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी में अमेरिकी मॉडल पर विदेश नीति परिषद बनाने के पक्ष में विचार व्यक्त किए। किंतु, हम जब भी भारत के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की बात करेंगे तो हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि हमारे कई कार्यपालक हैं और यहाँ सामूहिक नीति–निर्माण तंत्र पहले से ही मौजूद है। लेकिन, अनुभव से पता चलता है कि प्रधानमंत्री अगर ऐसा उचित समझे तो राजनीतिक मामलों से संबंधित कैबिनेट समिति की बैठकें आयोजित नहीं कर सकता।

1991 के बाद नरसिंहराव को (अपने नेतृत्व में) आंतरिक चुनौती का सामना करना पड़ा। उनके नेतृत्व को यह चुनौती तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह ने दी। थी। 1993 के बाद, नरसिंहराव ने राजनीतिक मामलों से संबंधित कैबिनेट समिति की कोई बैठक नहीं बुलाई, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उस बैठक में अर्जुन सिंह आएँ। इसलिए नरसिंहराव के कार्यकाल के दौरान कोई संस्थागत और व्यवस्थित चर्चा नहीं हुई। इसलिए, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद संसद के अधिनियम द्वारा बनाई गई, न कि कार्यकारिणी आदेश के द्वारा सृजित की गई। लोगों की भारी माँग और विशेष तौर पर सभी राजनीतिक दल भारत में नीति निर्माण के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद स्थापित करने के पक्ष में थे। अंततः वाजपेयी सरकार ने 1998 में राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की स्थापना की। प्रधानमंत्री इस परिषद के अध्यक्ष तथा विदेश, रक्षा, गृह और वित्त मंत्रीय एवं योजना आयोग के उपाध्यक्ष इस परिषद के सदस्य हैं। इस परिषद में रक्षा मंत्री के वैज्ञानिक सलाहकार, रक्षा के क्षेत्र में नामित विशेषज्ञ, विदेश सेवा के कुछ सेवानिवृत्त अधिकारी, शिक्षाविद, वरिष्ठ नौकरशाह और सेना प्रमुख जैसे कुछ विशेषज्ञ भी शामिल हैं। चूँकि मंत्री व्यस्त राजनीतिज्ञ होते हैं इसलिए उनके पास सुरक्षा नीति निर्धारण सरीखी समस्याओं पर पहले से ही विचार करने का पर्याप्त समय नहीं होता। यही कारण है कि इसमें सामरिक कोर समूह भी है। इस समूह में तीनों सेनाओं के प्रमुख, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद में शामिल प्रधान विभागों के सचिव, तथा आसूचना ब्यूरो और रॉ के प्रमुख शामिल हैं।

सभा परिषद के लिए सचिवालय की आवश्यकता है, किंतु सरकार ने संयुक्त आसूचना समिति को परिषद के सचिवालय के रूप में दिगणित किया है। वैसे, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की सफलता के लिए ऐसे अधिकारी की आवश्यकता है जो नीति निर्धारण में प्रधानमंत्री की सलाह से सभी संबद्ध पक्षों में समन्वय कर सके। वर्तमान योजना में, प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार के रूप में काम कर रहे हैं। योजना में राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड भी उपलब्ध है। 1998 में जब इस बोर्ड का गठन किया गया था तब इसके 27 सदस्य थे। इनमें शिक्षाविद, पत्रकार, रक्षा विश्लेषक और आम लोगों में विशिष्ट पहचान बनाए हुए व्यक्ति शामिल थे। बोर्ड का गठन करने वालों में के.सुब्रह्मण्य, जे.एन.दीक्षित और कई अन्य जाने–माने लोग शामिल थे। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की अध्यक्षता प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार श्री ब्रजेश मिश्र हैं। और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड के अध्यक्ष थे – श्री के.सुब्रह्मण्यम्। राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड को परमाणु सिद्धांत का मसौदा तैयार करने का पहला काम सौंपा गया था। जब अगस्त 1999 में परमाणु सिद्धांत के विवरण की घोषणा की गई थी, तब यह काम पूरा हुआ था।

इस प्रकार बनाई गई राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद, अनिच्छा से बनाई गई प्रतीत होती है और साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि सरकार इसका पर्याप्त इस्तेमाल नहीं कर रही है। इसकी कुछ सीमाओं का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। पहली, इसे निर्णयन में नियमित रूप से व्यवहार में नहीं लाया जा रहा है। इसके सृजन के पश्चात कारगिल समस्या के उठ खड़े होने के लगभग एक महीने बाद 8 जून 1999 को इस समस्या पर विचार करने के लिए यह पहली बार मिली थी। कारगिल के बाद विदेश नीति संबंधी कई समस्याएँ आईं। जैसे फिजी द्वीप समूह में भारतीय मूल के प्रधानमंत्री को अपदस्थ कर सैनिक शासन परिवर्तन कर दिया गया या फिर श्रीलंका की जातीय समस्या को देखा जा सकता है। जिसके समाधान के लिए श्रीलंका सरकार ने सैनिक हल निकालने की कोशिश की। किंतु इन समस्याओं पर सुरक्षा संबंधी कैबिनेट समिति ने विचार किया। एक अन्य अवसर पर जम्मू और कश्मीर में चुनाव के बाद के परिदृश्य पर विचार करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद अक्तूबर 2002 में बुलाई गई।

राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का इस्तेमाल नहीं करने के बारे में कभी–कभी बहुत ही आश्चर्यजनक तर्क दिए जाते हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद न बुलाए जाने पर अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि यह परिषद केवल सलाहकार बोर्ड है। राष्ट्रीय सुरक्षा पर महत्वपूर्ण निर्णय सुरक्षा संबंधी कैबिनेट समिति में लिए जाते हैं, जोकि एक कैबिनेट उप–समिति है।

यदि यह मानना कि राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद स्वयं में एक सलाहकार बोर्ड है तो प्रश्न यह . उठता है कि राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड में सरकार द्वारा नियुक्त अधिकांश । सेवानिवृत्त अधिकारी हैं जो केंद्र सरकार में कार्यरत थे और नई दिल्ली में रहते हैं। कारगिल समिति यह अध्ययन करने के लिए नियुक्त की गई कि कारगिल समस्या में क्या गलत हुआ और समिति ने यह भी सुझाव देना था कि निर्णयन में किस प्रकार सुधार किया जाए। समिति ने यह सुझाव दिया कि राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद के कार्य को सरल और कारगर बनाया जाए।

दूसरा, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की कार्यकारिणी आदेश के स्थान पर संसद के नियम से इस आधार पर स्थापना की गई थी कि परिषद के बने रहने की पर्याप्त गारंटी रहे। क्योंकि, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, विदेश और

राष्ट्रीय सुरक्षा नीति निर्धारित करने के लिए मिलने वाली राजनीतिक मामलों की कैबिनेट समिति नरसिंहराव के शासनकाल के दौरान 1993 से तीन सालों तक नहीं मिली थी क्योंकि श्री राव नहीं चाहते थे कि तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह इस समिति की बैठक में शामिल हों। हालांकि, यह सही है कि राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की वैधानिक तरीके से स्थापना हुई है, फिर भी यदि प्रधानमंत्री इसकी बैठक नहीं करना चाहते तो इसकी बैठक नहीं बुलाई जा सकती। किंतु ऐसी स्थिति में यदि कोई प्रधानमंत्री के इस दृष्टिकोण से प्रभावित है तो वह इसके विरुद्ध लोगों की राय बना सकता है। तीसरा, नीति निर्धारण में सफल सिद्ध होने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का अपना स्वतंत्र सचिवालय होना चाहिए। संयुक्त आसूचना समिति इस कार्य को पूरा नहीं कर सकती। एक बात यह भी है कि राष्ट्रीय सुरक्षा नीति केवल समन्वित आसूचना (इंटेलीजेंस) नहीं है। यह इससे बढ़कर है। जैसा कि पूर्व–अध्यक्षों ने संयुक्त आसूचना समिति की बैठकों में कहा है कि विभिन्न आसूचना एजेंसियों के निदेशक प्राप्त कच्ची गुप्त जानकारियों के बारे में बताना नहीं चाहते। वे केवल उच्चतम नीति निर्माताओं को ये जानकारियाँ देने के इच्छुक होते हैं। ऐसी स्थिति में रक्षा, विदेश, गृह आदि विभिन्न मंत्रालयों की जानकारियों को जिस तरह से राष्ट्रीय सुरक्षा नीति के साथ समन्वित करने की आवश्यकता होती है वह समन्वयन नहीं किया जा पाता।

चौथा, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद में पूर्णकालिक राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अथवा निदेशक आदि की आवश्यकता है। प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव का काम स्वयं में पूर्णकालिक काम है। जैसा कि पूर्व–प्रधानमंत्री श्री इंद्रकुमार गुजराल का कहना है कि प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव के पास बहुत अधिक काम होता है। इसलिए राष्ट्रीय सुरक्षा के मामलों पर गंभीरता से समन्वयन करने के लिए उसके पास सोचने का समय ही नहीं होता। कारगिल समिति ने भी स्वतंत्र राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार नियुक्त करने की सिफारिश की थी।

पाँचवाँ, राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड में ज्यादातर नई दिल्ली में रहने वाले विदेश सेवा के सेवानिवृत्त अधिकार और सैनिक अधिकारी हैं जबकि राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रादेशिक पक्ष भी है। नई दिल्ली में रहने वाले सदस्य को नीति की प्रादेशिक संवेदनशीलता को यह बोध नहीं हो सकता कि इससे क्षेत्र के लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। उदाहरण के लिए, यदि श्रीलंका में जातीय समस्या पर भारत की नीति पर राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड में विचार किया जाता है तो बेहतर यह होगा कि इस चर्चा में क्षेत्र की संवेदनशीलता पर गंभीर विचार करने के लिए कोई प्रतिनिधि अवश्य हों। यदि कोई व्यक्ति उस क्षेत्र से संबंधित हो, किंतु अगर दिल्ली में रहता हो तो संकट की स्थिति में अपने मत को व्यक्त करने के लिए वह दूसरा विकल्प होगा।

राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद को मज़बूत करने के लिए किसी भी प्रकार के सकारात्मक सुझाव को वर्तमान नौकरशाही द्वारा स्वीकार नहीं किए जाने की भी समस्या है क्योंकि वे अपनी व्यक्तिगत शक्तियों को कम नहीं करना चाहते हैं।

4.4 प्रधानमंत्री का कार्यालय

यह सर्वज्ञात है कि संसदीय सरकार कैबिनेट सरकार बन गई और फिर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद समय बीतने के साथ–साथ धीरे प्रधानमंत्रित्व सरकार बन गई। तब से सभी नीतिगत निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में प्रधानमंत्री का स्थान महत्वपूर्ण बन गया। इस प्रकार, विदेश नीति निर्माण सहित नीति निर्धारण में प्रधानमंत्री कार्यालय की प्रमुख भूमिका होती है। किंतु शक्तिशाली होने के बावजूद प्रधानमंत्री, विदेश नीति से संबंधित प्रत्येक मामले में निर्णय नहीं ले सकता। स्वाभाविक है कि केवल उन्हीं मामलों को प्रधानमंत्री कार्यालय में निपटाया जा सकता है जिन्हें प्रधानमंत्री भारत की सुरक्षा, विदेश नीति लक्ष्यों अथवा आर्थिक विकास अथवा देश में उनके दल की विचारधारा को मज़बूत करने एवं उसकी अपनी शक्ति और मान–सम्मान की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझे।

लाल बहादुर शास्त्री ने प्रधानमंत्री सचिवालय की स्थापना की थी। यह सचिवालय बाद में जब वे प्रधानमंत्री बने तो 1964 में प्रधानमंत्री कार्यालय बन गया। वे स्वयं विदेशी मामलों से बहुत अच्छी तरह से परिचित नहीं थे। सर्वप्रथम उन्होंने पूर्णकालिक विदेश मंत्री को नियुक्त किया। नेहरू विदेश मंत्रालय को स्वयं देखते थे, इसलिए स्वाभाविक था कि वे अपने कार्यालय के माध्यम से विदेश नीति संबंधी कार्य देखते थे। शास्त्री ने विदेश नीति का आकलन करने के लिए वरिष्ठ सिविल सेवक एल.के.झा की योग्यता का उपयोग किया।

प्रधानमंत्री कार्यालय द्वारा प्रमुख भूमिका निभाने की प्रवृत्ति श्रीमती गांधी के कार्यकाल के दौरान रही है। श्रीमती गांधी ने कुछ समय (1967–70) तक विदेश मंत्रालय का काम भी देखा और बाद में उन्होंने अलग से विदेश मंत्रियों की नियुक्ति की। उनकी शक्ति की पराकाष्ठा पाकिस्तान के साथ 1971 में बांग्लादेश युद्ध के दौरान रही। उनके कार्यालय में पी.एन. हक्सर और डी.पी.धर जैसे विश्वसनीय सहायक थे। उन्होंने बांग्लादेश संकट पर विदेश शक्तियों के साथ बातचीत की, युद्ध की विस्तृत योजना बनाई, पाकिस्तान की हार के साथ युद्ध की समाप्ति के बाद शिमला में निपुणता के साथ समझौते की बातचीत की और 1972 में शिमला समझौता किया।

प्रधानमंत्री कार्यालय में अनेक संयुक्त सचिव, उप–सचिव, विशेष कार्य अधिकारी और अन्य अधिकारी होते हैं। इनमें से प्रत्येक अधिकारी, प्रधानमंत्री के कार्यालय से संबंधित अलग अलग कामों को देखता है।

वर्तमान राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (एन.डी.ए.) सरकार में नीति–निर्माण में प्रधानमंत्री कार्यालय धीरे–धीरे शक्तिशाली बन गया है। सामान्यतः प्रधानमंत्री के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार को भारत की विदेश नीति को लोगों के सामने प्रस्तुत करने में शामिल नहीं किया जाता क्योंकि यह कार्य प्रधानमंत्री अथवा विदेश मंत्री अथवा विदेश सचिव का होता है। किंतु पहली बार ऐसा हुआ है कि प्रधानमंत्री के प्रधान सचिव ब्रजेश मिश्र ने न केवल विदेश नीति के विभिन्न मुद्दों पर विचार–विमर्श किया, बल्कि कई अवसरों पर लोक नीति निर्णय भी सुनाए। अन्य देशों की यात्राओं के दौरान, उन्होंने महत्वपूर्ण विदेश नीति निर्णयों के संकेत दिए। जैसे, मई 2003 में वॉशिंगटन में अमेरिकी यहूदियों के समूह को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि आतंकवाद के खतरे का भारत, अमेरिका और इज़राइल मिलकर सामना करेंगे। इसने मीडिया को यह प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए उत्तेजित किया कि राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार, विदेश मंत्री से बढ़कर हो गए हैं या उनसे कहीं अधिक महत्व रखते हैं।

4.5 संसद

आपने पिछले भाग में यह जानकारी प्राप्त की कि विदेश नीति निर्धारण में प्रधानमंत्री कार्यालय की क्या भूमिका है। ऐसे में प्रश्न यह उभरता है कि यदि उपर्युक्त कार्यकारी शाखा के भीतर विदेश नीति निर्धारण का संक्षिप्त विवरण है तो फिर संसद की क्या भूमिका है? क्या विदेश नीति संबंधी निर्णय लेने में संसद भी कोई भूमिका निभाती है? जैसा कि आप जानते ही हैं कि संसद, लोगों का प्रतिनिधित्व निकाय है। इसलिए विदेश नीति सहित सरकारी नीति निर्माण पर अंततः संसद का ही नियंत्रण होता है। जैसा कि राजनयिक, वाणिज्य और व्यापार प्रतिनिधित्व, युद्ध और शांति, संयुक्त राष्ट्र, नागरिकता, देशीयकरण आदि संघ सूची में शामिल विदेश नीति संबंधी कई मामलों में विधान बनाने का अधिकार केवल संसद को ही है।

संधियों को अनुमोदित करने की शक्ति संसद को है। किंतु संधियों की मूल विषय–वस्तु का निर्धारण केंद्र सरकार करती है और फिर संसद से उसका अनुमोदन प्राप्त करती है। भारत–सोवियत शांति और मैत्री संधि के मामले में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने 9 अगस्त 1971 में संधि पर हस्ताक्षर होने से एक घंटा पहले संसद को इस संधि के बारे में सूचित किया था। राजनीतिक दृष्टि से संधियों के अनुमोदन का मामला प्रधानमंत्री के बहुमत समर्थन पर निर्भर करता है। वैसे, श्रीमती गांधी के कार्यकाल के दौरान, उनके निर्णय पर किसी ने भी कोई प्रश्न नहीं उठाया। प्रो.अप्पादुरै ने डोमेस्टिक रूट्स ऑफ इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी में विस्तार से यह चर्चा की है कि नेहरू जी के शासनकाल के दौरान संसद ने भारत की चीन संबंधी नीति पर अपने प्रभाव का किस प्रकार इस्तेमाल किया। संसद और राष्ट्रपति के दबाव में पंडित नेहरू को कृष्ण मेनन को रक्षा मंत्री के पद से हटाना पड़ा। संसद के प्रभाव का दूसरा उदाहरण अक्तूबर 1962 के सीमा युद्ध के बाद चीनी प्रोपोगंडा से निपटने के लिए मार्च 1963 में आकाशवाणी के लिए सरकार द्वारा वॉयस ऑफ अमेरिका (वी.ओ.ए.) से उच्च शक्ति वाला ट्रांसमीटर लेने का मामला रहा। समझौते में वॉयस ऑफ अमेरिका के साथ समय बाँटने से संबंधित एक यह खंड था। किंतु तत्कालीन कम्युनिस्ट सांसद इसके कड़े विरोधी थे जिसके मूल में भारत के राष्ट्रीय हित की रक्षा करने के स्थान पर उनकी अमेरिका–विरोधी थी। इस विरोध के चलते अंततः सरकार को पूरी योजना को त्याग देना पड़ा। इन उदाहरणों से यह तर्क दिया जा सकता है कि नीति निर्णय लेने के बाद यह कदम उठाया। दूसरा, संसद मेनन को हटाने में इसलिए कामयाब हुई क्योंकि 1962 में भारत–चीन युद्ध में भारत की हार हुई थी। सामान्य स्थितियों में संसद के लिए इस प्रकार की शक्तियों का निश्चयपूर्वक प्रयोग करना कठिन होता है। जैसा कि हम देख रहे हैं, 1996 से गठबंधन सरकारों का दौर चल रहा है। गठबंधन सरकार में लोगों के प्रतिनिधियों को विश्वास में लेना प्रधानमंत्री के लिए विवेकपूर्ण होता है। मार्च, 2003 में इराक के विरुद्ध अमेरिकी नेतृत्व वाले गठबंधन ने द्वितीय खाडी युद्ध के दौरान एन.डी.ए. सरकार प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के कड़े शब्दों के द्वारा यह के विरुद्ध अमेरिका को दोषी न ठहराने तथा साथ ही ज्यादा लोगों का संहार करने वाले हथियारों को नष्ट करने के लिए संयुक्त राष्ट्र के साथ इराक को सहयोग करने वाले 'मध्य मार्ग के पक्ष में थी। किंतु संसद ने इराक में अमेरिकी सैनिक हस्तक्षेप पर निंदा/खेद प्रकट करने के प्रस्ताव को अंगीकृत करने पर ज़ोर दिया। अंततः इसके लिए अंग्रेज़ी के अपेक्षाकृत भारी शब्द 'Condemn' के स्थान पर हिंदी भाषा के 'ninda' (निंदा) शब्द का इस्तेमाल किया।

गठबंधन सरकार के लिए यह पहला अवसर नहीं था जब उसे नीति निर्धारण में इस प्रकार की परेशानी का सामना करना पड़ा। पहले खाड़ी युद्ध के दौरान 1991 में चंद्रशेखर प्रधानमंत्री थे। प्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने अमेरिकी वायुसेना के हवाई जहाज़ों को मुंबई हवाई अड्डे पर ईंधन भरने की अनुमति दी थी। किंतु जब यह बात आम लोगों को पता चली तो सांसदों ने इसका विरोध किया। चूंकि उस दौरान किसी भी समय चुनाव हो सकते थे, इसलिए चंद्रशेखर सरकार को बाहर से समर्थन कर रही कांग्रेस पार्टी को इससे मुस्लिम मतदाताओं पर इसका प्रभाव पड़ने के कारण इस पर चिंता व्यक्त की। तब, बाद में संसद में चर्चा के बाद अमेरिकी वायुसेना के हवाई जहाज़ों को ईंधन भरने की अनुमति देने में परिवर्तन किया गया।

दूसरा, विदेश नीति और देश में राष्ट्रीय सुरक्षा प्रतिष्ठानों को चलाने के लिए धन खर्च करने पर संसद का नियंत्रण होता है। किंतु इस विनियोजित निधि पर संसदीय नियंत्रण औपचारिक है। विदेश और रक्षा जैसे मंत्रियों के लिए बजट और विनेयाजन संसद में अक्सर हड़बड़ी में पारित किया जाता है। अनुभवी सांसद मधु दंडवों ने एक बार लिखा था कि 85 से 87 प्रतिशत बजट प्रस्ताव बिना किसी बहस के अनुमोदित कर दिए जाते। हैं। यह वास्तव में बहुत ही खेदजनक स्थिति है और देश के उस लोकतंत्रीय सिद्धांत को प्रभावित करती है जिसमें वित्त के ऊपर नियंत्रण स्थापित करके संसद कार्यकारी शाखा को नियंत्रित करती है।

सांसदों को राष्ट्र की सशस्त्र सेनाओं की वित्तीय जरूरतों के बारे में ज्यादा चिंता नहीं होती 1959–60 के दौरान, उस समय कम्युनिस्ट चीन से राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा था किन्तु तत्कालिन रक्षा मंत्री कृष्ण मेनन ने रक्षा बजट में 25 करोड़ रुपए की कटौती का प्रस्ताव किया था। सांसदों ने इसका कतई विरोध नहीं किया था। दूसरी ओर, 1987.88 में रक्षा बजट 12,512 करोड़ रुपए था, जोकि उस समय तक का सबसे ज्यादा रक्षा बजट था। इस पर चर्चा करते हुए सांसदों ने रक्षा बजट में अचानक बढ़ोत्तरी पर प्रश्न करने में बहुत हल्का रुख अपनाया। जब एक सांसद ने प्रश्न किया तो तत्कालीन प्रधानमंत्री ने उस सदस्य को यह कहते हुए चुप करा दिया कि रक्षा–बजट पर प्रश्न करने वाला राष्ट्र–विरोधी है।

संसदीय प्रभाव का तीसरा क्षेत्र, नीति संबधी मामलों पर चर्चा है। संसद में सांसद विदेश मामलों में भी ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, स्थगन, प्रश्न आदि जैसी चर्चा आरंभ कराने वाली संसदीय युक्तियाँ अपना सकते हैं। किंतु विदेश नीति संबंधी मुद्दे पर संसद में सरसरी तौर पर ही बहस और चर्चा होती है। सांसदों की सामान्य ग्रामीण पृष्ठभूमि और अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सामान्य शिक्षा के निम्न स्तर के बावजूद सांसदों में रुचि की कमी के दो प्रमुख कारण हैं। पहला कारण यह है कि सच्चाई यह है कि संसद एक बहुत बड़ा निकाय है . लोकसभा के 500 से अधिक सदस्य हैं और राज्यसभा के 250 – जो प्रभावी ढंग से नीति का निर्माण नहीं कर सकते, निर्णय लेने की तो बात ही क्या है।

यदि संसद द्वारा राष्ट्र की नीति न बना पाने का एक कारण उसके सदस्यों की ज्यादा संख्या है तो दूसरा कारण यह है कि उसके सदस्यों की संसद में विदेश और रक्षा संबंधी मामलों को उठाने की मूलभूत राजनीतिक रुचि नहीं है। विदेश मामलों में प्रभावी सांसद की अच्छी भूमिका निभाने के बावजूद उसे अगले चुनावों में कुछ ज्यादा वोट नहीं मिलते। दूसरी ओर, यदि कोई सांसद अपने संसदीय निर्वाचन क्षेत्र में आयुध डिपो अथवा हथियार बनाने की फैक्टरी लगवाने में सफल रहता है तो वह लोगों के लिए रोज़गार के अवसर पैदा करेगा और अपने निर्वाचन क्षेत्र के और अधिक मतदाताओं से मत प्राप्त कर सकेगा। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्रभावी चर्चा और सरकार को वैकल्पिक नीति विकल्प सुझाने के लिए सांसदों में ज्ञान और सूचना का अभाव होता है। यह ऐसी बाधा नहीं है जिसे पार नहीं किया जा सकता – यदि उन्हें विशेषज्ञ सलाह दी जाए तो वे विदेश नीति पर प्रभावी ढंग से चर्चा कर सकते हैं। किंतु सदैव राजनीतिक इच्छा–शक्ति का अभाव देखा जाता है।

फिर भी, नीति के आम मानदंड निर्धारित करने में संसद मोटे तौर पर प्रभाव डालती है और इसके बिना सरकार चल नहीं सकती। कभी–कभी देश की विदेश नीति की दिशा निर्धारित करने में संसद का काफी प्रभाव पड़ता है। हालांकि विदेश मंत्री एक सांसद होता है, फिर भी विदेश मंत्रालय अथवा विदेश नीति निर्धारण अथवा संसद में कोई मज़बूत संपर्क–सूत्र नहीं हैं – केवल विदेश मामलों की संसदीय सलाहकार समिति ही संपर्क सूत्र है। इसी प्रकार रक्षा से संबंधित समिति भी है।

4.5.1 संसदीय समितियाँ

प्रत्येक मंत्री की सहायता के लिए संसद ने परामर्शदात्री समितियाँ बनाई हैं। जब संबद्ध मंत्री को उपयुक्त प्रतीत होता है तो वह परामर्शदात्री समिति की बैठक बुलाता है। चूंकि इन समितियों का अपना कोई स्वतंत्र संचालन नहीं होता, इसलिए विदेश मंत्री पहले से ही घोषित नीति को स्पष्ट करने अथवा उस पर चर्चा करने के लिए समिति की बैठक बुलाता है। परामर्शदात्री समिति में कोई भी नए मुद्दे नहीं उठाए जाते। प्रधानमंत्री पं.नेहरू स्वयं विदेश मंत्री भी थे, इसलिए वे परामर्शदात्री समिति को प्रभावशाली निकाय अथवा विचारक समाज के रूप में इस्तेमाल करते थे।

किंतु श्रीमती गांधी के शासनकाल के शुरू में विदेश मामलों की परामर्शदात्री समिति की अपेक्षाकृत अधिक बैठक बुलाई जाती थीं। किंतु 1971 के आम चुनावों के बाद जब उन्होंने अपनी शक्ति को समेकित कर लिया तो विदेश मामलों की परामर्शदात्री समिति को ज्यादा महत्व नहीं दिया। इसका एक प्रमाण यह था कि 1971 की भारत–सोवियत मैत्री और सहयोग संधि पर बिल्कुल चर्चा नहीं हुई थी। इस संधि पर हस्ताक्षर करने से पूर्व अथवा बाद में कोई परामर्शदात्री समिति की बैठक नहीं हुई थी, जबकि संधि प्रस्ताव कुछ वर्षों तक श्रीमती गांधी के पास ही था। इसी प्रकार, 2 जुलाई, 1972 को शिमला समझौता हुआ और इसकी उसी वर्ष 28 जुलाई को भारत द्वारा पुष्टि की गई। किंतु बंद्योपाध्याय ने यह संकेत किया है कि समझौता होने के बाद 3 जुलाई को और फिर समझौते की पुष्टि होने के एक महीने के बाद 28

अगस्त को परामर्शदात्री समिति की बैठकें तो हुई थीं किंतु इन दोनों ही बैठकों में शिमला समझौते का कार्य–सूची में विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया गया था। किंतु आकलन समिति, लोक लेखा समिति और लोक आश्वास समिति जैसे संसद की स्थायी समितियाँ हैं, जिन्हें विशेष सांविधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। ये समितियाँ विदेश और रक्षा नीति की कार्यशीलता से संबंधित मुद्दों की जाँच करती हैं और कर सकती हैं।

उदाहरण के लिए, 1976–77 में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में आकलन समिति ने विदेशों में दूतावासों के काम करने की जाँच की। इसी प्रकार, लोक लेखा समिति और लोक आश्वासन समिति जैसी अन्य समितियों ने विदेश संबंधी मामलों को लागू करने वाले एजेंसियों के लेखों की जाँच की अथवा संसद के दोनों सदनों में आश्वासन दिया।

किंतु 1970 और 1980 के दशकों के दौरान कई विदेश नीति विद्वानों ने विदेश संबंधी मामलों और रक्षा पर चर्चा करने के लिए स्थायी समिति स्थापित करने की आवश्यकता का सुझाव दिया था। किंतु राजनीतिक वर्ग का यह मानना रहा है कि संसदीय समिति प्रणाली अमेरिका जैसी राष्ट्रपति प्रणाली के तो अनुकूल है किंतु संसदीय सरकार के अनुकूल नहीं है। फिर भी, कुछ विदेश नीति विशेषज्ञों की लगातार लॉबिंग के बाद अंततः सरकार ने विदेश मामलों और रक्षा से संबंधित संसदीय समितियाँ गठित करने का निर्णय लिया। ये समितियाँ 1991 में स्थापित की गईं।

इस प्रकार, 1991 में विदेश मामलों और रक्षा के क्षेत्र में संसदीय समितियों की स्थापना के बाद विदेश नीति बनाने में संसद की भूमिका में धीरे–धीरे परिवर्तन हुआ। इन्हें चयन समितियां के नाम से जाना जाता है। ये न तो सलाहकार समितियाँ है और न ही परामर्शदात्री समितियाँ। विदेश और रक्षा मंत्रालय जैसे संबद्ध विभागों बजट की क्रमशः संवीक्षा करना इन समितियों का कार्य है। सदन में बजट प्रस्तुत करने के बाद सामान्यतः लोकसभा स्थगित हो जाती है। एक महीने के बाद, बजट पर वित करने के लिए संसद दोबारा शुरू होती है।

इसी प्रकार का समान महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि विदेश मामलों और रक्षा से संबंधित संसदीय समिति उन मुद्दों का अध्ययन करती है जिन्हें संसद महत्वपूर्ण समझती है और समिति संसद तथा कार्यपालक/अधिशासी को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती है। कार्यपालक शाखा का यह दायित्व होता है कि वह किए गए कार्य की रिपोर्ट संसद को उदाहरण के लिए, रक्षा विभाग की स्थायी समिति सुरक्षा संबंधी महत्वपूर्ण मामलों को उठाने और सरकार से स्पष्टीकरण प्राप्त करने में सक्रिय रहती है। जैसे, रक्षा संबंधी संसदीय समिति ने 1995 में कहा था कि चीन के साथ बेहतर संबंध होने के बावजद चीन मध्यम और लंबे समय में भारत की प्राथमिक चुनौती है और होगा।'

संसदीय समितियों के कार्य करने के आधार पर निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि इन समितियों की कार्यप्रणाली को और अधिक मज़बूत किए जाने की आवश्यकता है। इस दिशा में एक सुधार यह किया जा सकता है कि इन समितियों को नियमित स्टाफ उपलब्ध कराया जाए। यह स्टाफ मध्यम स्तर के नियमित –आई.एफ.एस. अधिकारी हों। ये स्टाफ सदस्य, समितियों और संसद में चर्चा में शामिल होने वाले मुद्दों का अध्ययन करें। अन्य संभावना यह है कि राजनीतिक दल सेना और विदेश सेवा के ज्यादा से ज्यादा सेवानिवृत्त अधिकारियों को राजनीति में आने और संसद में प्रवेश के लिए प्रोत्साहित करें। सेवाकाल के दौरान के उनके ज्ञान से देश के विदेशी मामलों से संबंधित प्रत्येक मुद्दे का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के लिए संसद को एक संस्था के रूप में मदद मिलेगी।

ये समितियाँ विदेश/रक्षा नीति निर्धारण में संसद की भूमिका निश्चित तौर पर सुधारेंगी। विदेश नीति निर्धारण में उनकी भूमिका को और अधिक मज़बूत किए जाने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में दो सुझाव दिए जा सकते हैं। पहला, उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों को बढ़ाया जाए, और दूसरा इन समितियों को स्थायी विशेषज्ञ स्टाफ उपलब्ध कराया जाए ताकि इन समितियों में सांसद अपनी भूमिका प्रभावी ढंग से निभा सकें।

4.6 सारांश

घरेलू आवश्यकताएँ मोटे तौर पर विदेश नीति निर्णयों की रूपरेखा निर्धारित करती हैं। विदेश नीति निर्माण में लोगों के राजनीतिक प्रतिनिधियों का विदेश नीति निर्णयों में अंततः नियंत्रण रहता है। किंतु भारतीय लोकतंत्र में राजनीतिक रूप से चुने मंत्री, विदेश सेवा .. अधिकारियों के सलाह–मशविरे से ज्यादातर नीति निर्माण करते हैं। इस इकाई में हमने इस प्रकार की विदेश मंत्रालय सरीखी महत्वपूर्ण संस्थाओं की स्थिति का विश्लेषण किया, जिसमें कई वरिष्ठ और कनिष्ठ अधिकार हैं। ये अधिकारी विभिन्न विभागों और अनुभागों के द्वारा विभिन्न महाद्वीपों, क्षेत्रों और संगठनों में संबंधित कार्यों की देर–रेख करते हैं। नौकरशाही के स्तर पर, विदेश मंत्रालय को अध्यक्ष सचिव होता है। विदेश सचिव की सिफारिशें आम तौर पर विदेश मंत्री (जोकि विदेश मंत्रालय का राजनीतिक प्रमुख होता है) द्वारा स्वीकार की जाती हैं। सुरक्षा संबंधी कैबिनेट समिति में कुछ चुने हुए वरिष्ठ मंत्री होते हैं। प्रधानमंत्री, इस समिति का अध्यक्ष होता है और इस समिति में केंद्रीय मंत्री–परिषद के अनुमोदन से पूर्व नीति–निर्णयों को अनुमत किया जाता हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद और उसके सलाहकार बोर्ड तथा प्रधानमंत्री कार्यालय में अन्य महत्व संस्थान हैं जो नीति निर्माण प्रक्रिया में अपना योगदान देते हैं।

संसद जनता का प्रतिनिधित्व करती है और जब देश की विदेश नीति का लोकतंत्रीकरण किया गया था, उसमें संसद का निर्णय अंतिम होता है और विदेश नीति का निर्माण विदेश कार्यालय द्वारा अब गुप्त रूप से नहीं किया जाता। भारत की शक्ति के बढ़ने के साथ–साथ नीति निर्धारण तंत्र में सुधार करने की भी आवश्यकता है। वहीं साथ ही, विदेश मामले और दहा संबंधी संसदीय समितियों के माध्यम से संसद के नियंत्रण को भी व्यवस्थित करने की आवश्यकता है।

4.7 अभ्यास

1. विदेश मंत्रालय की संरचना और कार्यों का परीक्षण कीजिए।
2. राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद स्थापित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? परिषद के कार्यों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. विदेश नीति निर्माण में प्रधानमंत्री कार्यालय के बढ़ते हुए प्रभाव को आप किस प्रकार व्याख्यायित करेंगे?
4. विदेश नीति निर्माण में संसद की भूमिका की चर्चा कीजिए। विदेश नीति निर्माण में संसद की भूमिका को बढ़ाने में संसदीय समितियाँ किस प्रकार सहायता करती हैं?

इकाई–5

विदेश नीति के विकास की प्रक्रिया : राजनीतिक दलों तथा जनसंचार माध्यमों, सामाजिक आंदोलनों, गैर सरकारी संगठनों, व्यापारी वर्ग, प्रवासी भारतीयों और चिंतन समूहों जैसे दबाव समूहों की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 राजनीतिक दल और विदेश नीति

5.2.1 राजनीतिक दलों के घोषणा–पत्र

5.2.2 जनमत और राजनीतिक दल

5.3 दबाव समूह

5.4 जनसंचार माध्यम (मीडिया)

5.4.1 मुद्रित माध्यम

5.4.2 इलेक्ट्रॉनिक माध्यम

5.5 सामाजिक आंदोलन

5.6 गैर–सरकारी संगठन

5.7 व्यापारी वर्ग

5.8 प्रवासी भारतीय

5.9 चिंतन समूह

5.10 सारांश

5.11 अभ्यास

5.1 प्रस्तावना

भारत में औपचारिक रूप से विदेश नीति तैयार करने वालों के सामने विदेश नीति से जुड़ी समस्याएँ कैसे रखी जाती हैं? यह कहना सही होगा कि अधिकतर समस्याएँ तभी सामने आती हैं जब अन्य देश किसी नीति से संबंधित ऐसा कदम उठाते हैं जिससे भारतीय हित प्रभावित होते हैं। तभी भारत अपना रवैया स्पष्ट करता है। श्रीमती इंदिरा गांधी की सरकार में 1967 से 1970 तक विदेश मंत्री रहे दिनेश सिंह के अनुसार भारतीय विदेश नीति 'काम चलाने और पेश आने वाली परिस्थितियों पर प्रतिक्रिया–भर करने की नीति है। इस प्रकार भारतीय विदेश नीति में ज्यादा ज़ोर अन्य देशों के कामों पर प्रतिक्रिया करने पर दिया जाता है। सीमा पार से होने वाले आतंकवाद का ही उदाहरण लें। समाचार पत्रों में आए–दिन छपता रहता है कि एक दिन कश्मीर के किसी एक स्थान पर आतंकवादियों ने 5 निर्दोष लोगों को मार डाला तो किसी अन्य दिन जम्मू में लोग मारे जाते हैं। यह सिलसिला चलता ही रहता है। सरकार को इस पर प्रतिक्रिया प्रकट करनी होती है। और लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार की प्रतिक्रिया के बीच राजनीतिक दल, जन–समूह, मीडिया आदि भी स्थिति को बेहतर बनाने के लिए अपने सुझाव देते हैं।

विदेश नीति से संबंधित पहल सामान्यतया सरकार की ओर से की जाती है। परंतु लोकतांत्रिक देश होने के कारण भारत में विदेश नीति से जुड़े कदम सरकार के औपचारिक तंत्र से बाहर से भी उठाए जाते हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में कहा था – 'विदेश नीति आंतरिक नीति का अनुसरण करेगी।' यद्यपि भारत की विदेश नीति विश्व के अन्य देशों की नीति से जुड़ी हुई है, परंतु वास्तव में विदेश नीति का निर्धारण देश की जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए किया जाता है। इसलिए विदेश नीति के विकास में समाज के योगदान का बहुत महत्व है। यह योगदान कई स्रोतों से होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में आम जनता इस तरह के योगदान का सबसे बड़ा स्रोत होती है। परंतु लोगों की राय मुख्य रूप से राजनीतिक दलों तथा जनसंचार माध्यमों – पत्र पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविज़न आदि – द्वारा व्यक्त की जाती है।

राजनीतिक दलों की मुख्य चिंता सत्ता हासिल करना होती है। राजनीतिक सत्ता हथियाने और उस पर काबिज़ रहने के अपने प्रयासों के अंतर्गत ही राजनीतिक दल विदेश नीति संबंधी समस्याएँ उठाते हैं और नीति–निर्धारण की प्रक्रिया को

प्रभावित करते हैं। इसके अलावा, अन्य लोकतांत्रिक देशों की भाँति भारत में भी कुछ दबाव समूह सक्रिय हैं। ये समूह विदेश नीति के किसी कदम का समर्थन या विरोध कर सकते हैं अथवा वे अपने समर्थकों/ग्राहकों या कार्यक्षेत्रों के अनुरूप नीति प्रस्तावित करते हैं।

इसके साथ–साथ सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं आंदोलनों और गैर–सरकारी संगठनों का भी विदेश नीति निर्धारण में योगदान रहता है। वे बाहरी देशों के प्रति भारत के बर्ताव को भी प्रभावित करते हैं। भारत में विशेषज्ञों के भी कुछ समूह उभर आए हैं जिन्हें चिंतन समूह कहा जाता है। ये समूह विदेश नीति से संबंधित मामलों का गहराई से अध्ययन करके सरकार को उपयुक्त सुझाव देते हैं।

इस इकाई में इन्हीं सब संगठनों का विश्लेषण किया गया है ताकि आप यह समझ सकें कि कौन–कौन से संगठन विदेश नीति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

5.2 राजनीतिक दल और विदेश नीति

भारतीय लोकतंत्र में सरकार में किसी एक, दो या अधिक राजनीतिक दलों का वर्चस्व रहता है। जहाँ दो–दलीय लोकतांत्रिक प्रणाली है वहाँ दूसरा दल विपक्षी दल की भूमिका निभाता है और देश की विदेश नीति को प्रभावित करने की कोशिश भी करता है। सरकार भी विरोधी दल के दृष्टिकोण को समझ लेती है और यह अपने आप में नीति निर्धारण पर प्रभाव बन जाता है। विरोधी दल की नीतिगत घोषणाएँ भी उसके सत्तारूढ़ होने पर लोगों की नीतिगत आकांक्षाएँ बन जाती हैं। उदाहरण के लिए, जब कोई विरोधी दल कहता है कि वह रोज़गार की तलाश में आने वाले बांग्लादेशी लोगों की घुसपैठ पर रोक लगाएगा तो उससे अपेक्षा रहती है कि सरकार में आने पर वह अपना वचन पूरा करे। लोकतंत्र की सार्थकता पर आप कितना भी संदेह करें, यह सच्चाई है कि जो राजनीतिक दल अपने महत्वपूर्ण वायदों को पूरा नहीं करता उसकी जल्दी ही विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। साम्यवादी सरकारों वाले देशों पर यह बात लागू नहीं होती क्योंकि अकेली कम्युनिस्ट पार्टी ही विदेश नीति तय करती है। भारत की तरह जहाँ बहुत सारे राजनीतिक दल हैं, वहाँ उनका प्रभाव सरकार के साथ उसकी निकटता पर आधारित होता है।

अब यह देखना है कि भारत में राजनीतिक दलों की क्या भूमिका है? स्वतंत्रता से पहले, विशेषकर 1930 के दशक से ही राजनीतिक दलों का अस्तित्व रहा है, परंतु उपनिवेशवादी इंग्लैंड का ही भारत की विदेश नीति पर नियंत्रण था, इसलिए विदेश नीति का निर्धारण तो दूर उसे प्रभावित करने में भी भारतीयों द्वारा गठित राजनीतिक दलों का कोई योगदान नहीं था। परंतु इन दलों ने अपने उद्देश्यों के अनुरूप भारत के विदेशी संबंधों के व्यापक मानदंडों के निर्धारण को प्रभावित किया। यों भी कहा जा सकता है कि उन्होंने सत्ता केंद्र की बजाय दबाव समूह के रूप में काम किया।

यही कारण है कि कांग्रेस ने अंतर्राष्ट्रीय मामलों में लोकतंत्र–समर्थक रवैया अपनाया जबकि समाजवादी दल समाजवाद के पक्ष में रहे। परंतु हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग जैसी संकीर्णतावादी पार्टियाँ केवल हिंदुओं और मुलसमानों के हितों की बात करती रहीं। कम्युनिस्टों ने साम्यवाद–समर्थक रुख अपनाया। इस सबके बावजूद ये दल साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के खिलाफ रहे और उन्होंने एशिया पर यूरोपीय नियंत्रण और दक्षिण एशिया में ब्रिटिश नीति का विरोध किया।

कांग्रेस ने सत्ता के प्रारंभिक वर्षों में साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नस्लवाद के विरोध पर बल दिया। कांग्रेस के विदेश नीति उद्देश्य वही हैं जिनका जिक्र कांग्रेस कार्यकारिणी के 1948 के अधिवेशन में किया गया था। स्वतंत्र भारत की विदेश नीति उन्हीं सिद्धांतों पर आधारित बनी, जिन पर कांग्रेस पिछले वर्षों में अमल करती रही थी। ये सिद्धांत हैं – विश्व शांति को बढ़ावा, सभी देशों की स्वतंत्रता, नस्ल संबंधी समानता और साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का उन्मूलन। कांग्रेस विशेष रूप से एशिया और अफ्रीका के उन देशों की आज़ादी के पक्ष में थी जो कई पीढ़ियों से तरह–तरह के उपनिवेशवाद का बोझ झेल रहे थे। भारत की विदेश नीति का यह सतत उद्देश्य होना चाहिए कि सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण और सहयोगात्मक संबंध बनाए जाएँ, देश सैनिक गुटों तथा इसी तरह के अन्य ऐसे गठबंधनों के चंगुल में न फंसे जो विश्व को प्रतिद्वंद्वी गुटों में बाँटकर विश्व शांति के लिए खतरे पैदा करते हैं। विदेशी मामलों तथा देश के आर्थिक विकास में कार्य करने की स्वतंत्रता कायम रखते हुए भारत को संयुक्त राष्ट्र के सदस्य के रूप में शांति और स्वतंत्रता बनाए रखने में अन्य देशों से सहयोग करने का काम जारी रखना चाहिए। 1980 के दशक त कांग्रेस की विदेश नीति इन्हीं सिद्धांतों से निर्देशित होती रही।

किसी भी निश्चित समय पर सरकार किसी न किसी दल द्वारा नियंत्रित रहती है। स्वतंत्रता के पश्चात 1977 तक और उसके बाद 1980 से 1986 तक केंद्र सरकार पर कांग्रेस का वर्चस्व रहा। कांग्रेस अपने अधिवेशनों में उस समय की विदेश नीति संबंधी मामलों पर विचार करती रही और पार्टी की सहमति के आधार पर प्रस्ताव पारित किए गए।

भारत की विदेश नीति की नींव देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने डाली। उनका मूल सिद्धांत था – गुटनिरपेक्षता, यानी एक नवोदित राष्ट्र के रूप में भारत सोवियत संघ तथा अमेरिका के नेतृत्व वाले किसी भी गुट में

शामिल नहीं होगा। कांग्रेस पार्टी गुटनिरपेक्षता की मुखर प्रवक्ता बन गई। अन्य अधिकतर पार्टियाँ इस नीति में मामूली मीन–मेख निकालती थी या उसके अमल की आलोचना ही कर पाती थीं।

केंद्र में बनी पहली गैर–कांग्रेस सरकार 1977 में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी सरकार थी। विपक्ष में रहते हुए देसाई गुटनिरपेक्षता की नीति के हमेशा आलोचक रहे। परंतु जनता पार्टी सरकार अपनी विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता से पहले 'वास्तविक शब्द जोड़ने से अधिक कोई परिवर्तन नहीं कर पाई और वह कांग्रेस द्वारा निर्धारित विदेश नीति का ही पालन करती रही।

परंतु समय बीतने के साथ–साथ कांग्रेस पार्टी अपने अधिवेशनों में गुटनिरपेक्षता की नीति में अपनी आस्था व्यक्त करती रही। 1991 में सोवियत गुट के बिखर जाने के बाद गुटनिरपेक्षता की नीति पर प्रश्न–चिह्न लगने लगा। 1993 में तिरुपति अधिवेशन में कांग्रेस ने गुटनिरपेक्षता की नीति में अपना विश्वास दोहराया। तत्कालीन प्रधानमंत्री नरसिंहाराव ने इसके समर्थन में ज़ोरदार भाषण दिया। 1996 के चुनाव के बाद सत्ता संभालने वाली संयुक्त मोर्चा सरकार ने भी गुटनिरपेक्षता की नीति के अनुसरण का संकल्प व्यक्त किया। परंतु 1998 में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में 12 दलों के गठबंधन की सरकार ने अपने एजेंडे में गुटनिरपेक्षता का उल्लेख नहीं किया।

भारतीय जनता पार्टी और उसका पूर्ववर्ती रूप भारतीय जनसंघ इस बात के पक्षधर रहे है कि देश के पास राष्ट्रीय सुरक्षा के हथियार के रूप में परमाणु बम होना चाहिए। 1991 के अपने चुनाव घोषणा–पत्र में भारतीय जनता पार्टी ने कहा कि यदि वह सत्ता में आई तो वह भारतीय सेनाओं को 'परमाणु क्षमता प्रदान करेगी। 1998 में वह 12 अन्य दलों के गठबंधन की मुख्य पार्टी के रूप में सत्ता में आई। गठबंधन ने शासन का राष्ट्रीय एजेंडा जारी किया। एजेंडे में राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद गठित करने का वायदा किया गया। ऐजेंडे में कहा गया, 'यह परिषद देश की अब तक की पहली सामरिक सुरक्षा समीक्षा करेगी।

उस समय तक बची एकमात्र महाशक्ति अमेरिका यह देखने के लिए गठबंधन की गतिविधियों की निगरानी करता रहा कि क्या भारत सरकार परमाणु परीक्षण करेगी। मई 1998 में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार ने पोखरण में परमाणु परीक्षण किए और भारत को परमाणु–शस्त्र संपन्न घोषित कर दिया। इससे अमेरिका को गहरा धक्का लगा। अमेरिका शायद यह सोच रहा था कि भारत परमाणु हथियार बनाने से पहले सामरिक रक्षा समीक्षा करेगा परंतु भारत सरकार ने परमाणु बम के परीक्षण का निर्णय कोई अचानक ही नहीं ले लिया था। ऊपर बताए गए एजेंडे में कहा गया – 'देश की सुरक्षा, क्षेत्रीय अखंडता और एकता को बनाए रखने के लिए हम सब तरह के उपाय करेंगे और सभी उपलब्ध विकल्पों का इस्तेमाल करेंगे। इस उद्देश्य के लिए हम परमाणु नीति का पुनर्मूल्यांकन करेंगे और परमाणु शस्त्र बनाने के विकल्प का उपयोग करेंगे।

5.2.1 राजनीतिक दलों के घोषणा–पत्र

राजनीतिक दल जिन मुख्य तरीकों से विदेश नीति के निर्धारण को प्रभावित करते हैं। उनमें से एक है – चुनाव के समय जारी किए जाने वाले घोषणा–पत्र। सनकी लोगों का कहना है कि चुनाव घोषणा–पत्र रेलवे प्लेटफॉर्म की तरह है (अमेरिका में चुनाव घोषणा के लिए प्लेटफॉर्म शब्द ही इस्तेमाल होता है), जो रेलगाड़ी में चढ़ने (राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता में आने के लिए) के खास मकसद के लिए काम में लाया जाता है और बाद में सभी प्लेटफॉर्म को भूल जाते हैं। परंतु कई बार घोषणा–पत्र में उठाए गए मसले अपने पक्ष में लोकमत बनाने के आधार बन जाते हैं।

उदाहरण के लिए, कांग्रेस ने 1980 के चुनावों के लिए अपने घोषणा–पत्र में कहा कि यदि वह सत्ता में आई तो वह कंपूचिया में वियतनाम द्वारा खड़ी की गई हैंग सैमेरिन सरकार को मान्यता देगी। जनवरी, 1980 में श्रीमती इंदिरा गांधी सत्ता में आ गईं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भी इस बात पर ज़ोर दिया था। संसद में पार्टी के सदस्य यह मामला उठाकर सरकार पर दबाव बनाने लगे जिसके फलस्वरूप श्रीमती गांधी को जुलाई, 1980 में हैंग सैमेरिन सरकार को मान्यता देती पड़ी।

भारतीय जनता पार्टी ने 1998 में अपने चुनाव घोषणा–पत्र में नीति निर्धारण के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद गठित करने की बात कही। उस समय सभी बड़े दलों के चुनाव घोषणा–पत्रों में राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद के गठन की चर्चा की गई थी। वास्तव में यह विचार 1989 में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाले जनता दल की ओर से सबसे पहले लाया गया था। बुद्धिजीवी तथा रक्षा विशेषज्ञ विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार से मांग करने लगे कि वह अपना वायदा पूरा करे। अक्तूबर 1990 में पहली बार विश्वनाथ प्रताप सिंह ने राष्ट्रीय परिषद का गठन किया। कांग्रेस ने भी इस बारे में वायदा किया परंतु 1991 से 1995 तक 5 वर्ष तक सत्ता में रहने के दौरान उसने इस पर अमल नहीं किया। 1996 में संयुक्त मोर्चा सरकार सत्ता में आई परंतु उसने भी राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद नहीं बनाई, हालांकि उसने भी ऐसा करने का वायदा किया था।

इसके बाद, भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन सरकार बनी, द्य जिसने शासन के अपने राष्ट्रीय एजेंडे में देश को सैनिक, आर्थिक और राजनीतिक खतरों का विश्लेषण करने और सरकार को लगातार परामर्श

देने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद के गठन' का वायदा किया। परिषद का समर्थन करने वाले समूहों ने इसके गठन के लिए सरकार पर दबाव डाला। तब अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में राष्ट्रीय गठबंधन सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा की नीति कारगर ढंग से तैयार करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद का गठन किया।

छोटी पार्टियाँ सरकार का नेतृत्व नहीं कर सकतीं क्योंकि उन्हें संसद में अधिक सीटें नहीं मिल पातीं। परंतु ये पार्टियाँ सत्तारूढ़ सरकार के लिए विदेश नीति के व्यापक मानदंड अवश्य तय कर सकती हैं और करती भी हैं।

5.2.2 जनमत और राजनीतिक दल

राजनीतिक दलों द्वारा निभाई जाने वाली एक और महत्वपूर्ण भूमिका है – किसी खास विदेश नीति के पक्ष में जनमत तैयार करना। उदाहरण के लिए भूतपूर्व राजनीतिक दल स्वतंत्र पार्टी, कांग्रेस (ओ) और जनसंघ तथा बाद में भारतीय जनता पार्टी इज़राइल के साथ राजनयिक संबंध बढ़ाने के अग्रणी पक्षधरों में थे। कांग्रेस (ओ) के नेता और बाद में जनता पार्टी सरकार के प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने इसी नीति को आगे बढ़ाने के लिए इज़राइल के रक्षा मंत्री मोशे डायन के साथ छिपे तौर पर मुलाकात भी की थी। इसके बाद 1992 में कांग्रेस (आई) की नरसिंहाराव सरकार ने इज़राइल के साथ पूर्ण राजनयिक संबंध स्थापित किए।

दूसरी ओर, विपक्षी दल अपने द्वारा समर्थित विदेश नीति के पक्ष में जनमत जुटाते हैं। इस सिलसिले में यह याद रखना होगा कि मुस्लिम लीग और छोटी मुस्लिम पार्टियाँ इज़राइल के साथ राजनयिक संबंध बढ़ाए जाने का ज़ोरदार विरोध करती रही हैं क्योंकि वे पश्चिमी किनारा क्षेत्र में फिलीस्तीन प्रशासन तथा जनता के साथ लगातार टकराव करने के कारण इज़राइल को इस्लाम–विरोधी मानती हैं।

राजनीतिक दलों की मुख्य चिंता होती है सत्ता हासिल करना। वे विदेश मामलों में अपनी सफलताओं को चुनाव प्रचार के दौरान उछालते हैं। परंतु कुछ अपवादों को छोड़कर विदेश नीति संबंधी मुद्दों पर कभी कोई पार्टी चुनाव नहीं जीतती या हारती। फिर भी, सभी प्रमुख राजनीतिक पार्टियों के विशेष प्रकोष्ठ (सेल) होते हैं जो विदेश मामलों से संबंधित मसलों का अध्ययन और अनुसंधान करते हैं, बैठकें बुलाते हैं और प्रचार–सामग्री तैयार करते हैं। इस प्रकार विदेश नीति के निर्धारण में राजनीतिक पार्टियों की भूमिका जारी रहती है।

5.3 दबाव समूह

दबाव समूहों को हित समूह भी कहा जाता है क्योंकि वे किसी हित या हितों के समूहों को बढ़ावा देने के लिए दबाव बनाते हैं। ये दबाव समूह आंतरिक नीति के मामलों की तुलना में विदेश नीति को प्रभावित करने में कमजोर होते हैं। फिर भी, ये समूह कभी–कभी विदेश नीति को प्रभावित करने में भूमिका निभाते हैं। अनेक दबाव समूह हैं जिनमें से कुछ खुल कर तो कुछ छिपे तौर पर काम करते हैं। बहुत से ऐसे संगठन हैं जो भारत तथाा किसी अन्य देश के बीच संबंध बढ़ाने का काम करते हैं। ऐसा ही एक संगठन हुआ करता था – भारत–सोवियत मैत्री संघ। इन संगठनों के संपर्क–सूत्र विदेश मंत्रालय और संसद में रहते हैं। ये संगठन किसी देश के साथ संबंधों को संवारने या बिगाड़ने की दिशा में विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ दबाव समूहों की गतिविधियों के कारण ही 1948 से 1992 तक इज़राइल के साथ भारत के राजनयिक संबंध कायम नहीं हो सके।

5.4 जनसंचार माध्यम (मीडिया)

मीडिया में जनसंचार के विभिन्न माध्यम शामिल हैं। पहला है – मुद्रित माध्यम यानी समाचार–पत्र, पत्रिकाएँ आदि। इसके बाद है रेडियो और टेलीविजन जैसे इलेक्ट्रॉनिक माध्यम। विदेश नीति को प्रभावित करने वाला तीसरा महत्वपूर्ण माध्यम है – इंटरनेट जो, अब बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रहा है। मीडिया ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डालने की भूमिका निभाता है जो नीति निर्धारकों का ध्यान खींचती हैं। जनसंचार माध्यम नीति–निर्धारकों के फैसलों को अपनी टिप्पणियों के साथ जनता तक भी पहुंचाते हैं।

आइए इन जनसंचार माध्यमों पर अधिक विस्तार से चर्चा करें।

5.4.1 मुद्रित माध्यम

समाचार–पत्र सबसे पुराना माध्यम है। नीति–निर्धारक अखबार पढ़ते हैं और उनके जरिए समस्याओं को समझने की कोशिश करते हैं। समाचार–पत्रों के संपादकीय और उनमें छपे .लेख नीति–निर्धारण प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। बहुत–से समाचार–पत्रों के मालिक बड़े व्यापारिक घराने हैं या उनके प्रबंधकों एवं संपादकों के संपर्क मुख्य राजनीतिक दलों के साथ होते हैं। वे खास तरह की नीति या विचारधारा व्यक्त करते हैं जिसका असर पाठकों पर पड़ता है। कुछ पत्र–पत्रिकाएँ अक्सर निष्पक्ष विचारों की उपेक्षा कर पक्षपातपूर्ण विचार छापती हैं। इसका असर भी नीति–निर्धारकों और सांसदों पर पड़ सकता है।

परंतु यह भी सच है कि जनसंचार माध्यम का प्रभाव बहुत सीमित होता है क्योंकि ऐसी सूचना तक उसकी पहुँच बहुत कम होती है जो किसी नीति के लिए वैकल्पिक दृष्टिकोण विकसित कर सके। इसलिए आम तौर पर यह माध्यम नीति

निर्धारकों द्वारा तय की गई नीति की ही चर्चा करता है और ज्यादा हुआ तो उसका समर्थन अथवा विरोध कर सकता है। उदाहरण के लिए, श्रीमती गांधी ने जीवन–भर अमेरिका–विरोधी नीति अपनाई। टाइम्स ऑफ इंडिया ने, जो नेहरू–गांधी शासन के दौरान सरकार समर्थक बना रहा, कभी भी। भारत–अमेरिकी संबंधों में सुधार की आवश्यकता का सुझाव नहीं दिया। परंतु जैसे ही राजीव गांधी ने, जो पश्चिम समर्थक दृष्टि के लिए जाने जाते थे, सत्ता संभाली तो अखबार के संपादक ने ऐसी आवश्यकता का सुझाव देने में देरी नहीं की।

सोवियत संघ के हंगरी (1956), चेकोस्लोवाकिया (1968) या अफगानिस्तान (1979) में सैनिक हस्तक्षेप जैसे विदेश नीति संबंधी संकट के प्रति सरकार के दृष्टिकोण पर प्रेस का कुछ प्रभाव था। प्रेस में हो रही आलोचना पर ध्यान देते हुए ही श्रीमती गांधी ने सोवियत नेताओं को अनौपचारिक तौर पर सूचित किया कि अफगानिस्तान में उसका हस्तक्षेप भारत को स्वीकार्य नहीं है।

हाल के दौर में मीडिया पहले से अधिक दबंग हो गया है। उदाहरण के तौर पर टाइम्स ऑफ इंडिया ने नई पत्रकारिता की शुरुआत की है जिसमें समाचार के साथ ही संपादक के विचार भी प्रस्तुत किए जाते हैं ताकि पाठक समाचार के साथ–साथ विचार का प्रभाव भी ग्रहण कर सके। इस संदर्भ में दो खास उदाहरण दृष्टव्य हैं। पहला उदाहरण यह है कि भारत द्वारा रूस से कुछ रक्षा सामग्री खरीदने के समाचार के बाद अखबार ने लिखा 'पनडुब्बी और बमवर्षक विमान प्राप्त करने के साथ ही भारत की परमाणु तिगड़ी पूरी हो जाएगी – परंतु इससे यह बात भी महत्वपूर्ण हो जाएगी कि यह भयंकर शक्ति प्राप्त हो जाने पर हमें और अधिक संयम बरतना होगा।' दूसरा समाचार लाहौर बस सेवा शुरू करने की भारत की इच्छा के बारे में है। समाचार के एकदम नीचे संपादकीय टिप्पणी छपी थी – 'अटल जी के लिए लाहौर की बस खरीदने से पहले बेहतर होगा कि भारत इस्लामाबाद में उच्चायोग खोले। इन दोनों टिप्पणियों की ध्वनि और शैली से विदेश नीति तैयार करने वालों के लिए खुला इशारा देखा जा सकता है।

5.4.2 इलेक्ट्रॉनिक माध्यम

भारत की विदेश नीति बनाने की प्रक्रिया पर इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों का प्रभाव तेज़ी से बढ़ रहा है। देश में साक्षरता की दर 50 प्रतिशत से कम होने के कारण रेडियो और टेलीविजन की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। जनसंचार नीति के उदारीकरण और निजी टेलीविजन चैनल शुरू हो जाने से जनसंचार के इन माध्यमों से लोगों तक न केवल विदेश नीति संबंधी समाचार पहुँचते हैं बल्कि अलग–अलग लोगों के, जिनमें विदेशी भी शामिल हैं, विचार भी उन्हें पता चलते हैं। जागरूक लोगों के लिए इंटरनेट सूचना के नवीनतम स्रोत के रूप में उभर रहा है। परंतु विदेश नीति के निर्धारण पर इसके प्रभाव के बारे में अभी कुछ कह पाना मुश्किल है।

कई पत्र–पत्रिकाओं की तरह निजी टेलीविजन चैनल भी ऐसे समाचार और विचार प्रसारित करते हैं जिनसे लोगों को दृ ष्टिकोण प्रभावित होता है। नीति निर्धारक चाहे कितने ही निष्पक्ष तथा तटस्थ क्यों न हों, वे कभी–कभी मीडिया की रिपोर्टों के प्रभाव से बचे नहीं रह पाते।

5.5 सामाजिक आंदोलन

भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में बंटा हुआ है। हर सामाजिक समूह, अपने सीमित हितों से प्रेरित होकर विदेश नीति को प्रभावित करने की कोशिश करता है। भारत में मुसलमानों की संख्या लगभग 12 प्रतिशत है और यह बहुत बड़ा समुदाय है। देश के भीतर तथा इस्लामिक देशों के संदर्भ में उनकी गतिविधियाँ विदेश नीति को प्रभावित करती हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय विदेश नीति निर्धारकों ने 1992 तक इज़राइल के साथ केवल वाणिज्य दूतावास के स्तर तक ही राजनयिक संबंध रखे।

ऐसा माना जाता है कि भारतीय मुसलमान मुस्लिम जगत, विशेष कर पाकिस्तान के पक्ष में बोलते हैं। जब अमेरिका ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया तो बहुत से मुस्लिम संगठनों ने कोका कोला जैसे अमेरिकी उत्पादों के बहिष्कार का आह्वान किया। मार्च 2003 में इराक पर अमेरिकी हमले के समय भी यही माँग दोहराई गई। मुस्लिम समुदाय का इस तरह का रवैया निश्चित तौर पर अरब जगत के प्रति सरकार की नीति को प्रभावित करता है। सरकार विश्व–भर में मुस्लिम हितों के खिलाफ कार्रवाई करने से हिचकती है। इसका ठोस रूप से चाहे कोई लाभ या हानि भले ही न हो, परंतु दृष्टिकोण के आधार पर अवश्य फर्क पड़ता है।

यह तथ्य मुंबई के एक मुस्लिम संगठन रज़ा अकादमी द्वारा मई 2003 में जारी बयान से स्पष्ट हो जाता है। ब्रजेश मिश्र ने वाशिंगटन की अपनी यात्रा के दौरान कहा था कि भारत, इज़राइल और अमेरिका को आतंकवाद का मिलकर मुकाबला करना चाहिए। परंतु अकादमी ने तत्काल अपनी प्रतिक्रिया में कहा कि भारत आतंकवाद से निपटने के लिए उनकी मदद नहीं ले सकता जो खुद आतंकवादी हैं।' अकादमी ने इज़राइल के प्रधानमंत्री एरियल शेरोन की प्रस्तावित भारत यात्रा के बारे में भी यह कहते हुए धमकी दी कि इससे कानून और व्यवस्था की समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। इससे जाहिर होता है कि यद्यपि इज़राइल ने भारत को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया है, परंतु भारतीय मुसलमानों ने फिलिस्तीन के साथ इज़राईल के लंबे संघर्ष को अपना मुद्दा बना लिया है।

थियोडोर पी.राइट जैसे कुछ अमेरिकी विद्वान विदेश नीति संबंधी मामलों में मुस्लिम समुदाय के रवैये की तुलना अमेरिका में यहूदी पैरोकारों से करते हैं। अमेरिका में यहूदियों की सोच इज़राइल तथा अरबों के प्रति अमेरिकी नीति को प्रभावित करती है। इसी प्रकार मुस्लिम सामाजिक संगठन अरब देशों के प्रति भारतीय विदेश नीति को प्रभावित करते हैं।

मुस्लिम, हितों को भारतीय समर्थन की यह परंपरा 1919 में खिलाफत आंदोलन को महात्मा गांधी के समर्थन से शुरु हुई। आजादी के बाद 1967 में तत्कालीन विदेश मंत्री एम.सी.छागला ने अन्य मुस्लिम देशों से पहले ही इज़राइल पर अरब देशों के हमले की निंदा कर दी। वैसे श्री छागला अन्य मामलों में अपने समकालीन दूसरे नेताओं से कहीं अधिक धर्मनिरपेक्ष थे।

पिछले दो दशकों में पाकिस्तान द्वारा समर्थित आतंकवाद के कारण विदेश नीति संबंधी मसलों पर मुसलमानों का दृष्टिकोण इसी तरह से प्रभावित हुआ है। उदाहरण के लिए, मुंबई तथा अन्य स्थानों पर पाकिस्तान के जासूसी संगठन आई.एस.आई. की ओर से स्टूडेंट्स इस्लामिक मूवमेंट ऑफ इंडिया (सिमी) द्वारा किए गए बम विस्फोटों को इसी संदर्भ में देखा जा सकता है। ऐसी घटनाओं से अन्य समुदायों के लोग मुसलमानों को । संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं जो सामाजिक सौमनस्य के लिए हानिकारक है।

केवल मुस्लिम समुदाय या मुस्लिम संगठन ही विदेशों में अपने समुदाय के हितों की चिंता नहीं करते, तमिलनाडु में तमिल लोग भी श्रीलंका के प्रति भारत की विदेश नीति को प्रभावित करते रहते हैं क्योंकि श्रीलंका में सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय तमिलों का है। यद्यपि उस समय भारत स्वयं पंजाब में भयंकर उग्रवाद को झेल रहा था, परंतु दक्षिण के तमिल संगठनों ने विदेश नीति के निर्धारकों को श्रीलंका के जातीय विवाद में उलझने को विवश कर दिया था।

कुछ समुदाय या संगठन भले ही विदेश नीति में अवरोध डालते हैं परंतु ऐसे समुदाय भी हैं जो अन्य देशों में भारतीय समुदाय का प्रभाव बढ़ाने में सहायता करते हैं। ऐसे संगठन सरकार की ओर से विदेश नीति के कुछ खास मुद्दों को अपनाने की आवश्यकता के बारे में सरकार की ओर से जागरूकता पैदा करते हैं। भारत ने समूचे विश्व में, विशेष कर दक्षिण तथा दक्षिण–पूर्व एशिया को बौद्ध धर्म प्रदान किया है। भारत में बौद्ध संगठन उन देशों के साथ सांस्कृतिक एवं सामाजिक संबंध बेहतर बनाने की माँग करते हैं जहाँ अधिक आबादी बौद्ध मतावलंबियों की है। भारत सरकार बौद्ध स्थलों तक पर्यटन मार्ग विकसित करना चाहती है। ये संगठन भारत तथा अन्य देशों के बीच सद्भाव पैदा करने की कोशिश करते हैं जिससे सरकार की नीति तैयार करने में कुछ हद तक मदद मिलती है।

5.6 गैर–सरकारी संगठन

स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में देश में अनेक गैर–सरकारी संगठन अस्तित्व में आए हैं। इनमें कई संगठनों की तुलना अमेरिका की लोक कार्य समितियों या एकल समस्या हित समूहों से की जा सकती है। इन गैर–सरकारी संगठनों का प्रभाव देश की विदेश नीति के विकास की प्रक्रिया पर भी होता है। ये संगठन घरेलू नीति में दबाव समूह के रूप में काम करते हुए विदेशों में सक्रिय अपनी तरह के समूहों और विदेश सहायता प्रदान करने वाली एजेंसियों से भी संपर्क करते हैं तथा किसी समस्या विशेष के बारे में वित्तीय सहायता की प्रक्रिया तथा विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है मेधा पाटकर का नर्मदा बचाओ आंदोलन। इस समूह ने विश्व बैंक से नर्मदा सरोवर परियोजना के लिए धन न देने तक का अनुरोध किया।

विदेश नीति निर्धारण में किसी एक समूह का कितना प्रभाव है, इसका सही–सही आकलन कर पाना कठिन है। परंतु विदेश नीति के नए मुद्दों के बारे में इस तरह के संगठन अग्रणी भूमिका निभा रहे हैं। पर्यावरण संरक्षण का ही उदाहरण लें। दिल्ली में सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट नामक एक गैर–सरकारी संगठन है। यह मसला राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय, दोनों स्तरों पर एक–दूसरे से जुड़ा हुआ है। परंतु बहुत से स्वयंसेवी संगठन स्वास्थ्य, शिक्षा, जनसंख्या, मानव अधिकार विशेष कर महिला अधिकार) जैसे विषयों पर काम करते हैं जो आम लोगों के जीवन से जुड़े हैं। ऐसे गैर–सरकारी संगठन अधिक नहीं हैं जो केवल विदेश नीति संबंधी समस्याओं को हाथ में लेते हों।

दो देशों तथा उनकी जनता के बीच संबंध बढ़ाने की दिशा में काम करने वाले अनेक मैत्री–संगठन हैं। इनमें से कुछ संस्थाएँ भारत और पाकिस्तान के बीच शांति और मैत्री बढ़ाने वाली भी हैं जो दोनों देशों के बीच संबंध सुधारने की दिशा में प्रयास करती हैं। जब दोनों देशों की सरकारें एक–दूसरे से लड़ रही होती हैं तो दोनों देशों की जनता में आपसी रिश्ते बेहतर बनाने की इच्छा बनी रहती है। पिछले कुछ वर्षों से कुछ नागरिकों, बुद्धिजीवियों और अवकाश–प्राप्त अधिकारियों ने ट्रैक–II कूटनीति शुरू की है जिसके अंतर्गत सरकारी कूटनीति के समानांतर गैर–सरकारी कूटनीतिक प्रयास भी चलते रहते हैं।

इसी तरह, भारत–अरब मैत्री संघ और भारत–इज़राइल मैत्री संघ भी सक्रिय हैं। भारत जापान मैत्री संघ आदि कई अन्य संगठन भी हैं। ऐसे और समूहों के नाम गिनना आवश्यक नहीं है। इस बारे में केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि ये संगठन उन देशों की नीतियाँ भारतवासियों को समझा कर आपसी रिश्ते सुधारने के दबाव समूह के रूप में काम करते हैं।

5.7 व्यापारी वर्ग

ऐसे व्यापारिक संगठन और संघ, जो विदेश व्यापार से संबद्ध होते हैं, विदेश मामलों में भी रुचि लेते हैं। ये संगठन चाहते हैं कि जिन देशों के साथ वे व्यापार कर रहे हैं। वहाँ शांति बनी रहे। यह भी एक सिद्धांत है कि किन्हीं दो विरोधी देशों के बीच व्यापारिक संबंध विकसित करने से उनमें राजनीतिक संबंध सुधारने में मदद मिलती है। इसी विश्वास के चलते कुछ लोग भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापारिक रिश्ते बढ़ाने की वकालत करते हैं जिससे राजनीतिक संबंधों में सुधार होगा।

भारत में व्यापार, उद्योग और वाणिज्य से जुड़े लोगों का एक संगठन है – भारतीय वाणिज्य एवं व्यापार मंडल परिसंघ (फिक्की)। फिक्की व्यापार तथा उद्योग से जुड़े विभिन्न मसलों पर बराबर सरकार से विचार–विमर्श करता रहता है। ऐसे संगठनों का मुख्य उद्देश्य व्यापार को बढ़ावा देना है लेकिन वे सरकार (विशेष कर वाणिज्य तथा विदेश विभागों के अधिकारियों) के साथ बराबर संपर्क बनाए रखकर दोनों देशों में सद्भाव बढ़ाने की कोशिशें भी करते हैं। इस सिलसिले में वे कई उपाय अपनाते हैं। इनमें से सबसे पुराना उपाय है – राजनेताओं तथा राजनीतिक पार्टियों को चंदा देना। व्यापारी सभी राजनीतिक दलों को चंदा देना उचित मानते हैं। उदाहरण के लिए, 1960 के दशक में श्रीमती गांधी को जब लगा कि व्यापारी वर्ग दक्षिणपंथी दल स्वतंत्र पार्टी को अधिक चंदा देता है तो उन्होंने व्यापारिक घरानों द्वारा राजनीतिक दलों को चंदा देने पर प्रतिबंध लगा दिया।

भारत में 1991 में वैश्वीकरण, उदारीकरण तथा निजीकरण का दौर शुरू हुआ। हम खुल कर कह सकते हैं कि तब से विदेश नीति के विकास में व्यापारियों तथा व्यापारिक पैरोकारों की भूमिका निश्चित रूप से बढ़ गई है। इसका प्रारंभिक संकेत तभी मिल गया था जब पूर्व–प्रधानमंत्री नरसिंहाराव ने अपनी अमेरिका यात्रा के दौरान उस देश के व्यापारी वर्ग से मिलने की इच्छा जताई। उनके साथ गए प्रतिनिधिमंडल में बड़ी संख्या में भारतीय व्यापारी भी थे। उनकी पहली प्राथमिकता थी व्यापारियों के साथ बातचीत, दूसरी थी संसद को संबोधन के माध्यम से अमेरिकी जनता को संबोधित करना और राष्ट्रपति क्लिंटन से मुलाकात केवल तीसरी प्राथमिकता थी। उन्होंने न्यूयॉर्क और हूस्टन (टेक्सॉस) में व्यापारिक कंपनियों के मुख्य कार्य अधिकारियों की दो बैठकों को संबोधित किया जिनमें व्यापारियों को भारत में पूँजी लगाने के लिए राज़ी किया। उन्होंने भारतीय हित समूह' का भी गठन कराने में सफलता प्राप्त की जिनमें जनरल इलेक्ट्रॉनिक, एटी एंड टी, कोका कोला, फोर्ड, आई.बी.एम. जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मुख्य कार्य अधिकारी शामिल थे। ये संगठन अमेरिका द्वारा भारत के प्रति विदेश नीति के निर्माण में वहाँ भारत–समर्थक दबाव समूह के रूप में काम करते हैं, जो साथ ही भारत में विदेश नीति के विकास में सहायक बनते हैं। उसके बाद से और अनेक व्यापारी प्रधानमंत्री के साथ विदेश यात्राओं पर गए हैं जिनकी संख्या केवल पत्रकारों को छोड़कर अन्य किसी वर्ग से अधिक रही है।

उदारीकरण, वैश्वीकरण और निजीकरण लागू होने के साथ बाहरी दुनिया से जुड़े और अधिक मुद्दे सरकार द्वारा तय किए जाने लगे हैं। 1995 में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को नियंत्रित करने के लिए विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) की स्थापना के बाद और अधिक मसले इस संगठन के अधिकार क्षेत्र में आ गए हैं। पश्चिमी ताकतों ने भी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य के बारे में नए मसलों को हाथ में लिया है। इस प्रकार नकारात्मक रूप से देखें तो व्यापारिक सहभागी देश में बाल मज़दूरी और मानव अधिकारों की समस्याओं को वैश्विक चिंता का हिस्सा मानते हुए विश्व व्यापार संगठन के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत समझा जाता है। पश्चिमी जगत ने सेवा की अवधारणा को व्यापार के रूप में लागू किया है और इसलिए उसे विश्व व्यापार संगठन द्वारा नियंत्रित किए जाने योग्य माना है।

इनमें से कुछ समस्याओं से विभिन्न गैर–सरकारी संगठनों के बीच विवाद भी पैदा हो जाते हैं। इस दिशा में काम करने वाले कुछ संगठन इस बात पर ध्यान देते हैं कि–14 साल से कम उम्र के बच्चों को पटाखे बनाने तथा कंबल बुनने जैसे उद्योगों में काम पर न रखा जाए। दूसरी ओर, परंपरागत बाज़ार में इन वस्तुओं के निर्माताओं की दलील है कि वे जरूरतमंद परिवारों को रोज़गार देते हैं। गैर–सरकारी संगठनों का कहना है कि बच्चे रोज़ी कमाने के लिए अपना बचपनं गंवा बैठते हैं।

मानव अधिकारों के बारे में भी इसी प्रकार के तर्क दिए जाते हैं। कारखानों में काम की स्थितियाँ, वेतन के मामले में पुरुषों और महिलाओं में भेदभाव जैसे मामले इसलिए मुद्दे बन गए हैं क्योंकि पश्चिमी देशों को लगता है कि भारत जैसे विकासशील देशों में श्रम सस्ता है जिससे यहाँ के उत्पाद विकसित देशों के उत्पादों से टक्कर ले सकते हैं जहाँ श्रम बहुत मँहगा है। यद्यपि पश्चिमी देशों द्वारा उठाए गए मुद्दे उचित हैं लेकिन सरकार को गैर–सरकारी संगठनों की माँगों, सामाजिक दबावों और पश्चिमी देशों की आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए अपनी नीतियाँ बनानी पड़ती हैं।

5.8 प्रवासी भारतीय

विश्व के विभिन्न देशों में 2 करोड़ से अधिक भारतीय रहते हैं। इनकी दो श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी उन लोगों की है जो ब्रिटिश शासन के दौरान विदेशों में गए या इंग्लैंड द्वारा ले जाए गए, (जैसे कि अफ्रीकी देशों या फिजी द्वीप समूह में भारतीय मूल के लोग जिन्हें पी.आई.ओ. कहा जाता है)। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो आज़ादी के बाद आर्थिक बेहतरी की खोज में विदेशों में गए और वे प्रवासी भारतीय (एन.आर.आई) कहलाते हैं। ज़ाहिर है कि पहली श्रेणी के लोगों का भारत से भावात्मक रिश्ता है जबकि दूसरी श्रेणी के लोगों की जड़ें भारत में कहीं अधिक गहरी हैं। विदेश नीति के निर्माण में इनकी भूमिका क्या होनी चाहिए? नेहरू जी ने स्वतंत्रता के तत्काल बाद भारतीय मूल के लोगों से कहा कि वे उसी देश के बन जाएँ जहाँ वे रहते हैं या जिन्हें अपना रखा है। यही विचार 1997 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंद्र कुमार गुजराल ने दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों के संदर्भ में व्यक्त किया। दोहरी नागरिकता का सुझाव स्वीकार नहीं किया गया। परंतु समय बीतने, संचार और परिवहन के विकास से दूरियाँ घटने और उदारीकरण आदि के बाद विदेशी निवेश की माँग बढ़ने के कारण भारत के साथ जुड़ाव की भावना अधिक मज़बूत होती जा रही है। वैश्वीकरण ने सरकार को भारतीय मूल के लोगों के बारे में दृष्टिकोण बदलने को मजबूर कर दिया है। इस सिलसिले में भारतीय मूल के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठनों की प्रमुख भूमिका रहती है।

भारतीय जनता पार्टी के मज़बूत बनने से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पर ज़ोर बढ़ने के साथ भारतीय मूल के लोगों का मसला भावनात्मक बन गया है। इन लोगों के मसले पर विचार करने के लिए 2002 में डॉ.लक्ष्मीमल सिंघवी की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई। अब हर साल 9 जनवरी को प्रवासी भारतीय दिवस मनाया जाता है जिसमें भारतीय मूल के प्रमुख लोगों तथा प्रवासी भारतीयों को सम्मानित किया जाता है और पी.आई.ओ. कार्ड को अधिक आकर्षक बनाया जा रहा है। परंतु सुरक्षा के मसले पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। द्वितीय विश्व युद्ध में अमेरिका ने जापांनी मूल के अमेरिकी नागरिकों का इस्तेमाल जापान में जासूसी करने के लिए किया था।

परंतु अब प्रवासी भारतीयों ने महत्वपूर्ण समूह का रूप ले लिया है। उदाहरण के लिए, अमेरिका में बसे भारतीय काफी संगठित हैं। उन्हें भारत के प्रति अमेरिकी दृष्टिकोण में बदलाव लाने में सफलता मिली है। यह इस तथ्य से ज़ाहिर होता है कि बिल क्लिंटन ने 1993 में सत्ता संभालने पर विदेश नीति और द्वि–पक्षीय संबंधों के हर पक्ष का इस्तेमाल कश्मीर, परमाणु शस्त्र और मानव अधिकार जैसे मुद्दों पर भारत पर दबाव डालने के लिए। किया। परंतु 2000 तक वे भारतीय लोकतंत्र, उसकी सुरक्षा संबंधी मजबूरियों (जिनके चलते भारत ने परमाणु परीक्षण किया) और सीमा–पार से हो रहे आतंकवाद को अच्छी तरह समझ गए। चूंकि प्रवासी भारतीयों ने भारत का कुछ भला किया है इसलिए उनका सरकार से यह अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि वह भारत में उनके द्वारा निवेश की शर्तें या उनके भारत आने के लिए वीज़ा देने की प्रक्रिया उदार बनाए।

5.9 चिंतन समूह

चिंतन समूह की अवधारणा भारत के लिए नई है। अमेरिका में रेंड कार्पोरेशन जैसे अनेक विशेषज्ञ संगठन हैं जिन्हें अमेरिकी रक्षा विभाग से वित्तीय सहायता मिलती है। वाशिंगटन में और भी कई चिंतन समूह हैं जिनमें से अमेरिकन इंटरप्राइस इंस्टीट्यूट दक्षिणपंथी समूह है तो ब्रुकिंग्स इंस्टीट्यूट एक उदारपंथी चिंतन समूह है। न्यूयॉर्क में एशिया सोसायटी और कारनेगी फाउंडेशन जैसे समूह हैं। ये संगठन विभिन्न विषयों पर अध्ययन करते हैं। और अपनी रिपोर्ट सरकार तथा प्रभावशाली सांसदों को पेश करते हैं। उदाहरण के लिए, 1994 में एशिया सोसायटी ने एक अध्ययन किया जिसमें सरकार को भारत के साथ संबंध सुधारने का सुझाव दिया गया।

भारत में इस तरह के समूह बहुत कम हैं। इनमें सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण संस्था है। – रक्षा अध्ययन तथा विश्लेषण संस्थान जिसका पूरा खर्च विदेश विभाग उठाता है। यह ऐसे अध्ययन तथा विश्लेषण करता है जिनका प्रभाव नीति संबंधी मामलों पर पड़ता है। एक और संस्था है – सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च। अब दिल्ली में ऐसे बहुत–से संगठन बन गए हैं जिनका गठन पूर्व सचिवों, जनरलों और विद्वानों द्वारा किया गया है। परंतु विदेश नीति के चिंतन समूह के रूप में उनकी भूमिका का पूरा आकलन अभी नहीं हो पाया है। कई बार विश्वविद्यालयों द्वारा आयोजित गोष्ठियों में पूर्व विदेश सचिवों सहित विदेश नीति विशेषज्ञ भाग लेते हैं। ऐसी गोष्ठियों में उभरे विचारों का भी विदेश नीति के निर्माण पर असर पड़ता है।

ये सभी संस्थाएँ और दबाव समूह एक से अधिक भूमिकाएँ निभाते हैं। वे विदेश नीति के निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित तो करते ही हैं, किसी नीति के पक्ष या विरोध में जनमत भी पैदा करते हैं। इसके अलावा वे उन नीतियों के समर्थन में जनमत जुटाते हैं जिन्हें वे पसंद करते हैं। देश में विदेश नीति के विकास की प्रक्रिया इसी प्रकार चलती रहती है।

5.10 सारांश

विदेश नीति के निर्माण की प्रक्रिया केवल उससे जुड़ी संस्थाओं तक सीमित नहीं है। लोकतंत्र में कोई भी नीति लोगों की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करती है। इसलिए विभिन्न तहों राजनीतिक पार्टियों, दबाव समूहों, सामाजिक–जातीय आंदोलनों आदि के रूप में संगठित लोगों के साथ–साथ व्यापारी वर्ग, मीडिया और चिंतन समूह भी विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। नीति निर्माता इन प्रयासों को अपने काम में हस्तक्षेप नहीं मानते। बल्कि ये विभिन्न समूह अपनी सही भूमिका निभाते हैं। विभिन्न संगठनों के माध्यम से यह जन सहयोग नीति के औचित्य को बढ़ाता है और उसे समाज के लिए व्यापक रूप से स्वीकार्य बनाता है।

5.11 अभ्यास

1. राजनीतिक दल विदेश नीति के विकास में किस तरह योग देते हैं और उसे कैसे प्रभावित करते
2. क्या दबाव समूह विदेश नीति के निर्माण में कोई भूमिका निभाते हैं?
3. विदेश नीति तैयार करने की प्रक्रिया में सामाजिक और व्यापारिक समूहों की भूमिका का विवेचन कीजिए।
4. विदेश नीति के निर्माण में चिंतन समूहों की भूमिका बढ़ाने के उपायों की चर्चा कीजिए।

इकाई–6

भारत की विदेश नीति : सिंहावलोकन

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 निर्माणात्मक वर्षों में नेहरू के कार्यकाल में भारत की विदेश नीति

6.2.1 गुटनिरपेक्षता में झुकाव

6.2.2 भारत–चीन सीमा युद्ध

6.3 नेहरू के बाद विदेश नीति

6.4 श्रीमती इंदिरा गांधी का कार्यकाल

6.4.1 भारत–सोवियत शांति और मैत्री संधि, 1971

6.4.2 शिमला समझौता, 1972

6.4.3 1974 का परमाणु परीक्षण

6.4.4 श्रीमती गांधी का दूसरा कार्यकाल

6.5 राजीव गांधी और श्रीलंका में भारतीय शांति सेना

6.6 नरसिंहाराव (1991–1996)

6.7 भारत–अमेरिका संबंध

6.8 विदेश नीति विकास और एन.डी.ए. सरकार

6.8.1 परमाणु हथियार

6.8.2 संबंध सुधारने के प्रयास

6.9 सारांश

6.10 अभ्यास

6.1 प्रस्तावना

अभी तक हमने सरकार में संस्थागत स्तर पर नीति–निर्मित करने और सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर नीति को आकार प्रदान करने के बारे में अध्ययन किया। सरकार, संस्थाओं और सामाजिक–राजनीतिक स्तर के नेताओं के बीच गहन अंतःक्रिया के बाद अंततः भारतीय विदेश नीति निर्मित हुई। नीति प्रक्रिया से उपजा विदेश नीति रूपी उत्पाद वह ठोस नीति है जो किसी भी विदेशी राष्ट्र अथवा विदेशी नीति संबंधी मुद्दे का दिशा निर्देश करती है।

स्वतंत्रता के पश्चात् पिछले पचास वर्षों में नीति प्रक्रिया का परिणाम क्या रहा? भारत साधारण नागरिक से लेकर प्रधानमंत्री और विदेश में विदेशी सरकारी अधिकारियों से लेकर सुविज्ञ जनता तक सभी गुटनिरपेक्ष नीति के रूप में भारत विदेशी नीति का वर्णन करते हैं। लेकिन आज भी, वैकल्पिक नीति की रूपरेखा न होने के कारण भारतीय राजनीतिक वर्ग गुटनिरपेक्षता के ढांचे में भारतीय विदेश नीति का वर्णन करते हैं। लेकिन आज भी, वैकल्पिक नीति की रूपरेखा न होने के कारण भारतीय राजनीतिक वर्ग गुटनिरपेक्षता के ढाँचे में भारतीय विदेश नीति का वर्णन करते हैं। इस इकाई में, हम यह जानेंगे कि स्वतंत्रता की अवधि के दौरान गुटनिरपेक्ष नीति कैसे प्रारंभ हुई, इसने किस प्रकार कार्य करना शुरू किया और इसने कैसे प्रगति की। इस इकाई में विश्व की प्रमुख शक्तियों के साथ–साथ भारत के अपने पड़ोसी देशों के साथ संबंधों में आने वाले उतार–चढ़ावों का विश्लेषण भी किया जाएगा।

6.2 निर्माणात्मक वर्षों में नेहरू के कार्यकाल में भारत की विदेश नीति

भारतीयों ने राष्ट्र की विदेश नीति पर अपना नियंत्रण 1947 में ब्रिटिश उपनिवेशी शासन से आज़ादी मिलने के बाद ही प्राप्त किया। नव–स्वतंत्र भारत, विश्व के मामलों में कूद पड़ा जब दो महान शक्तियों – संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शीतयुद्ध का बाह्य (विदेशी) वातावरण था तथा दोनों महाशक्तियाँ द्वितीय विश्व युद्ध में विजित पक्ष की ओर थीं। अगस्त, 1947 में स्वतंत्रता से पहले ही, सितंबर 1946 में नेहरू के नेतृत्व में एक अंतरिम सरकार नियुक्त कर दी गई थी।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू दुविधा में थे। पश्चिम में शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी वह व्यक्तिगत रूप से मार्क्सवादी विचारधारा की ओर आकृष्ट थे। लेकिन किसी भी एक गुट के साथ मिल जाने का अर्थ था हाल ही में विजित आजादी को खो देना। भारत की निर्णय लेने की स्वतंत्रता को खो देने वाला छोटा–सा भी प्रस्ताव उन्हें स्वीकार्य नहीं था। इस प्रकार, उन्होंने इन दोनों शक्ति गुटों से भारत को दूर रखने का और स्वतंत्र विदेशी नीति का अनुसरण करने का निर्णय लिया। यह नीति गुटनिरपेक्ष नीति कहलायी।

नई दिल्ली से 7 सितंबर 1946 में किए गए एक प्रसारण में नेहरू ने नीति की आधारभूत रूपरेखा निर्मित की जिसमें उन्होंने विदेशी नीति के कुछ लक्ष्यों की रूपरेखा प्रस्तुत की। इस समय तक आजादी की घोषणा नहीं हुई थी और वह केवल अंतरिम प्रधानमंत्री ही थे। उनके लक्ष्यों में शामिल थे – उपनिवेशवाद और जातिवाद को समाप्त करना शक्ति गुटों से आजादी तथा चीन और एशियाई पड़ोसी राज्यों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करना। नेहरू के शब्दों में, "हम अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अपनी नीति के साथ एक मुक्त राष्ट्र के रूप में पूरी तरह से भाग लेने में दिलचस्प हैं न कि हमें अन्य राष्ट्र के अनुगामी मात्र के रूप में ..... हमारी विशेष रूप से औपनिवेशिक और आजाद देशों और लोगों के उद्धार (मुक्ति) और सभी प्रजातियों के लिए सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप में समान अवसरों को मान्यता देने में दिलचस्पी है।"

इस प्रकार, किसी भी सैनिक गुट के साथ गुटनिरपेक्षता नेहरू की उस दुविधा का उत्तर था जिसका सामना स्वयं नेहरू और राष्ट्र ने किया। नेहरू की ओर से गुटनिरपेक्षता एक बौद्धिक तख्ता–पलट राज्य परिवर्तन था। एक तरह से यह इतिहास से प्राप्त सीख थी। स्वतंत्रता के तुरंत बाद, अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जॉर्ज वाशिंगटन ने 1796 में अपने कार्यालय में अपने कार्य की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय अपने देशवासियों से कहा था, "विदेशी विश्व के किसी भी भाग के साथ स्थायी गठबंधनों से बच कर रहना हमारी वास्तविक नीति है ....." इसके बजाय, वह इस तथ्य के पक्षधर थे कि नया गणराज्य सभी राष्ट्रों के प्रति "यथोचित और मित्रतापूर्ण भावनाएँ" को बनाए।

प्रारंभिक स्तर पर नेहरू का गुटनिरपेक्षता से अभिप्राय किसी भी सैनिक गठबंधन के साथ बंधना नहीं था। दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति के तुरंत बाद अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा सैनिक संधियाँ की गईं। अमेरिका ने उत्तरी एटलांटिक संधि संगठन – नाटो को बढ़ावा दिया। इसके जवाब में सोवियत संघ ने वारसा समझौता किया। विश्व–स्तर पर सैनिक समझौते इन दोनों देशों के बीच प्रतिस्पर्धा का परिणाम थे। इन दोनों महाशक्तियों ने एशिया और अफ्रीका में नव–स्वतंत्र राष्ट्रों को आकृष्ट करने के लिए क्षेत्रीय गठबंधन (समझौतों) को बढ़ावा दिया।

दूसरे, गुटनिरपेक्षता से अभिप्राय विश्व की राजनीति में तटस्थता (तटस्थ व्यक्तियों या राष्ट्रों का समुदाय) नहीं था। तटस्थता अपना जो अर्थ अथवा महत्व रखती है वह युद्ध के समय में वास्तव में संगत है। लेकिन गुटनिरपेक्षता एक सकारात्मक सोच (विचारधारा) है। इसका अभिप्राय है – भारत ने अपने हितों को प्रभावित करने वाले मुद्दे पर निर्णय लेने की आजादी को बनाए रखा। संकट में किसी एक राष्ट्र का समर्थन करने के लिए कोई पूर्व प्रतिबद्धता नही थी।

इस प्रकार, 1950 के दशक में अमेरिका ने भारत के पड़ोसी राज्यों में दक्षिण–पूर्व एशिया संधि संगठन – सिएटो और केंद्रीय संधि संगठन – सेंटो को बढ़ावा दिया। ये दोनों संगठन सोवियत संघ से आने वाले साम्यवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए दिखावे के लिए बने थे। लेकिन भारत का पड़ोसी देश पाकिस्तान इन संधि संगठनों का इसलिए सदस्य बना ताकि वह भारत के विरुद्ध लड़ने के लिए अमेरिका से सैनिक सहायता प्राप्त कर सके। इन संधियों में पाकिस्तान की सदस्यता से शीतयुद्ध भारत के द्वार पर आ गया और इससे भारत एवं पाकिस्तान के बीच तनाव और बढ़ गए। सैनिक संधियों की सदस्यता के कारण अमेरिकी शस्त्र और समर्थन से भारत–अमेरिका के संबंध भी पेचीदा हो गए।

यह संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद (एस सी) में कश्मीर मुद्दे पर उठाए गए प्रश्न से बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने आ गया। पंडित नेहरू को अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और उनकी न्याय भावना पर बहुत अधिक भरोसा था। इस तरह नेहरू ही थे जो 1948 में जम्मू और कश्मीर के विरुद्ध पाकिस्तान द्वारा छेड़ी गई लड़ाई से उत्पन्न संकट को सुरक्षा परिषद में ले गए। उन्होंने कभी कल्पना भी नही की थी कि कश्मीर एक ऐसा विषय बन जाएगा जिसे शीतयुद्ध के दायरे (प्रिज्म) से देखा जाएगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने युद्ध समाप्ति का आदेश दिया और पाकिस्तान से अपनी सेनाएँ वापस बुलाने को कहा। तब भारतीय प्रधानमंत्री ने जनमत कराने का आश्वासन दिया था ताकि यह फैसला लिया जा सके कि कश्मीरी भारत में रहने के इच्छुक हैं या पाकिस्तान जाने की इच्छा रखते हैं। इससे संयुक्त राष्ट्र की संघ निष्पक्षता के प्रति नेहरू का वह विश्वास सामने आ गया था।

लेकिन व्यावहारिक रूप में यह मुद्दा अमेरिका और सोवियत संघ के बीच विश्व–व्यापी शीतयुद्ध में उलझ गया।

अमेरिका और सोवियत संघ के बीच जब यह मुद्दा शीतयुद्ध प्रतिद्वंद्विता का हिस्सा बन गया, तब पाकिस्तान ने अमेरिका के साथ अपने सैनिक संधि के सहारे समय–समय पर कश्मीर मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में उठाना शुरू कर दिया। सुरक्षा परिषद ने पाकिस्तान को आक्रामक घोषित करने और हमले न करने के लिए कहने की बजाए भारत पर राजनीतिक रूप से दबाव डालने के लिए इस मुद्दे को एक साधन बनाए रखा।

नेहरू ने भारतीय गणतंत्र को राष्ट्रमंडल का सदस्य बनाकर राष्ट्रमंडल के साथ घनिष्ठ मैत्री संबंधों को बनाए रखा। लेकिन ब्रिटेन की कश्मीर संकट को हल करने में दिलचस्पी नहीं थी। जम्मू–कश्मीर के विवाद को सुलझाने में जो अन्य शक्ति भारत की मदद कर सकती थी वह थी अमेरिका। लेकिन, 1949 में इस देश में किए जाने वाले प्रथम दौरे में नेहरू ने तत्कालीन विदेश मंत्री डीन एक्सन को निराश किया। डीन एक्सन ने अपने संस्मरणों में बताया, अंततः जब मैंने पंडित नेहरू से आग्रह किया कि कश्मीर समस्या के व्यावहारिक हल के लिए खुल कर बातचीत करके मेरी मदद करे, लेकिन मुझे जनता को दिए जाने वाले भाषण और उनमें (नेहरू में) अपने विपक्ष के प्रति रोष और अत्यधिक नापसंदगी की भावना की मिली–जुली प्रतिक्रिया मिली। ..... मुझे विश्वास हो गया कि नेहरू और मेरे बीच सुखद (अच्छे) व्यक्तिगत संबंध स्थापित नहीं होंगे।

एक्सन के उत्तरवर्ती जान फोस्टर डल्लस (John Foster Dulles) भी भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण नहीं थे। तब तक डल्लस पेक्टोमैनिया के प्रभाव में थे और सैनिक गठबंधनों को बढ़ावा दे रहे थे। वह भी चाहते थे कि अमेरिका द्वारा प्रोत्साहित सैनिक गठबंधन में भारत भी सहभागी हो। यह तो स्पष्ट ही है कि नेहरू की गुटनिरपेक्ष नीति इसके विरुद्ध थी। अतः डल्लस ने कहा कि गुटनिरपेक्षता अनैतिक है क्योंकि नास्तिक साम्यवाद के निकट यह दृढ़ निर्णय लेने में असफल रहा।

इन परिस्थितियों में सोवियत संघ भारत के बचाव में आगे आया। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में भारत की जो दशा हुई, उसके फलस्वरूप सोवियत संघ को गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के साथ मित्रता करने का अवसर दिखाई दिया। अमेरिका, अंग्रेजों की "फूट डालो और शासन करो" की नीति से प्रभावित था। उस प्रारंभिक अवस्था में अमेरिका, ब्रिटेन की पूर्व–उपनिवेशों से संबंधित मुद्दों पर, उसके साथ था। इस प्रकार, जब अमेरिका और इंग्लैंड जैसी पश्चिमी शक्तियों ने कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान के पक्ष में मत देना प्रारंभ किया, तब सोवियत संघ ने शीतयुद्ध की राजनीति से भारतीय हितों की रक्षा करने के लिए अपने निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग किया।

6.2.1 गुटनिरपेक्षता में झुकाव

पश्चिमी शक्तियों द्वारा भारत को अपमानित करने के प्रयासों से छुटकारा पाने में सोवियत संघ ने भारत की मदद की। कोई भी अपने उस मित्र की निंदा नहीं करता जो उसके बचाव में आता है। लोगों के व्यक्तिगत मामलों में तो यह मानक लागू होती ही है, अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर भी यही मानक लागू होता है। हंगरी में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप पर 1956 में सुरक्षा परिषद में चर्चा के दौरान इस सिद्धांत का परीक्षण हुआ।

यह हंगरी में सोवियत शासक के विरुद्ध विद्रोह उठ रहा था जहाँ के लोग लोकतंत्र के पक्ष में थे। सोवियत संघ ने वहाँ की लोकतंत्र समर्थक सरकार को हटा कर कम्युनिस्ट समर्थक सरकार लाने के लिए इस देश में सैनिक हस्तक्षेप किया। सोवियत सैनिक हस्तक्षेप का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र के समक्ष आया। महासभा में हंगरी संकट पर चर्चा की गई। पाँच शक्तियों का प्रस्ताव था जिसमें सोवियत संघ को अपने सैनिक बल को हंगरी से हटाने के लिए कहा गया। भारत ने प्रस्ताव के विरुद्ध मत दिया। भारत के इस दृष्टिकोण के प्रति भारत में और विदेशों में व्यापक रूप से असहमति व्यक्त की गई। क्या भारत सोवियत सैनिक हस्तक्षेप का समर्थन कर रहा था? भारत ने जिन परिस्थितियों और विवशता में इस प्रस्ताव के विरुद्ध मत दिया उसका खंडन करने की बजाए, नेहरू ने अपना स्पष्टीकरण दिया। उनके पक्ष का मुख्य आधार प्रस्ताव की यह माँग थी कि "संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षण में हंगरी में चुनाव कराए जाने चाहिए" ऐसी ही माँग कश्मीर में चुनाव कराने के लिए भी की जा सकती थी। लेकिन सत्य यह है कि भारत ने सैनिक हस्तक्षेप का विरोध तो किया लेकिन उन्हें विश्व की राय नहीं मिल पाई। थॉमस ए. बैली ने अपनी पुस्तक "ए डिप्लोमेटिक हिस्ट्री ऑफ दि अमेरिकन पीपुल" में कहा कि भारत जैसे तटस्थ राज्य सोवियतों की क्रूरता के विरुद्ध असहमति व्यक्त करने के लिए आगे नही आए।"

6.2.2 भारत–चीन सीमा युद्ध

भारतीय विदेशी नीति में अगले प्रमुख संकट के दौरान अक्तूबर 1962 में चीन हमले की पृष्ठभूमि में गुटनिरपेक्षता की शक्तियाँ एवं कमजोरियाँ भी सामने आईं। चीन के साथ शांति एवं भारत की मित्रता भारतीय विदेश नीति की आधारशिला थी। इस नीति को प्रधानमंत्री नेहरू ने अपने मित्र और तत्कालीन रक्षा मंत्री कृष्ण मेनन की सहायता से निर्मित और निष्पादित किया था। वास्तविकता यह है कि इन दोनों व्यक्तियों ने कभी भी नहीं सोचा था कि उन्हें कम्युनिस्ट देश चीन से कोई खतरा हो सकता है। भारत की सुरक्षा को लेकर दोनों व्यक्तियों का ध्यान मुख्य रूप से पाकिस्तान पर केंद्रित था।

नेहरू ने सैनिक बल के प्रयोग की बजाय राजनीतिकवार्ताओं के द्वारा राज्यक्षेत्रीय (प्रादेशिक) संकट का समाधान करने के बारे में सोचा। उन्होंने कभी भी यह नही माना था कि सैनिक शक्ति से देशों के बीच राजनीतिक निपटारों के लिए बातचीत करने की क्षमता को बढ़ावा मिलता है। इसी के आधार पर 1947–48 में जम्मू और कश्मीर में पाकिस्तान के छद्म युद्ध में भारतीय सेना ने कश्मीर से आक्रमणकारी पाकिस्तानी सेना को वास्तविक रूप में बाहर खदेड़ दिया। किंतु नेहरू सैनिक शक्ति द्वारा देशों के राजनीतिक निपटारों के लिए बातचीत न होने संबंधी अपनी इसी सोच के आधार पर इस छद्म युद्ध की अनुक्रिया में वे संयुक्त राष्ट्र के समक्ष गए।

भारत ने "चीन के तिब्बती क्षेत्र" के साथ व्यापार के लिए समझौते पर हस्ताक्षर करके तिब्बत पर चीन के अधिराजत्व को स्वीकार करके 1954 में तिब्बत पर चीन के दावे को मान लिया। भारत ने चीन से किसी भी प्रकार की आपसी रियायतों को प्राप्त किए बिना तिब्बत में अपने अधिकारों और विशेषधाकारों को छोड़ दिया। तिब्बत से भारतीय प्रभाव को पूर्णतः समाप्त करके इस दिशा में पहला कदम चीन द्वारा उठाया गया। "तिब्बत चीन के भूभाग का अभिन्न हिस्सा है" चीन की इस घोषणा के साथ चाइनीज़ पीपुल्स लिबरेशन आर्मी ने तिब्बत में छापे मारने शुरू कर दिए। भारत–चीन मैत्री की नीति को जारी रखते हुए, भारत ने 23 मार्च 1954 में चीन–तिब्बत समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसके कारण तिब्बत के भाग्य पर स्थायी रूप से मुहर लग गई। तभी से चीन की सैनिक टुकड़ियाँ भारत, बर्मा, पाकिस्तान, अफगानिस्तान और उससे जुड़े भागों में तैनात है, जबकि भारत ने दक्षिण सीमाओं में शताब्दी से तैनात अपनी सेना, डाक, वाणिज्यिक, टेलिफोन और तार सेवाओं और उपकरणों को वहाँ से हटा लिया। चीन को शांत करने के लिए, नेहरू ने 1954 में चाऊ एन लाई के साथ पंचशील (पाँच सिद्धांत) समझौता किया जो प्रादेशिक अखंडता और प्रभुसत्ता के लिए परस्पर सम्मान, आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप, अनाक्रमण, समानता और शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व के सिद्धांतों पर आधारित था।

यह पंचशील समझौता चीन की विस्तारवादी डिज़ाइनों का भारत द्वारा विरोध न कर पाने की अयोग्यता को छिपाने, और अपनी प्रादेशिक महत्वाकांक्षाओं को नियंत्रित करने के वादे के मद्देनज़र चीन को फुसलाने का एक मिथ्या (दिखावटी) प्रयास था। चीन की इस समझौते के प्रति कोई निष्ठा नहीं थी। इस तथ्य का प्रमाण था – अक्साई–चिन क्षेत्र में सेना की टुकड़ियों की स्थापना, सिनकियांग सीमा के साथ भारतीय प्रदेश के भीतर सड़कों का निर्माण और भारत की सीमा चौकियों पर रूक–रूक कर गोलाबारी करना। चीन के नक्शें में पहले से ही समूची उत्तर–पूर्वी सीमा (भारत का एक हिस्सा) को चीनी प्रदेश के हिस्से के रूप में दिखाया जा रहा था।

चीन की सैनिक कार्रवाइयों के बावजूद नेहरू ने 1957 में संसद को बताया कि "भारत का चीन या सोवियत संघ के साथ किसी भी प्रकार का सैनिक द्वंद्व होने का बिल्कुल अंदेशा नहीं है। भारत की भौगोलिक स्थिति इस तरह की है कि उस पर आक्रमण करना आसान नहीं होगा।" दो वर्षों के भीतर 1959 में चीनी सेनाओं ने तिब्बत को हथिया लिया और चीनी आक्रमण से बचने के लिए दलाई लामा को अत्यधिक खतरनाक और अत्यधिक जोखिमपूर्ण यात्रा करनी पड़ी थी।

तीन वर्षों के बाद, अक्तूबर 1962 में चीन ने भारतीय सेनाओं को परास्त करके सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सीमा चौकियों पर कब्ज़ा कर लिया और भारत की सीमा मोर्चेबंदियों को विनष्ट कर दिया। अमेरिका के राजदूत जॉन केनेथ गालबरैक ने "एम्बेसेडर्स जरनल" में चीन के आक्रमण का विरोध करते हुए भारत की निस्सहायता का, इन शब्दों में वर्णन किया :

उनकी (भारत) की वायु सेना बहुत अधिक प्रभावशाली नहीं थी। तिब्बत के हवाई–मैदानों से गंगा (Plain) मैदानी शहरों तक पहुँचना आसान है। ऐसा कोई भी अवसर नहीं है कि भारत चीन को ईंट का जवाब पत्थर से दे सकें और तिब्बत में कुछ भी ऐसा नहीं है। कोई भी ऐसा तकनीकी अवसर नहीं है जिससे नेहरू द्वारा माँगी गई सुरक्षा को तत्काल मंजूर किया जा सके।

नेहरू भारत के राष्ट्रीय हित के बचाव में गुटनिरपेक्षता में लचीले हो सकते थे। वे अमेरिका की मदद न लेते, जो उस समय चीन–विरोधी था और जो फिर भी अक्तूबर 1962 के चीन–भारत युद्ध के बाद भारत की थोड़ी मदद करने के लिए आगे आया। भारत ने जम्मूकश्मीर में पाकिस्तान के युद्ध में सोवियत संघ की राजनयिक और राजनीतिक सहायता भले ही ली, लेकिन यह मदद भारत को बिना माँगे मिली। यदि भारत ने तिब्बत संकट के दौरान 1954 में अमेरिका से मदद माँगी होती तो अक्तूबर 1962 में चीनी चुनौतियों का सामना करने में अमेरिका की मदद ज्यादा प्रभावशाली और बड़ी हो सकती थी। इससे गुटनिरपेक्षता को एक सही छवि मिलती जिससे यह सिद्ध हो जाता कि गुटनिरपेक्षता ने एक देश को दूसरे देश की तब सहायता लेने दी जब उसकी सुरक्षा खतरे में थी। बजाए इसके की भारत सदैव एक ही महाशक्ति अर्थात् सोवियत संघ की ओर प्रवृत्त होता। निश्चित रूप से इतिहास के काफी प्रश्नों का उत्तर अभी तक नहीं मिल पाया है। लेकिन इससे भारत गणराज्य के निर्माणात्मक वर्षों में भारतीय विदेशी नीति की सीमाओं का पता चलता है।

नेहरू का 'मैत्री द्वारा बचाव के सिद्धांत' पर विश्वास चीन के समक्ष असफल रहा। सभी भारतीयों को नेहरू की विदेशी नीति की असफलता से बड़ी हैरानी थी। नेहरू का स्वयं का भ्रम दूर हो गया। उनके रक्षा मंत्री कृष्ण मेनन को कांग्रेस पार्टी से त्याग–पत्र देने को विवश किया गया। जे. बंद्योपाध्याय ने 'मेकिंग ऑफ इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी' में लिखा, "यह नेहरू की भारत–चीन संबंधों की व्यक्त रूप से आदर्शवादी व्याख्या थी जो संभवतः ..... सामरिक योजना के अभाव के लिए उत्तरदायी थी।"

6.3 नेहरू के बाद विदेश नीति

1960 के दशक में एक मुख्य प्रश्न पर व्यापक रूप से चर्चा की गई। वह प्रश्न था – "नेहरू के बाद कौन?" नेहरू का 1964 में देहांत हुआ। उनके बाद लाल बहादुर शास्त्री ने प्रधानमंत्री का पद संभाला। शास्त्री का कार्यकाल कम ही रहा क्योंकि पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह अय्यूब खाँ के साथ ताशकंद समझौते पर हस्ताक्षर करने के बाद जनवरी 1966 में ताशकंद में ही शास्त्री की मृत्यु हो गई।

भारत की विदेशी नीति में शास्त्री को उनके द्वारा लाए गए प्रमुख परिवर्तन के रूप में याद किया जाता है। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर ज्यादा ध्यान देने की बजाए अपने रुख को मोड़कर भारत के नज़दीकी पड़ोसी देशों की घटनाओं की दिशा में ज्यादा ध्यान दिया। नेहरू के व्यक्तित्व ने ही उन्हें अंतर्राष्ट्रीय मामलों में प्रमुख भूमिका निभाने के संबंध में सोचने के लिए प्रेरित किया। नेहरू ने अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भारत के लिए एक बड़ी भूमिका तत्कालीन संसाधन जितनी अनुमति देते हैं उस से भी बहुत बड़ी, को अनुभव किया। उन्होंने 1955 में बांडुंग (इन्डोनेशिया) सम्मेलन में एक प्रमुख भूमिका अदा की। नेहरू ही नव–स्वतंत्रता प्राप्त कम्युनिस्ट चीन के प्रधानमंत्री चाऊ–एन–लाई से परिचित कराने के लिए उत्तरदायी थे। वह राष्ट्रवादी के स्थान पर कम्युनिस्ट चीन को संयुक्त राष्ट्र में विधिसम्मत (वैध) सदस्य के रूप में बैठाने में सबसे आगे थे, जो अक्तूबर 1949 में मेनलेंड चीन में कम्युनिस्ट द्वारा सत्ता छीन लिए जाने के बाद ताइवान चले गए थे। फिर नेहरू ने ही कोरियाई युद्ध के दौरान चीन और अमेरिका के बीच मध्यस्थता की भूमिका निभाई।

नेहरू की तुलना में शास्त्री ने भारत के नज़दीकी पड़ोसी देशों की ओर ध्यान दिया और इसके पीछे उनका लक्ष्य दक्षिण एशिया के भीतर संबंधों को सुधारना था। हालांकि, उनकी प्रधानमंत्री के रूप में कमजोरी पाकिस्तान से हुए विरोधों (द्वंद्वों) और पाकिस्तान के साथ 1965 में युद्ध को देखा गया। सर्वप्रथम भारतीय प्रदेश के दावे के लिए कच्छ के रण में विवाद पैदा हुआ। इस विवाद पर परस्पर सहमति द्वारा विवाचन अर्थात् मध्यस्थता के लिए कहा गया।

कच्छ का रण पश्चिमी पाकिस्तान और गुज़रात के बीच एक दलदली भूमि है। पाकिस्तान के अनुसार यह क्षेत्र एक झील थी और अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार, झील के बीच में एक सीमा होनी चाहिए। दूसरी ओर, भारत का दावा था कि यह एक दलदली भूमि है और सिंध और भारत के बीच सीमाएँ भली–भाँति अंकित की गई थीं। लेकिन पाकिस्तान इस क्षेत्र में 1956 से घुसपैठ कर रहा था। इस क्षेत्र को लेकर 1965 में इन दोनों के बीच युद्ध छिड़ गयी। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री हैरॉल्ड विल्सन के हस्तक्षेप से इस समझौते पर पहुंचे कि यदि दोनों दल किसी समझौते तक नही पहुँचते तो विवाद को विवाचक/मध्यस्थता के लिए भेज दिया जाएगा।

हालांकि दोनों देश किसी भी हल पर सहमत नही हो सके और विवाचकों (मध्यस्थों) ने पाकिस्तान को उसके मूल दावे का दसवाँ हिस्सा यानी 900 वर्ग किलोमीटर दे दिया।

भारत के प्रति उसके कमजोर होने का दृष्टिकोण जारी रहा। इसी बीच चीन अक्तूबर 1964 में परमाणु बम विस्फोट कर चुका था और भारत ने इसके प्रति तत्काल कोई प्रतिक्रिया नही की। 1964 में कैरो में हुए गुटनिरपेक्ष सम्मेलन ने चीन को परमाणु विस्फोट रोकने का आग्रह करने के लिए प्रतिनिधिमंडल बीजिंग भेजा था। चीन के प्राधिकारियों ने इस प्रतिनिधिमंडल का स्वागत तक करने से इन्कार कर दिया।

प्रधानमंत्री शास्त्री के समक्ष जो अन्य मुख्य संकट आया वह था 1965 का भारत–पाक युद्ध। इस युद्ध की कार्यप्रणाली 1947–48 में हुए प्रथम युद्ध जैसी ही थी। भारत की कमजोरी तथा भारत के विरुद्ध कश्मीरियों के बढ़ते हुए विद्रोह की आशा, दोनों ने अय्यूब खाँ को भारत के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के लिए प्रेरित किया। इस युद्ध में पाकिस्तान जम्मू और कश्मीर के कुछ भू–भाग पर कब्ज़ा करने में सफल रहा, जबकि भारतीयों ने दूसरी सीमा–लाहौर की ओर बढ़ने के लक्ष्य को चुना।

उस समय अमेरिका वियतनाम के साथ अपने युद्ध में व्यस्त था। इसलिए जॉनसन प्रशासन दोनों देशों के विरुद्ध हथियारों पर निषेध लागू करने के अलावा कुछ नहीं कर पाए क्योंकि दोनों देश युद्ध में कथित रूप से अमेरिकी हथियारों का प्रयोग कर रहे थे। हालांकि, सोवियत संघ इस संकट के समाधान के लिए अच्छे से अच्छे प्रयास करने का इच्छुक था। 1962 के चीन–भारत सीमा युद्ध पर तटस्थ रहने का निर्णय लेकर वह भारत के और नज़दीक आ चुका था। लेकिन रूसी नेता चाहते थे कि भारत–पाक युद्ध में उन्हें तटस्थ के रूप में देखा जाए क्योंकि रूसी नेता पाकिस्तान के साथ मैत्री स्थापित करना या कम से कम उसे अमेरिका से दूर भी करना चाहते थे।

तत्कालीन सोवियत प्रधानमंत्री कोसिगिन ने युद्ध का हल ढूंढने के लिए लाल बहादुर शास्त्री और अय्यूब खाँ को ताशकंद आमंत्रित किया और दोनों नेताओं ने इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। सोवियत प्रधानमंत्री की काफी सौदेबाजी और विचार–विमर्श (बहस) के बाद युद्ध करने वाले दोनों देशों के नेताओं ने ताशकंद समझौते पर हस्ताक्षर किए। समझौते के तहत भारतीय सेना द्वारा अपने कब्जे में किए गए क्षेत्रों को पाकिस्तान को वापस करना था, जिसका विपक्षी दलों ने विरोध किया।

6.4 श्रीमती इंदिरा गांधी का कार्यकाल

लाल बहादुर शास्त्री के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी ने प्रधानमंत्री का पद संभाला। पंडित नेहरू के बाद देश की प्रधानमंत्री के रूप में श्रीमती गांधी का कार्यकाल सबसे लंबा कार्यकाल था। 1970 के चुनावों के बाद, श्रीमती गांधी देश में अपनी

सत्ता को सुदृढ कर पाईं। चाहे किसी भी दृष्टिकोण से देखें, उनके कार्यकाल में प्रमुख विदेशी नीति संबंधी घटना बांग्लादेश युद्ध था जो 1971 में पाकिस्तान के साथ लड़ा गया था।

भारतीय इतिहास में इस प्रमुख घटना को समझने के लिए इस संकट की पृष्ठभूमि का सार जानना अनिवार्य है। दिसंबर 1970 में पाकिस्तान में हुए एकमात्र लोकतांत्रिक चुनाव में, जुल्फिकार अली भुट्टो की पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी (पी.पी.पी.) पश्चिमी पाकिस्तान में बहुमत (144 में से 88) से जीती जबकि अवामी लीग ने 167 सीटें जीतकर पूर्वी पाकिस्तान में स्पष्ट बहुमत जीता। लोकतांत्रिक सिद्धांत के अनुसार, पाकिस्तान के तत्कालीन तानाशाह याहया खाँ को अवामी लीग के नेता शेख मुजीबुर्रहमान को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना चाहिए था। लेकिन चालाक भुट्टो नहीं चाहते थे कि कोई बंगाली, पाकिस्तान का प्रधानमंत्री बने।

याह्या खाँ भी बांग्लादेशी के हाथ में सत्ता देने के इच्छुक नहीं थे। सत्ता हस्तांतरित करने की बजाए याह्या खाँ ने सैनिक शासन लगाकर लेफ्टिनेंट जरनल टिक्का खाँ को गवर्नर (राज्यपाल) नियुक्त कर दिया और मार्च 1971 में पूर्वी पाकिस्तान में इस आंदोलन को कुचलने के लिए सेना भेज दी। अवामी पार्टी के लोकप्रिय नेता मुजीबुर्रहमान को गिरफ्तार करके पश्चिमी पाकिस्तान की जेल में डाल दिया गया। इस सैनिक तानाशाही को समाप्त करने के लिए पूर्वी पाकिस्तान की क्रुद्ध जनता सड़कों पर उतर आई। सेना ने विश्व के इतिहास में मानव अधिकारों का सबसे ख़राब उल्लंघन किया। पूर्वी पाकिस्तान में अवामी दल के बुद्धिजीवियों और समर्थकों का जनसंहार किया गया, महिलाओं के बलात्कार हुए और हिंदुओं का व्यवस्थित जाति संहार किया गया। यह युद्ध केवल घृणा का युद्ध था। 'न्यूयॉर्क टाइम्स के अनुसार पाकिस्तानी सेना ने हिंदुओं की दुकानों पर धावा बोलने और उन्हें नष्ट करने के लिए हिंदुओं की दुकानों पर पीले रंग से बड़ा–बड़ा एच. एस. पेंट कर दिया था। परिणामस्वरूप 1 करोड़ 20 लाख 12 (मिलियन) बांग्लादेशी, मुसलमान और हिंदू शरणार्थियों के रूप में पश्चिम बंगाल (मुख्य रूप से कलकत्ता) में आ गए। इतनी बड़ी तादाद में लोगों को भोजन आदि देना भारत पर एक आर्थिक दबाव था और इसके साथ–साथ पश्चिम बंगाल की सरकार के लिए कानून और व्यवस्था को बनाए रखना भी एक समस्या बन गई थी।

राजनीति के खेल में निपुण श्रीमती गांधी ने पूर्वी पाकिस्तान में हुई मानव त्रासदी के बारे में नेताओं को सूचित करने के लिए पश्चिमी देशों का दौरा किया। उस समय अमेरिका गुप्त रूप से चीन के साथ संबंध स्थापित करने के लिए राह बनाने में व्यस्त था, जिसमें पाकिस्तान ने मध्यस्थ के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसी समय श्रीमती गांधी सेना को सैनिक हस्तक्षेप के लिए तैयार रहने को भी कह चुकी थीं। सेना चाहती थी कि यह हस्तक्षेप शीत ऋतु (सर्दियों) में हो क्योंकि हिमालय की घाटियों पर बर्फ गिर जाएगी और पाकिस्तान का मित्र देश चीन इस संकट में सैनिक रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा।

भारत पर पहले से ही अधिकार करने और भारत को अपने सेनाएँ पश्चिम की ओर मोड़ने के लिए विवश करने हेतु पाकिस्तान ने 3 दिसंबर 1971 में भारत पर आक्रमण कर दिया। भारत ने व्यापक रूप से पूर्व में हस्तक्षेप किया। युद्ध का परिणाम यह रहा कि युद्ध पूर्वी पाकिस्तान की स्वतंत्रता के पक्ष में समाप्त हुआ और एक आज़ाद देश के रूप में बांग्लादेश का आर्विभाव हुआ। भारतीय सेना उस समय पराकाष्ठा पर थी जब उन्होंने युद्ध में 90,000 से भी अधिक पाकिस्तानी सैनिकों के समर्पण को स्वीकार किया। पाकिस्तान के मित्र देश, विशेष रूप से अमेरिका युद्ध में भारतीय विजय से परेशान हो गए क्योंकि भारत की विजय को उन्होंने सोवियत संघ की विजय के रूप में देखा। निक्सन के संस्मरणों के अनुसार, वह भारत के हाथों पश्चिम पाकिस्तान को नष्ट होने से बचाना चाहते थे। इस प्रकार, पश्चिमी पाकिस्तान को बचाने के लिए उन्होंने परमाणु युद्धपोत 'इंटरप्राइज़' को बंगाल की खाड़ी की ओर बढ़ने के लिए कहा। सुनियोजित चाल में, सोवियत संघ ने अपने परमाणु युद्धपोत को अमेरिका युद्धपोत का पीछा करने के लिए भेजा। युद्ध में सोवियत संघ भारत का प्रमुख समर्थक था और वह भारत की निंदा करने और उसे पूर्वी पाकिस्तान से अपनी हथियारबंद सेनाओं को हटाने के लिए कहने से संबंधित अमेरिकी प्रस्तावों को अस्वीकृत (अमान्य) करने के लिए संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में अपनी वीटो शक्ति का अक्सर प्रयोग करता।

6.4.1 भारत–सोवियत शांति और मैत्री संधि, 1971

गुटनिरपेक्ष के चलते नेहरू के कार्यकाल के दौरान सोवियत समर्थक झुकाव पहले से ही स्थापित हो चुका था। 1970 का दशक ऐसा था जब गुटनिरपेक्ष आंदोलन वैश्विक स्तर पर सोवियत संघ के लिए शक्ति (बल) सहानुभूतिसूचक बन चुका था। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य के रूप में, क्यूबा ने तो यह विचार भी प्रस्तावित किया कि सोवियत संघ गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का स्वाभाविक मित्र देश है। क्यूबा का हवाना में 1979 में हुए गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन के दौरान यह विचार था। इस अवधि के दौरान यह झुकाव भारत–सोवियत संबंधों का प्रमुख प्रमाण बन गया।

1971 के बांग्लादेश युद्ध से पूर्व, भारत ने सोवियत संघ के साथ शांति और मैत्री संधि पर हस्ताक्षर किए थे। संधि के अंतर्गत, यदि दोनों देशों में से किसी भी देश को सैनिक चेतावनी का सामना करना पड़ता है तो उस हालात में दोनों 'तत्काल परस्पर परामर्श करेंगे और समुचित प्रभावशाली तरीके अपनाएँगे।

संधि में सोवियत संघ ने भारत की गुटनिरपेक्षता के प्रति सोवियत संघ की स्वीकृति व्यक्त की। हालांकि अमेरिका द्वारा इस संधि की आलोचना की गई क्योंकि उसने इसे भारत की गुटनिरपेक्षता के अंत के रूप में देखा। लेकिन यह संधि भारत का तत्कालीन परिवर्तनशील वैश्विक परिदृश्य का जवाब था। चूंकि दुश्मन का दुश्मन मित्र होता है। इसलिए इस सिद्धांत के आधार पर भारत के विरुद्ध होने के कारण पाकिस्तान और चीन 1962 से एक–दूसरे के मित्र बन गए। अमेरिका पहले से ही पाकिस्तान का मित्र था और सैनिक गठबंधन उनके संबंधों को मज़बूत किए हुए थे। अमेरिका के राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन चीन के साथ संबंध बनाने के लिए क्रियाशील थे और इसका लक्ष्य सोवियत संघ की शक्ति को संतुलित करना था।

6.4.2 शिमला समझौता, 1972

1971 के भारत–पाक युद्ध की समाप्ति श्रीमती गांधी और श्री भुट्टो के बीच शिमला समझौते पर हस्ताक्षर हुई। समझौते के तहत, दोनों देशों ने अपने मतभेदों को शांतिपूर्ण तरीकों से द्विपक्षीय वार्ताओं के जरिए निपटाने का निर्णय लिया।'' वे एक–दूसरे की राष्ट्रीय एकता और प्रादेशिक अखंडता के लिए भी सहमत हुए और क्षेत्र में शांति बनाए रखने को प्रभावित (अर्थात् गड़बड़ी पैदा करने वाले किसी भी कार्य में सहायता या प्रोत्साहन न देने के लिए सहमति हुई। प्रत्यक्ष मायनों में, आदर्शवादी विचार की इन अभिव्यक्तियों के अलावा भारत–पाक युद्ध में पश्चिमी पाकिस्तान के जिन क्षेत्रों पर भारत ने कब्ज़ा कर लिया था उन सभी क्षेत्रों को पाकिस्तान ने पुनः प्राप्त कर लिया और बांग्लादेश में युद्ध के दौरान बंदी बनाए गए बंदियों की आजादी भी सुरक्षित कर ली। भारत ने बांग्लादेश की सहमति प्राप्त की और 1973 में युद्धबंदी रिहा हुए। भारत को अच्छे व्यवहार का आश्वासन मिला, जिस व्यवहार को करने की पाकिस्तान में क्षमता नहीं है।

विरोधी दल विशेष रूप से तत्कालीन जनसंघ (वर्तमान भारतीय जनता पार्टी का पूर्वगामी रूप) ने शिमला समझौते की कड़ी आलोचना की। अप्रैल 1978 में मोरारजी देसाई की जनता पार्टी सरकार में विदेश मंत्री बने अटल बिहारी वाजपेयी ने संकेत किया कि श्रीमती गांधी और श्री भुट्टो ने बीच "गुप्त और मध्यरात्रि'' समझ के बाद ही समझौता हो पाया।

6.4.3 1974 का परमाणु परीक्षण

राष्ट्र को प्रमुख शक्ति की राह पर ले जाने के श्रीमती गांधी के दृढ निश्चय के लिए भी भारत उन्हें याद रखेगा। सत्ता (शक्ति) के प्रति पंडित नेहरू का दृष्टिकोण आदर्शवादी था। लेकिन श्रीमती गांधी काफी हद तक यथार्थवादी थीं। नेहरू ने 1954 में लोकसभा में कहा – "यदि आप भविष्य में झांके और युद्ध आदि जैसा कुछ गलत नहीं होता तो विश्व में भारत का स्थान निश्चित रूप से चौथा (अमेरिका, सोवियत संघ और चीन के बाद) होगा। लेकिन श्रीमती गांधी ने इस आदर्शवाद को मूर्त रूप प्रदान किया। उनके ऐसे कार्यों में एक कार्य था मई 1974 पोखरण में परमाणु परीक्षण करवाना।

अक्तूबर 1964 में जब से चीन ने परमाणु परीक्षण किए थे तभी से भारत सरकार पर परमाणु परीक्षण कराए जाने का घरेलू दबाव था। हालांकि, लाल बहादुर शास्त्री इस माँग के प्रति मौन थे, लेकिन उनके विदेश मंत्री स्वर्ण सिंह ने मई 1966 में लोकसभा में कहा कि थोड़े ही समय में भारत में परमाणु क्षमता को अर्जित करने की क्षमता है। स्पष्ट रूप से 1964 के उत्तरार्द्ध में प्रधानमंत्री के रूप में शास्त्री ने बम डिज़ाइन पर काम करने के लिए परमाणु ऊर्जा आयोग को अधिकार दे दिया था।

श्रीमती गांधी द्वारा कराया गया परीक्षण भारतीय परमाणु क्षमता को दर्शाने के लिए था, हालांकि इसे शांतिपूर्व परमाणु विस्फोट (पी एन ई) कहा गया। 1971 में बांग्लादेश युद्ध के दौरान, भारत को पश्चिम पाकिस्तान पर हमला करने से रोकने के लिए भारत को धमकाने हेतु अमेरिका ने अपनी परमाणु शक्ति इंटरप्राइज़ का प्रयोग किया था। इससे पहले, राष्ट्रपति निक्सन के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार हैनरी किसिंजर जब भारत में थे तो उन्होंने भारतीय नीति–निर्माताओं को सूचित कर दिया था कि यदि भारत और पाकिस्तान के झगड़ों में चीन हस्तक्षेप करता है तो उसे अमेरिका पर भरोसा नहीं करना चाहिए। यह निक्सन के उस सिद्धांत के विपरीत था जिसमें यह वादा किया गया था कि परमाणु हथियारों वाले राज्य (इस मामले में चीन) द्वारा यदि किसी अपरमाणु वाले राष्ट्र को धमकी दी जाती है तो अमेरिका उसकी सुरक्षा करेगा। इस प्रकार श्रीमती गांधी भारत को उसकी सुरक्षा के मामले में आत्म–निर्भर बनाना चाहती थीं।

6.4.4 श्रीमती गांधी का दूसरा कार्यकाल

जब 1977 में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में पहली गैर–कांग्रेसी सरकार सत्ता में आई और चरण सिंह 1979 में छह महीने के अल्पकाल के प्रधानमंत्री बने, उस समय श्रीमती गांधी बहुत थोड़े समय के लिए सत्ता से बाहर रहीं। जनवरी 1980 में

श्रीमती गांधी ने दोबारा उनका स्थान लिया। जनता पार्टी के अधीन इन दो गैर कांग्रेसी सरकारों का राष्ट्र की विदेश नीति के विकास में कोई ज्यादा योगदान नहीं रहा। भले ही उन्होंने भारतीय गुटनिरपेक्षता में सोवियत संघ के प्रति झुकाव को सही करने का वादा किया और उसे एक असली गुटनिरपेक्ष बनाया लेकिन कुछ भी उल्लेखनीय घटित नही हुआ।

दिसंबर 1979 में जब राष्ट्र चुनाव प्रक्रिया से गुज़र रहा था तब सोवियत संघ ने अपनी दक्षिणी सीमाओं पर स्थित गुटनिरपेक्ष देश अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप किया। उस समय प्रमुख विदेशी नीति चुनौती प्रकट हो रही थी। भारतीय प्रधानमंत्री चरण सिंह ने सोवियत संघ को जितनी जल्दी हो सके अपनी सेनाएँ हटाने और अफगानिस्तान की गुटनिरपेक्ष पहचान को बनाए रखने को कहा। जब 12 जनवरी 1980 में संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष यह विषय चर्चा के लिए आया तो भारत के तत्कालीन स्थायी प्रतिनिधि ब्रजेश मिश्र ने कहा कि भारत किसी भी राज्य में विदेशी सेनाओं या सेना शिविरों की उपस्थिति के विरुद्ध है। उन्होंने एक रोचक कथन कहा कि अफगानिस्तान के मामले में सोवियत संघ ने भारत को आश्वासन दिया है कि जब काबुल सरकार कहेगी तो वह अपनी सेनाओं को वहाँ से हटा लेगा। उन्होंने यह भी कहा, "आश्वासनों पर संदेह का कोई कारण ही नहीं है विशेष रूप से सोवियत संघ जैसे मित्र देश से, जिससे हमारे घनिष्ठ संबंध हैं।" यह कथन पूरी तरह से सोवियत संघ के पक्ष में था क्योंकि एक गुटनिरपेक्ष देश सोवियत और दूसरे गुटनिरपेक्ष देश के बारे में ऐसा वक्तव्य दे रहा था। यह कथन सोवियत संघ के विघटन के बाद भी भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति को मुश्किल में डालने वाला कथन था।

तत्कालीन सत्तारूढ़ जनता पार्टी सरकार के दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करने की बजाए यह उस तथ्य को प्रतिबिंबित कर रहा था जो श्रीमती गांधी के विचारों से मेल खाता था। प्रचार के दौरान श्रीमती गांधी ने फ्रांस के यूरोप रेडियो स्टेशन को दिए एक साक्षात्कार में कहा कि अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप से भारत को खतरा" है। ब्रजेश मिश्र का वक्तव्य भी इस मुद्दे पर पहले दिए गए चरण सिंह के मत को प्रतिबिंबित नहीं करता था।

यह अमेरिका–सोवियत संघ शीतयुद्ध को भारतीय उत्तर–पश्चिमी सीमाओं तक ले आया। अमेरिका ने रूसियों को अफगानिस्तान से निकालने के लिए भारत की मदद माँगी। रूस के अफगानिस्तान के बदले में अमेरिका, वियतनाम में रुचि रखता था। चूंकि अमेरिका को 1974 में वियतनाम से अपमानजनक ढंग से पीछे हटने के लिए विवश किया गया इसलिए वह रूस को भी यह अनुभव कराना चाहता था कि राष्ट्र के जीवन में अपमान का क्या अर्थ होता है। रूस को यह अनुभव 1988 में हुआ।

चूँकि भारत सोवियत के विरुद्ध अमेरिका के साथ सहयोग करने को सहमत नहीं था इसलिए अमेरिका ने सहायता के लिए अपना रुख पाकिस्तान की ओर किया। पाकिस्तान 7.4 बिलियन डालर की कुल सैनिक और आर्थिक सहायता के पैकेज पर अफगानिस्तानी गुरिल्लों (मुजाहिदीनों) को हथियार हस्तांतरित करने के लिए माध्यम बनने के लिए एकदम सहमत हो गया। इससे यह क्षेत्र जिहाद के नाम पर धार्मिक कट्टरपन वाला आतंकवाद केंद्रित–आतंकवादी क्षेत्र में परिवर्तित हो गया।

6.5 राजीव गांधी और श्रीलंका में भारतीय शांति सेना

जिस प्रकार श्रीमती गांधी को पिछली सरकार से अफगान संकट मिला उसी तरह उनके उत्तराधिकारी राजीव गांधी को श्रीलंका का नृजातीय संकट मिला, जो काफी हद तक 1983 में प्रारंभ हुआ था। लेकिन श्रीमती गांधी ने श्रीलंका और लिबरेशन टाइगर्स ऑफ तमिल ईलम (एल.टी.टी.ई) के बीच तटस्थ (निष्पक्ष) मध्यस्थ के रूप में संकट को निपटाया। उस समय एल.टी.टी.ई. उत्तर–पूर्वी श्रीलंका में अलग तमिल राज्य की माँग कर रहा था।

लेकिन राजीव गांधी के शासन काल में संकट की स्थिति बदतर थी। इससे पहले राजीव गांधी ने उत्तर में जाफना में घेरे गए तमिलों को मानवीय सहायता प्रदान करने में भारत की रुचि दिखाई थी क्योंकि श्रीलंका सरकार इस क्षेत्र में आर्थिक नाकाबंदी लागू कर चुकी थी। उन्होंने 20 नावों से अनाज भेजा लेकिन श्रीलंकाइयों ने इस आपूर्ति को ज़रूरतमंद लोगों तक पहुँचाने की अनुमति नहीं दी। अतः जून 1987 में भारतीय वायुसेना ने लोगों के लिए अनाज को ऊपर से गिराया। इससे राष्ट्रपति जयवर्धने को यह स्पष्ट हो गया कि उसे भारत द्वारा दर्शाए गए उद्देश्य पर गंभीरतापूर्वक सोचना होगा।

हालांकि, दक्षिण पर वामपंथी, जे.वी.पी. की धमकी का सामना कर रहा था, जयवर्धने ने उत्तर में शांति बनाए रखने के लिए भारत से मदद माँगी। भारत और श्रीलंका ने जुलाई 1987 में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। राजीव गांधी और जयवर्धने के बीच हुए समझौते के अंतर्गत उत्तर और पूर्व में शांति बनाए रखने और एल.टी.टी.ई. द्वारा रखे गए शस्त्रों को स्वीकार करने के लिए भी भारतीय सेना श्रीलंका भेजी जाएगी। बदले में, आतंकवादियों द्वारा शांतिपूर्ण जीवन स्वीकार करने से उत्तर एवं पूर्व में तमिल प्रभुत्व वाले क्षेत्रों के विलय, प्रांतीय चुनाव कराने और शक्तियों के हस्तांतरण को समझौते में स्थान दिया गया।

लेकिन दलों के बीच अविश्वास के कारण समझौता सुचारु रूप से कार्यान्वित नहीं हो पाया। तमिलों ने भारतीय शांति सेना को "बेकसूर लोगों को मारने वाली सेना" के रूप में देखा। तमिलों और श्रीलंका के नए प्रधानमंत्री प्रेमदासा, दोनों की ओर से यह माँग थी कि श्रीलंका से भारतीय सेनाएँ हटाई जाएँ। राजीव गांधी के बाद के प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने भारतीय शांति सेना को हटा दिया। इस कार्य में भारत ने अपनी प्रतिष्ठा ही नहीं बल्कि 1000 से अधिक भारतीय सैनिकों को भी खोया। इस विवाद में दुर्भावना की प्रबलता थी। इसलिए एल.टी.टी. ई. ने मानव बम तैयार करके 21 मई, 1991 को राजीव गांधी की हत्या कर दी। बाद में यही ताकते राष्ट्रपति प्रेमादासा की हत्या के लिए भी उत्तरदायी रही।

6.6 नरसिंहराव (1991–1996)

नरसिंहाराव को प्रधानमंत्री के रूप में पाँच साल की अवधि पूरी करने और विदेशी नीति को आगे बढ़ाने का श्रेय जाता है। वे कांग्रेस दल के पहले ऐसे प्रधानमंत्री थे जो नेहरूगांधी परिवार के नहीं थे और पाँच साल तक प्रधानमंत्री पद पर रहे।

मिश्रित अर्थव्यवस्था से वैश्विक अर्थव्यवस्था का आर्थिक समायोजन एक प्रमुख समस्या थी। उदारीकरण, निजीकरण और सार्वभौमीकरण को अपना करके अर्थव्यवस्था चलाने के लिए सचेत नीति निर्माण के रूप में ऐसा नहीं किया गया। जब राव सरकार सत्ता में आई, तब भारत भुगतान संतुलन प्रतिकूल था और केवल मात्र 2000 से 2400 करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा थी जो केवल 7 दिनों के आयात का भुगतान करने के लिए पर्याप्त थी।

6.7 मारत–अमेरिका संबंध

आर्थिक रूप से कमजोर सरकार में हमेशा विदेशी दबाव में आने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस स्थिति का विश्व की एकमात्र महाशक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सबसे अधिक फायदा उठाया गया। अमेरिका ने राव पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वे भारतीय बाजार को कंप्यूटर, सूचना प्रौद्योगिकी और दूरसंचार आदि के क्षेत्र में अमेरिकी प्रवेश के लिए आर्थिक रूप से खोल दें। भारत अमेरिका के दबाव में आ गया और उसे अपने परमाणु कार्यक्रम बंद करने पड़े। अमेरिकी दबाव के कारण भारत को मज़बूर होकर, 1995 के लिए अपनी परमाणु परीक्षण योजना छोड़नी पड़ी।

भारत बराबर यह बयान देता रहा था कि वह अपने परमाणु विकल्प बनाए रखना चाहता है, जो शीत युद्ध के अंत से कठिन से कठिनतर होता जा रहा था। भारत ने व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि सी.टी.बी.टी. और एफ.एम.सी.टी. को सहप्रायोजित करने में अमेरिका से हाथ मिला लिया। यह सामान्य ज्ञान की बात थी कि यदि आप परमाणु शक्ति–सम्पन्न राज्य बनने का विकल्प रखना चाहते हैं तो बिना परीक्षण किए आप ऐसा नहीं कर सकते। राव के शासन काल में भारत ने 1995 में पोखरण में परीक्षण करने का प्रयास किया परंतु इसमें सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि अमेरिका को इसका पता चल गया और इसलिए राव को यह कार्यक्रम छोड़ना पड़ा।

6.8 विदेश नीति विकास और एन.डी.ए. सरकार

1998 में अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बन गए। वे एक बहुदलीय सरकार के नेता थे जिसमें 13 राजनीतिक दल शामिल थे। परंतु यह सरकार दस महीनों से ज्यादा नहीं टिक सकी। अक्तूबर 1999 में हुए चुनावों में भारतीय जनता पार्टी (बी.जे.पी) के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार दोबारा सत्ता में आ गई। यह पहली बहुदलीय सरकार है जो लगभग चार वर्षों तक सत्ता में टिकी रह पाई है।

6.8.1 परमाणु हथियार

इन दस महीनों के दौरान इस सरकार की विदेश नीति का मुख्य आग्रह परमाणु शस्त्र क्षमता विकसित करने और पाकिस्तान के साथ संबंध सुधारने की दिशा में प्रयास करने का था। भारतीय जनता पार्टी भारत के परमाणु शस्त्र शक्ति बनने की महान प्रवक्ता थी। जब यह पार्टी सत्ता में आई, इसने परमाणु शस्त्र परीक्षण करने की योजना बनाई ताकि भारत अपनी स्थिति की एक परमाणु शस्त्र राज्य के रूप में घोषणा कर सके। 11 मई 1998 को तीन परमाणु परीक्षण करके भारत ने समूचे विश्व को चकित कर दिया। 13 मई को दो और परीक्षण किए गए। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने घोषणा की कि भारत एक परमाणु शस्त्र राज्य है, और उन्होंने यह भी घोषित किया कि अब भारत कोई और परीक्षण नहीं करेगा क्योंकि सभी आवश्यक आँकड़े (डाटा) एकत्र किए जा चुके हैं। वाजपेयी ने कहा कि भारत केवल न्यूनतम परमाणु निवारक रखेगा।

भारत 1982 में श्रीमती इंदिरा गांधी के शासनकाल में और बाद में 1995 में जब नरसिंहाराव प्रधानमंत्री थे परमाणु शस्त्र परीक्षण करने की कोशिश कर रहा था। लेकिन जब परीक्षण करने की तैयारियाँ की गई तो हर बार अमेरिकी गुप्तचर

विभाग ने भारतीय योजनाओं का पता लगा लिया। अतः परमाणु परीक्षणों की योजना बनाने और इनका गुप्त रूप से ये परीक्षण लेने का श्रेय भारतीय जनता पार्टी को ही मिला।

6.8.2 संबंध सुधारने के प्रयास

1999 में प्रधानमंत्री ने पाकिस्तान के साथ संबंध सुधारने का निश्चय किया। इस दिशा में उनका पहला कदम था – पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ से मिलने के लिए लाहौर तक की बस यात्रा। इस यात्रा के दौरान प्रधानमंत्री वाजपेयी मीनार–ए–पाकिस्तान भी गए जो इस बात का प्रतीक था कि भारत ने मुहम्मद अली जिन्ना के द्वि–राष्ट्र सिद्धांत पर आधारित पाकिस्तान के सृजन को स्वीकार किया है।

वस्तुतः इस तरह की अभिपुष्टि की कभी ज़रूरत नहीं पड़ी थी क्योंकि पाकिस्तान के सृजन के प्रति प्रारंभिक विरोध के पश्चात् हिंदू महासभा समाप्त हो गई थी और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एन.डी.ए) में प्रमुख शासक दल के रूप में भारतीय जनता पार्टी ने विभाजन को रद्द करने के बारे में भी कभी कुछ नहीं कहा।

लाहौर में बैठक के पश्चात् पाकिस्तानी प्रधानमंत्री ने कहा कि यह काश्मीर पर निर्णय का वर्ष होगा। भारत के विदेश मंत्री जसवंत सिंह ने कहा था कि स्वतंत्रता के पचास वर्षों के पश्चात् क्षेत्र में मानचित्रण का समय अब समाप्त हो चुका है। इसका अर्थ यह था कि अब क्षेत्र के भूगोल में परिवर्तन करने का कोई प्रश्न ही नही उठता।

मई 1999 में दोनों राष्ट्रों के बीच कारगिल युद्ध हुआ। जब दोनों प्रधानमंत्री अपने द्विपक्षीय संबंधों के भविष्य की चर्चा कर रहे थे, पाकिस्तानी सेना युद्ध की तैयारी कर रही थी। यह युद्ध महत्वपूर्ण था क्योकि मई 1998 में दोनों देशों द्वारा परमाणु शस्त्र प्राप्त कर लेने के पश्चात यह इन दोनों राष्ट्रों के बीच पहला सैन्य संघर्ष था। यह पाकिस्तानी सशस्त्र सेनाओं द्वारा नियंत्रण रेखा (एल.ओ.सी) पर यथापूर्व स्थिति को बदलने का प्रयास था ताकि जब भी बातचीत हो, पाकिस्तानी इसे भारत के साथ एक सौदाबाजी करने के एक साधन के रूप में प्रयुक्त कर सके।

फिर भी, पाकिस्तान के सेनाध्यक्ष जनरल परवेज़ मुशर्रफ ने अक्तूबर 1999 में एक रक्तहीन तख्ता–पलट में प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ को पदच्युत कर दिया। इसके फलस्वरूप पाकिस्तान से संबंधों को सामान्य करने के सभी प्रयास व्यर्थ हो गए। भारत ने अपने पारंपरिक तरीके में इस सैनिक–सत्ता प्राप्ति के प्रति प्रतिक्रिया की। भारत ने तब सार्क की बैठक का बहिष्कार किया और यह भी बीड़ा उठाया कि पाकिस्तान को राष्ट्रमंडल से निलंबित करवाया जाए। भारत ने शांति की दिशा में दूसरा प्रयास तब किया जब वाजपेयी ने 2001 के शुरू में परवेज़ मुशर्रफ को बातचीत करने के लिए आगरा में बुलाया। यह वार्ता असफल रही क्योकि जनरल मुशर्रफ कश्मीर के तथाकथित मूल मुद्दे पर बातचीत करने के लिए अपनी शर्तों पर अड़े रहे।

पाकिस्तान की सशस्त्र सेनाओं ने वहाँ की सभी सरकारी संस्थाओं पर अधिकार कर लिया था। उनके शासन के अधीन सीमा–पार आतंकवाद, जो 1989 से भारत–पाकिस्तान संबंधों का विनाशक रहा था, सैनिक तानाशाही द्वारा और अधिक बढ़ गया। भारत–पाक संबंध तब और अधिक बिगड़ गए जब 13 दिसम्बर 2001 को पाकिस्तानी आतंकवादियों ने भारत की संसद पर हमला करने की कोशिश की और हमारे शीर्ष नेताओं को खत्म करना चाहा। सौभाग्यवश हमारे सतर्क सुरक्षा बलों ने संसद भवन के एकदम बाहर आतंकवादियों से बलात् गोलाबारी शुरू की और पाँचों पाकिस्तानियों को मार गिराया। भारत ने इस्लामाबाद से अपने उच्चायुक्त को वापस बुला लिया और पाकिस्तान के साथ वायु, रेल और बस मार्गों से सभी संपर्क तोड़ लिए। भारत सरकार ने विश्व की एकमात्र विद्यमान महाशक्ति – अमेरिका से अधिक घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लिए हैं। अतः भारतीय गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता का प्रश्न अक्सर उठाया जाता है। इसी दौरान, पाकिस्तान अमेरिका की तालिबान शासन और अफगानिस्तान में अल कायदा के विरुद्ध लड़ाई में पूरा सक्रिय सहयोग करने का वायदा करके एक बार फिर से अमेरिका के करीब आ गया है।

जैसा कि हमने देखा जब विश्व में दो ध्रुव आदर्शवादी, आर्थिक और राजनीतिक और प्रत्येक अन्य स्तर पर, सर्वोच्चता के लिए गहन रूप से मुकाबला कर रहे थे। तब गुटनिरपेक्ष इस विध्रुव विश्व में एक बच्चे की भाँति अबोध था। लेकिन एक ध्रुव की समाप्ति से विरोधी सैनिक गठबंधनों की प्रासंगिकता और विश्व के प्रत्येक राज्य को किसी न किसी एक गुट में शामिल करने की प्रतिस्पर्धा खत्म हो गई है। गुटनिरपेक्षता का एक पक्ष भी है। वह यह है कि गुट से संबद्ध राष्ट्र सामान्यतः नेता–राष्ट्र के सिद्धांतानुसार काम करता है। लेकिन गुटनिरपेक्ष देश निर्णय लेने संबंधी अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखता है। इस अर्थ में भारत अभी भी अपने निर्णय लेने की स्वतंत्रता को बनाए हुए है।

दूसरे अर्थ में, शीतयुद्ध के दौरान भारतीय गुटनिरपेक्षता सोवियत संघ की ओर उन्मुख थी। लेकिन अब रूस स्वयं अपने पूर्व–विरोधी के नज़दीक जा रहा है तो यदि भारत भी अमेरिका की ओर बढ़ता है तो इसमें कुछ भी गलत नही है। इससे पहले, शीतयुद्ध के दौरान, नीति निर्माताओं की सामान्य अनुक्रिया होती थी कि भारत का सोवियत संघ की ओर इतना अधिक झुकाव नहीं है बल्कि सबके साथ एक समान है।

इसी तरह यदि अमेरिका भारतीय राष्ट्रीय हित को बढ़ावा देने में मददगार हो सकता है तो भारत द्वारा अमेरिका के साथ घनिष्ठ सहयोग से काम करने में कुछ भी गलत नहीं है। वैसे, भारत यूरोपीय संघ, फ्रांस और रूस जैसी प्रमुख शक्तियों के साथ मिलकर बहुध्रुवीय विश्व की दिशा में काम कर रहा है। इस बीच, भारत ने पूर्व की ओर देखो नीति' अपनाई है और तीव्रता से दक्षिण–पूर्वी देशों के साथ घनिष्ठ संबंध बनाने की दिशा में तेज़ी से आगे बढ़ा है। भारत यूरोपीय संघ, आसियान, जापान और ऑस्ट्रेलिया के ज्यादा निकट जाने की ओर भी अग्रसर हुआ है। 2003 तक चीन–भारत संबंध में सुधार होना शुरू हो चुका है।

6.9 सारांश

भारतीय विदेशी नीति स्वतंत्रता के बाद पिछले छप्पन वर्षों में कई कारकों के फलस्वरूप कई परिवर्तनों से गुजरी। इनमें से एक है शीतयुद्ध की समाप्ति से अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में परिवर्तन और केवल एक महाशक्ति के रूप में अमेरिका का उभरना। दूसरा, घरेलू परिवर्तन अर्थात् देश में परिवर्तन जिसमें एक–पार्टी सरकार के स्थान पर 21वीं शताब्दी में गठबंधन सरकार का आना। तीसरा, इनके परिणामस्वरूप प्रधानमंत्रियों के व्यक्तित्व से भी परिवर्तन हुआ।

अभी भी भारतीय विदेश नीति गुटनिरपेक्षता के ढाँचे में गुंथी हुई है। हालांकि द्विध्रुवीय विश्व में गुटनिरपेक्षता के उद्‌गम को देखें तो इसकी प्रासंगिकता पर प्रश्न करने का कारण है किंतु इसकी प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि भारत अपनी प्रत्येक नीति का स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने के अपने अधिकार को बनाए रखने और अपनी नीति अनुक्रिया को बनाने का दावा करता है। लेकिन भारत बहुध्रुवीय विश्व में आगे–आगे रास्ता दिखाने का काम करता है जहाँ अन्य खिलाड़ियों के साथ वह एक स्वतंत्र खिलाड़ी के रूप में उभर सके।

6.10 अभ्यास

1. भारत की विदेश नीति में नेहरू के योगदान की चर्चा कीजिए।
2. पाकिस्तान ने लालबहादुर शास्त्री की दृष्टिगत कमजोरी का शोषण करने का प्रयास कैसे किया? इसका क्या परिणाम रहा?
3. ठोस उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि कीजिए कि भारत को प्रमुख शक्ति बनाने की नींव इंदिरा गांधी ने रखी।''
4. राजीव गांधी की विदेशी मामलों में उपलब्धियों और विसफलताओं का परीक्षण कीजिए।
5. 21वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में भारत की विदेशी नीति की प्रमुख उपलब्धियों की चर्चा कीजिए।

इकाई–7
संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय संघ

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 अमेरिका के साथ भारत के संबंध

7.2.1 शीत युद्ध के दौर में संबंधों का विकास

7.2.2 शीत युद्ध की समाप्ति के बाद संबंध

7.2.3 परिवर्तन की शुरुआत

7.2.4 रक्षा सहयोग

7.2.5 पोखरण–II और उसके बाद

7.2.6 नई सहस्राब्दि में संबंध

7.2.7 11 सितंबर और उसके बाद

7.3 यूरोपीय संघ के साथ भारत के संबंध

7.3.1 राजनीतिक मतभेद

7.3.2 आर्थिक सहयोग

7.3.3 आर्थिक सीमाएँ

7.3.4 व्यापारिक विवाद

7.4 सारांश

7.5 अभ्यास

7.1 प्रस्तावना

आज की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में विश्व की अनेक बड़ी शक्तियों में अमेरिका और यूरोपीय संघ का विशिष्ट स्थान है। सोवियत संघ के विघटन के बाद अमेरिका विश्व की एकमात्र महाशक्ति है। इसके पास ऐसी सैनिक क्षमताएँ हैं जिनसे वह समूचे संसार को नष्ट कर सकता है। साथ ही, यह विश्व का सबसे सम्पन्न राष्ट्र है। यूरोपीय संघ विश्व के सबसे बड़े आर्थिक गुटों में से एक है। इसकी सामूहिक आर्थिक सत्ता अमेरिका की अर्थव्यवस्था के बराबर है। इसके दो सदस्य देश – इंग्लैंड और फ्रांस – परमाणु शक्तियाँ हैं। इस प्रकार, सैद्धांतिक दृष्टि से यूरोपीय संघ के पास सैनिक क्षमता और आर्थिक सम्पन्नता दोनों हैं। एक महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि यूरोपीय संघ के कई सदस्य देश उत्तरएटलांटिक संधि संगठन (नाटो) के सदस्य रहे हैं।

भारत और अमेरिका के बीच रिश्ते वैसे सद्भावपूर्ण नही रहे हैं जैसे कि विश्व के दो महान लोकतांत्रिक देशों के बीच होने चाहिए। फिर भी, बीसवीं शताब्दी की समाप्ति के बाद से दोनों देश एक–दूसरे के करीब आए हैं। हालांकि पाकिस्तान के प्रति अमेरिका का झुकाव अभी बरकरार है जबकि भारत हर संभव प्रयास करने के बावजूद पाकिस्तान के साथ सामान्य दोस्ताना रिश्ते कायम नहीं कर पाया है। भारत ने यूरोपीय संघ के साथ धीरे–धीरे करीबी और मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित कर लिए हैं। दोनों पक्षों ने आपसी व्यापार बढ़ाने में दिलचस्पी दिखाई है। जून, 2000 से शुरू हुई भारत–यूरोपीय संघ शिखर बैठकों के बाद भारत और यूरोपीय संघ के बीच आर्थिक तथा राजनीतिक संबंधों में विस्तार और मज़बूती आने की आशा है।

इस इकाई में अमेरिका के साथ भारत के घटनापूर्ण रिश्तों और यूरोपीय संघ तथा इस आर्थिक गुट के अलग–अलग सदस्य देशों के साथ भारत के बढ़ते हुए सहयोग का विश्लेषण किया गया है।

7.2 अमेरिका के साथ भारत के संबंध

भारत और अमेरिका को विश्व का क्रमशः सबसे बड़ा और सबसे शक्तिशाली लोकतंत्र माना जाता है। इसलिए इन दो देशों के बीच संबंधों को विभिन्न देशों के बीच रिश्तों की एक दिलचस्प मिसाल के रूप में देखा जाता है। इन संबंधों का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि भारत की गिनती विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में होती है जबकि अमेरिका अपेक्षाकृत नई सभ्यता है। परंतु शासन व्यवस्था के अनुभव की दृष्टि से अमेरिका भारत के मुकाबले काफी पुराना है। 1947 में जब भारत ने स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जन्म लिया तब तक अमेरिका डेढ़ सौ साल की उम्र पार कर चुका था।

यही नहीं, भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति तक वह विश्व की महाशक्ति भी बन चुका था। इस प्रकार सभ्यता, शासन व्यवस्था और सत्ता संचालन जैसे पहलुओं को देखते हुए विश्व इतिहास के जटिलतम द्विपक्षीय संबंधों को भारत और अमेरिका के बीच संबंधों में शामिल किया जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद भारत ने न केवल दो शक्तिशाली गुटों में से किसी भी गुट में शामिल नहीं होने का फैसला किया, बल्कि गुट–निरपेक्षता की नीति अपना ली।

अमेरिका ने जब भी सैनिक गुटों तथा सुरक्षा गठबंधनों के गठन को बढ़ावा दिया, भारत ने उनका विरोध किया। भारत दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन' (सिएटो) और मध्य संधि संगठन' (सेंटो) के गठन का विशेष रूप से आलोचक रहा है। पाकिस्तान इन दो संगठनों का सक्रिय सदस्य था और इन संगठनों के कारण शीत युद्ध भारत के द्वार तक आ गया।

विश्व में अनेक घटनाओं तथा सशस्त्र संघर्षों के बारे में अमेरिकी दृष्टिकोण गठबंधन राजनीति से प्रेरित रहा और भारतीय सोच का आधार गुटनिरपेक्ष नीति रही। इसलिए इस तरह के अधिकतर मुख्य मुद्दों पर भारत और अमेरिका का रवैया अलग–अलग रहा। औपनिवेशिक क्षेत्रों में उपनिवेशों का खात्मा, कोरियाई युद्ध, वियतनाम युद्ध, स्वेज़ नहर संकट, हंगरी संकट, चेकोस्लोवाकिया संकट, और संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता जैसे मसलों पर भारत और अमेरिका के बीच शीत युद्ध संबंधी मतभेद विशेष रूप से मुखर और ज़ोरदार ढंग से सामने आए। भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े सवालों पर भी भारत तथा अमेरिका के बीच गंभीर मतभेद रहे। ये थे – कश्मीर समस्या, पाकिस्तान को अमेरिकी शस्त्रों की बिक्री और परमाणु मसले।

कश्मीर समस्या : 1947 में पाकिस्तान की शह पर कश्मीर पर हुए कबाइलियों के हमले से कश्मीर समस्या शुरू हुई। भारत और पाकिस्तान के बीच पहली लड़ाई भारत की आज़ादी के तत्काल बाद ही उस समय छिड़ी जब कश्मीर के महाराज कश्मीर के भारत में विलय पर सहमत हो गए और उन्होंने भारत से सैनिक सहायता का अनुरोध किया। अमेरिका ने पाकिस्तानी हमले को नहीं पहचाना, भारत तथा पाकिस्तान दोनों पर हथियारों का प्रतिबंध लागू कर दिया और संयुक्त राष्ट्र के उस प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें हमले की निंदा नहीं की गई। भारत ने शिकायत की कि अमेरिका ने अपनी नीति के ज़रिए आक्रामक और आक्रांत को एक तराजू पर तोला है। 1965 में पाकिस्तान के दूसरे आक्रमण के समय भी अमेरिका ने इसी तरह का रवैया अपनाया। 1971 में तीसरे भारत–पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान की ओर अमेरिका का झुकाव भारत के प्रति शत्रुता का कृत्य था। परंतु लड़ाई में भारत की विजय के बाद अमेरिका शिमला समंझौते का समर्थन करने लगा जिसमें आपसी बातचीत से समस्या को हल करने की बात कही गई थी। इसके बावजूद अमेरिका कश्मीर को विवादग्रस्त क्षेत्र मानता रहा और उसने भारत का यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं किया कि कश्मीर उसका अभिन्न अंग है।

अमेरिकी हथियारों की सप्लाई : पहले भारत–पाक युद्ध के छह वर्ष बाद 1954 में अमेरिका ने पाकिस्तान के साथ पारस्परिक रक्षा समझौते पर हस्ताक्षर किए। 1959 में उसने सैनिक सहयोग के एक और समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस बीच, पाकिस्तान सिएटो और सेंटो का सदस्य बन गया। इसके फलस्वरूप पाकिस्तान को अमेरिका से लाखों डॉलर सैनिक सहायता के रूप में मिले। इस सहायता के बहुत बड़े हिस्से का इस्तेमाल अमेरिका से उन्नत किस्म के हथियार खरीदने पर किया गया। भारत ने बार–बार अमेरिका को आगाह किया कि हथियार देने की उसकी नीति से उपमहाद्वीप में शस्त्रों की होड़ को बढ़ावा मिल रहा है और क्षेत्रीय अस्थिरता पैदा हो रही है। अमेरिका आश्वासन देता रहा कि पाकिस्तान को हथियार भारत के खिलाफ इस्तेमाल करने के लिए नहीं बल्कि साम्यवाद को बढ़ने से रोकने के लिए दिए जा रहे हैं। परंतु पाकिस्तान ने इन हथियारों का इस्तेमाल भारत के साथ लड़ाइयों में किया।

परमाणु मसले : 1964 में चीन के परमाणु शक्ति बन जाने के बाद से ही भारत अमेरिकी संबंधों में परमाणु समस्या ने प्रमुख स्थान ले लिया। अमेरिका को शक था कि भारत भी चीन का अनुसरण करते हुए अपना बम तैयार कर लेगा जिससे परमाणु शस्त्रों के प्रसार में और वृद्धि होगी। अमेरिका ने अन्य कई देशों के साथ मिलकर परमाणु प्रसार की रोकथाम की दिशा में प्रयास शुरू कर दिए जिनके फलस्वरूप 1968 में परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर किए गए। भारत ने इसमें शामिल होने से यह कहते हुए इनकार कर दिया कि इस संधि में उन देशों के साथ भेदभाव किया गया है जो परमाणु हथियारों से संपन्न नहीं हैं। इसमें अन्य देशों को तो परमाणु शक्ति बनने से रोका गया है परंतु पाँच परमाणु शक्ति संपन्न देशों – अमेरिका, सोवियत संघ, फ्रांस, इंग्लैंड और चीन – को परमाणु प्रसार की छूट दी गई है। इस भेदभावपूर्ण संधि को नकारते हुए भारत ने 1974 में शांतिपूर्ण परमाणु विस्फोट (पी.एन.ई) कर। दिया। इससे भारत और अमेरिका के रिश्तों में एक बार फिर राजनीतिक खटास आ गई क्योंकि यह विस्फोट 1971 के युद्ध में भारत की विजय के लगभग 3 वर्ष बाद तथा हिंद–चीन से अमेरिकी फौजों की वापसी के कारण अमेरिका की स्थिति दुर्बल हो जाने के दौरान किया गया था।

शीत युद्ध के दौर में सैनिक दूरियों तथा राजनीतिक मतभेदों के बावजूद दोनों देशों के बीच अन्य क्षेत्रों में अच्छे संबंध बने रहे। भारत और अमेरिका ने कभी भी एक–दूसरे को दुश्मन नहीं माना। वास्तव में 1970 के दशक के शुरू में जब

भारत–सोवियत मैत्री संधि के साथ–साथ जब चीन और अमेरिका के बीच दोस्ती का दौर शुरू हुआ तो भारत तथा अमेरिका के बीच राजनीतिक खाई और चौड़ी हो गई। परंतु इस अप्रिय दौर में भी आपसी संबंधों में कोई गंभीर दरार नहीं पड़ी। शीत युद्ध के वर्षों में भी भारत को सूखे तथा अकाल के दौरान खाद्य सहायता और सांकेतिक आर्थिक सहायता मिली। हालांकि अमेरिका ने कभी–कभी खाद्य सहायता को राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया ताकि भारत में असंतोष पैदा हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत को इस अमेरिकी सहायता से फायदा भी हुआ।

7.2.1 शीत युद्ध के दौर में संबंधों का विकास

एक स्वतंत्र राजनीतिक इकाई के रूप में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में भारत का प्रवेश और विश्व की तत्कालीन दो महाशक्तियों – अमेरिका तथा सोवियत संघ – के बीच शीत युद्ध का प्रारंभ लगभग एक–साथ ही हुआ। दोनों शक्तियों में विश्व–भर में अपना प्रभाव फैलाने की होड़ छिड़ी तो भारत के सामने एक कठिन प्रश्न खड़ा हो गया कि वह शीत युद्ध में किसका साथ दे। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने किसी का भी पक्ष लेने से इनकार किया और गुटनिरपेक्षता की नीति की घोषणा की। इस नीति ने शीत युद्ध के नैतिक आधार को चुनौती दी, शीत युद्ध की रोकथाम की माँग की और ऐसा रवैया अपनाने का रास्ता चुना जिससे भारत, अमेरिका तथा सोवियत संघ, दोनों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रख सके। इसके बावजूद अमेरिका ने भारत की नीति को पसंद नहीं किया। उसने पाकिस्तान का साथ दिया और भारत–विरोधी रुख अपनाया।

7.2.2 शीत युद्ध की समाप्ति के बाद संबंध

हालांकि 1980 के दशक के मध्य में भूतपूर्व सोवियत संघ में गोर्बाचोब के सत्ता में आने के समय से ही शीत युद्ध में ढिलाई आने लगी थी, परंतु दिसंबर 1991 में सोवियत संघ के बिखरने के साथ शीत युद्ध पूरी तरह से समाप्त हो गया। शीत युद्ध में ढिलाई आने के दौर में ही अमेरिका के साथ भारत के संबंध सुधर गए थे, परंतु सोवियत संघ के बिखराव ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अभूतपूर्व अनिश्चितताओं को जन्म दिया, जिनमें भारत–अमेरिकी संबंध भी शामिल थे।

जब अमेरिका विश्व की एकमात्र महाशक्ति के रूप में उभरा तो उस समय साफ लग रहा था कि वह विश्व–संबंधों में भारी बदलाव के उस दौर में भारत के साथ अपने संबंधों पर ध्यान नहीं दे पाएगा। कुछ विशेषज्ञों की राय थी कि शीत युद्ध के दिनों में दक्षिण एशिया कम प्राथमिकता वाला क्षेत्र था और ऐसी कोई संभावना नहीं है कि शीत युद्ध के बाद के दौर के नए संदर्भों में इसे कोई ऊँची प्राथमिकता मिल पाएगी। वास्तव में जब बिल क्लिंटन शीत युद्ध के बाद के युग के पहले अमेरिकी राष्ट्रपति बने तो भारत को लगा कि अमेरिका के साथ उसके संबंध अनिश्चितता के दौर में पहुँच गए हैं। नए विदेश सह–मंत्री रोबिन राफेल ने, जो दक्षिण एशिया के प्रभारी थे, कश्मीर के भारत में विलय की वैधता को चुनौती देकर भारत–अमेरिकी संबंधों में नई दरारें खड़ी कर दीं। यही नहीं, अमेरिका ने ओमनीबस ट्रेड ऐक्ट की सुपर 301 धारा के अंतर्गत भारत को वाणिज्य विभाग की निगरानी सूची में डाल दिया। तब भारत के लिए संतोष की एकमात्र बात यही थी कि शीत युद्ध के बाद की परिस्थितियों में अमेरिका के लिए चीन तथा पकिस्तान, दोनों का सामरिक महत्व समाप्त हो गया था।

7.2.3 परिवर्तन की शुरुआत

जब क्लिंटन सरकार सोवियत संघ के बिखराव से उत्पन्न विश्व स्थितियों से निपटने में व्यस्त थी तो अमेरिकी नीति–निर्धारकों का ध्यान भारत–अमेरिकी संबंधों के बारे में नई दृष्टि विकसित करने की तरफ गया। एशिया सोसायटी और कारनेगी एंडोमेंट फॉर इंटरनेशनल पीस ने ऐसी रिपोर्ट प्रस्तुत कीं जिनमें भारत और अमेरिका के बीच गहरे तथा सहयोगपरक संबंध विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। दो घटनाओं ने अमेरिका की भारत नीति को प्रभावित किया। पहली यह कि सोवियत संघ के बिखराव से कुछ ही महीने पहले भारत ने आर्थिक उदारीकरण का सूत्रपात किया। आर्थिक खुलेपन के कारण विदेशी व्यापारी समुदाय के लिए विशाल मध्यम वर्ग वाले भारतीय बाज़ार का आकर्षण काफी बढ़ गया। दूसरी घटना थी – शीत युद्ध के बाद के अमेरिका की विदेश नीति प्रयासों में राष्ट्रपति क्लिंटन का आर्थिक मुद्दों पर बल देना।

इस समूचे घटनाक्रम की पृष्ठभूमि में अमेरिकी वाणिज्य विभाग ने विकासशील विश्व के ऐसे दस उभरते हुए बड़े बाजारों की पहचान की जिनके साथ अमेरिका अपने व्यापार एवं निवेश में वृद्धि कर सके। प्रधानमंत्री नरसिंहाराव ने अमेरिका के साथ भारत के संबंधों को नया रूप देने की दिशा में पहल की और मई 1994 में वाशिंगटन की यात्रा की। उनकी इस यात्रा के दौरान आर्थिक मुद्दे छाए रहे और उन्होंने भारत तथा अमेरिका के बीच व्यापार एवं निवेश के क्षेत्र में सहयोग बढ़ाने का आह्वान किया। नवंबर 1994 में अमेरिका के वाणिज्य उपमंत्री जेफरी गार्टन भारत आए और अमेरिकी वाणिज्य मंत्री की भारत यात्रा का आधार तैयार किया। जनवरी 1995 के तीसरे सप्ताह में अपनी भारत यात्रा के दौरान वाणिज्य मंत्री रोनाल्ड ब्राउन ने वाणिज्य मंत्री श्री प्रणव मुखर्जी के साथ दोनों देशों के बीच 'वाणिज्य गठबंधन' बनाने के एक सहमति–पत्र पर हस्ताक्षर किए। इसका उद्देश्य दोनों देशों के बीच गहरे व्यापारिक संबंध बनाने के लिए विचार–विमर्श का विशाल मंच प्रदान करना था। श्री ब्राउन के साथ 25 बड़ी अमेरिकी कंपनियों के मुख्य कार्यकारी अधिकारी भी यहाँ

आए जिन्होंने चार दिन के अपने प्रवास के दौरान भारत के साथ ग्यारह व्यापारिक समझौते किए। उसके बाद से आर्थिक पहलुओं के आधार पर भारत और अमेरिका एक–दूसरे के करीब आते रहे हैं। अमेरिका न केवल भारत में पूँजी–निवेश का सबसे बड़ा स्रोत बन गया है बल्कि भारत से सबसे अधिक निर्यात भी अमेरिका को हो रहा है।

7.2.4 रक्षा सहयोग

शीत युद्ध के बाद के दौर के भारत–अमेरिकी संबंधों में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन है – दोनों देशों के बीच रक्षा सहयोग में वृद्धि। शीत युद्ध के दिनों में इस तरह के सहयोग की बात करना भी संभव नहीं था। इस दिशा में पहली उल्लेखनीय उपलब्धि थी – 1995 के शुरू में अमेरिकी रक्षा मंत्री विलियम पेरी की भारत यात्रा। उन्होंने भारत के रक्षा मंत्री के साथ रक्षा सहयोग के एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिससे शीत युद्ध के बाद की अनिश्चितताओं से निपटने के लिए आपसी सुरक्षा सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। यद्यपि इसमें किसी गठबंधन का संकेत नहीं था, परंतु इससे कम से कम सैद्धांतिक तौर पर एक ऐसे क्षेत्र में सहयोग का रास्ता खुला, जो अब तक निषिद्ध था।

अमेरिकी–पाकिस्तानी सामरिक मतभेदों की पृष्ठभूमि में यह समझौता उपमहाद्वीप की सुरक्षा स्थिति में एक महत्वपूर्ण कदम था। पाकिस्तान 1990 से प्रेसलर संशोधन के अंतर्गत हथियारों की खरीद पर प्रतिबंध की मार झेल रहा था। हालांकि ब्राऊन संशोधन के जरिए पाकिस्तान को इस प्रतिबंध से एक समय की छूट दी गई, लेकिन अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी के बाद अमेरिका के लिए पाकिस्तान की सामरिक महत्ता काफी कम हो गई।

7.2.5 पोखरण–II और उसके बाद

आर्थिक सहयोग में वृद्धि और रक्षा सहयोग की शुरुआत का अर्थ यह नहीं था कि शीत युद्ध के बाद के युग में दोनों देशों के बीच कोई मतभेद नहीं रहा। कश्मीर मसला, जो पाकिस्तान समर्थित सीमा–पार आतंकवाद के कारण अब जटिल हो चुका है, भारत–अमेरिका संबंधों में खलल डालता रहा है। भारत चाहता था कि अमेरिका पाकिस्तान को आतंकवादी देश घोषित करे परंतु अमेरिका ने अपने खुफिया विभागों और भारत सरकार द्वारा पर्याप्त सुबूत पेश किए जाने के बावजूद ऐसा नहीं किया। दूसरी ओर, कई अमेरिकी सांसद कश्मीर में मानवाधिकारों के हनन का मामला उछालते रहे ताकि भारत में असंतोष पैदा किया जा सके।

क्लिंटन सरकार द्वारा भारत और पाकिस्तान के लिए परमाणु कार्यक्रम बंद करने तथा प्रतिष्ठान बंद करने की नीति अपनाए जाने के कारण दोनों देशों के बीच परमाणु मसलों पर भी विवाद जारी रहा। भारत को अमेरिकी परमाणु अप्रसार नीति के बारे में मुख्य रूप से चार आपत्तियाँ थीं। पहली यह कि 1980 के दशक में परमाणु हथियार बनाने की क्षमता प्राप्त करने की पाकिस्तानी कोशिशों के बारे में खुफिया रिपोर्टों के बावजूद अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक तथा आर्थिक सहायता देना जारी रखा। जब प्रेसलर संशोधन लागू किया गया तब पाकिस्तान परमाणु शस्त्र क्षमता प्राप्त कर चुका था। संशोधन में यह व्यवस्था थी कि पाकिस्तान को अमेरिकी सहायता जारी किए जाने से पहले अमेरिका के राष्ट्रपति यह प्रमाणित करें कि पाकिस्तान परमाणु हथियार (या परमाणु शस्त्र टेक्नोलॉजी) प्राप्त करने का इच्छुक नहीं है। इसके अलावा, क्लिंटन सरकार ने ही ब्राऊन संशोधन पारित किया जिसके जरिए प्रेसलर संशोधन को कमज़ोर कर दिया गया और परमाणु प्रसार करने वाले देश को लाभ पहुँचाया गया। भारत ने अमेरिका पर डब्ल्यू.एम.डी. कार्यक्रमों में भारत–पाकिस्तान के सहयोग को देखते हुए निष्क्रिय बने रहने का भी आरोप लगाया। दूसरी आपत्ति यह कि अमेरिका ने पाकिस्तानी परमाणु कार्यक्रम के प्रति ढिलाई दिखाते हुए भी भारत के स्वदेशी परमाणु एवं प्रक्षेपास्त्र कार्यक्रम के बारे में कड़ा रुख अपनाया। उसने भारत और रूस के बीच क्रायोजेनिक रॉकेट इंजन समझौता नहीं होने दिया। तीसरी शिकायत यह थी कि अमेरिका ने कई बार दक्षिण एशियाई परमाणु समस्या के बारे में चीन के साथ सुर मिलाकर बात की जबकि भारत का मानना था कि चीन के परमाणु हथियार इस क्षेत्र में परमाणु प्रसार समस्या का हिस्सा थे। अंतिम आपत्ति यह थी कि अमेरिका एक सच्ची पक्षपातहीन व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि का समर्थन करने की भारत की निष्ठा को समझने में असफल रहा और उसने अन्य बातों के साथ–साथ भारत के परमाणु कार्यक्रम पर निशाना साधने के लिए एक बार फिर भेदभावपूर्ण संधि तैयार करने का प्रयास किया।

अमेरिका की भेदभावपूर्ण परमाणु अप्रसार नीति और चीन तथा परमाणु शस्त्र कार्यक्रमों के बारे में चीन तथा पाकिस्तान के बीच बढ़ते सहयोग के कारण भारत के सुरक्षा वातावरण के परमाणुकरण के बीच भारत ने मई 1998 में कुछ परमाणु परीक्षण किए। पोखरण–II नाम से जाने जाने वाले इन परीक्षणों से दक्षिण एशिया में खुले परमाणु युग का सूत्रपात हो गया क्योंकि पाकिस्तान ने भी भारत के पदचिह्नों पर चलते हुए अपने अनेक परमाणु परीक्षण कर दिए। अमेरिका ने परमाणु परीक्षणों को लेकर व्यापक प्रतिबंधों की घोषणा की और भारत–अमेरिकी संबंधों पर फिर से काले बादल मंडराने लगे। हालांकि भारत ने ऐलान कर दिया कि वह अब और कोई परीक्षण नहीं करेगा, परंतु अमेरिका ने भारत पर परमाणु अप्रसार संधि (एन.पी.टी) तथा व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (सी.टी.बी.टी) पर हस्ताक्षर करने के लिए दबाव जारी रखा।

7.2.6 नई सहस्राब्दि में संबंध

भारत–अमेरिकी संबंधों पर छाए काले बादल अधिक समय तक मौजूद नहीं रह पाए। क्लिंटन प्रशासन ने जल्दी ही महसूस किया कि उपमहाद्वीप में उभरी परमाणु स्थिति को पहली जैसी स्थिति में नहीं ले जाया जा सकता है। अमेरिकी प्रतिबंध, एशियाई अर्थव्यवस्थाओं में गिरावट और विश्व–व्यापी मंदी का दौर भी भारतीय अर्थव्यवस्था के उछाल को नहीं रोक पाए। अमेरिका को आर्थिक रूप से जीवंत, लोकतांत्रिक आधार पर स्थिर और सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली भारत को अपने साथ रखने में लाभ दिखाई दिया। राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने मार्च 2000 में भारत की यात्रा की और दोनों देशों के बीच नए संबंधों की आधारशिला रखी।

1999 के मध्य में भारत और पाकिस्तान के बीच हुए कारगिल युद्ध के बारे में अमेरिकी दृष्टिकोण से भारत–अमेरिकी रिश्तों में एक और बाधा दूर हो गई और राष्ट्रपति श्री बिल क्लिंटन का भारत में खुले दिल से स्वागत किया गया। भारत ने पाकिस्तान पर 1999 में कश्मीर के कारगिल क्षेत्र में अपनी आक्रामक कार्रवाई बंद करने के लिए क्लिंटन के दबाव की सराहना की और अमेरिका ने भारत के परमाणु शक्ति होने के बावजूद नियंत्रण रेखा को पार न करके संयम बरतने तथा कारगिल युद्ध में जिम्मेदारी भरा आचरण करने के लिए भारत की सराहना की। क्लिंटन ने इस क्षेत्र की यात्रा के दौरान भारत में 5 दिन तथा पाकिस्तान में सिर्फ चार घंटे बिताकर यह जता दिया कि नई सहस्राब्दि में अमेरिका किसे अधिक महत्व देगा। क्लिंटन की यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर हुए और सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक थी – संयुक्त वक्तव्य जारी होना जिसमें संबंधों की भावी परिकल्पना शामिल थी।

बिल क्लिंटन चूँकि राष्ट्रपति के रूप में अपने कार्यकाल के अंतिम चरण में भारत आए थे, इसलिए कुछ विशेषज्ञों ने आशंका प्रकट की कि अगले राष्ट्रपति चुनावों के बाद भारत–अमेरिकी संबंध फिर से अनिश्चितता के दौर में पहुँच जाएँगे। परंतु जैसा कि इतिहास साक्षी है, 2000 के राष्ट्रपति चुनावों में रिपब्लिकन उम्मीदवार जार्ज डब्ल्यू.बुश की विजय के बाद भारत–अमेरिकी रिश्ते नई बुलंदियाँ छूने लगे। राष्ट्रपति बुश ने चीन को सामरिक प्रतिद्वंद्वी और भारत को लोकतांत्रिक सामरिक सहभागी माना। उनकी राय में भारत एक प्रमख विश्व–शक्ति है और इक्कीसवीं शताब्दी में एशियाई तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिरता की दिशा में भारत–अमेरिकी संबंधों की महत्वपूर्ण भूमिका रहेगी। राष्ट्रीय प्रक्षेपास्त्र रक्षा (एन.एम. डी) की बुश की अवधारणा के प्रति भारत के त्वरित समर्थन ने समूचे विश्व को चौंका दिया। परंतु इससे भारत और अमेरिका के बीच अधिक गहरे सामरिक संबंधों ने जन्म लिया।

7.2.7 11 सितंबर और उसके बाद

जब भारत–अमेरिकी संबंध सुधर रहे थे और बुश सरकार भारत पर लगाए गए परमाणुसंबंधी प्रतिबंध हटाने वाला था तथा साथ ही अमेरिका और पाकिस्तान के बीच दूरी बढ़ रही थी, तो 11 सितंबर 2001 को अमेरिका पर आतंकवादी हमले ने समूची दुनिया को दहला दिया। भारत ने आतंकवाद के खिलाफ अमेरिकी लड़ाई के प्रति बिना शर्त समर्थन की घोषणा की। परंतु जब 'बुश ने अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद के खिलाफ संघर्ष में पाकिस्तान को अग्रणी देश बना दिया तो भारत और अमेरिका के बीच भावी संबंधों को लेकर फिर से आशंकाएँ प्रकट की जाने लगीं। भारत में आतंकवादी हमलों में वृद्धि, विशेष कर अक्तूबर 2001 में जम्मू–कश्मीर विधानसभा और 13 दिसंबर 2001 को भारतीय संसद पर हमले के पाक–समर्थित आतंकवादियों के असफल प्रयास के बाद भारत–अमेरिकी संबंधों में कड़वाहट पैदा हो गई। अमेरिका आतंकवाद के खिलाफ संघर्ष में पाकिस्तान के सहयोग को महत्वपूर्ण मानता रहा और उसे भारत के विरुद्ध सीमा पार आतंकवाद का समर्थन करने से रोक पाने में असफल रहा। 13 दिसंबर की घटना के बाद सीमा पर भारत और पाकिस्तान द्वारा सेनाओं की तैनाती तथा अमेरिका द्वारा भारत–पाक वार्ता पर बल दिए जाने का भारत में यह अर्थ लगाया गया कि अमेरिका आतंकवाद से निपटने में दोहरे मानदंड अपना रहा है। इस बीच, भारत ने पाकिस्तान और भारत के बीच बस, रेल तथा वायु यातायात को रद्द कर दिया।

परंतु कश्मीर में सीमा–पार आतंकवाद पर विश्व समुदाय का ध्यान आकर्षित करने के बाद भारत ने सेनाओं को हटा लेने और सीमा के आसपास स्थिति सामान्य बनाने का फैसला किया। इस नीति से उपमहाद्वीप में पूर्ण युद्ध छिड़ने और उसके परमाणु युद्ध में बदलने के खतरे के बारे में अमेरिका की चिंता भी दूर हो गई। इराक के घटनाक्रम (जिसमें अमेरिका ने इराक में सैनिक हस्तक्षेप किया) से भी भारत–अमेरिकी संबंधों में राजनीतिक व्यवधान आया। इराक में युद्ध समाप्त करने और वहाँ से गठबंधन सेनाएँ हटाने की माँग करने वाले भारतीय सर्वसम्मत प्रस्ताव को भी अमेरिका ने सही नही मानी। बाद में भारत ने इराक में स्थिरता लाने के प्रयासों के सिलसिले में अपनी फौजें भेजने से यह कहते हुए इनकार कर दिया कि इसके लिए संयुक्त राष्ट्र की ओर से कोई अनुरोध नही किया गया है और भारतीय सेनाएँ किसी अन्य (यानी अमेरिका) की कमान के अधीन काम नहीं कर सकतीं। भारत ने कहा कि वह संयुक्त राष्ट्र द्वारा कहे जाने की स्थिति में ही इस मसले पर विचार कर सकता है।

7.3 यूरोपीय संघ के साथ भारत के संबंध

यूरोपीय संघ इस समय विश्व के सबसे सफल क्षेत्रीय संगठनों में से एक है। यह विश्व का सबसे बड़ा व्यापारिक गुट है जो विश्व व्यापार के पाँचवें हिस्से के लिए ज़िम्मेदार है। यह विकासशील देशों के लिए सबसे बड़ा बाज़ार होने के साथ–साथ विकास सहायता का प्रमुख स्रोत भी है।

इसके दो सदस्य देश – फ्रांस और इंग्लैंड – परमाणु शक्ति हैं तथा सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य हैं। एक अन्य सदस्य देश अर्थात जर्मनी सुरक्षा परिषद का विस्तार होने पर उसकी स्थायी सदस्यता का प्रबल दावेदार है। संघ के चार सदस्य देश जी–8 ग्रुप के सदस्य हैं और सभी सदस्य आज के विश्व की विकसित अर्थव्यवस्था वाले देश हैं।

मार्च 1957 में रोम की संधि से यूरोपीय समुदाय की स्थापना हुई। यही लंबी प्रक्रिया के बाद अंततः यूरोपीय संघ में परिवर्तित हुआ। यूरोपीय संघ का जन्म यूरोपीय देशों के बीच व्यापारिक और यात्रा संबंधी बाधाएँ दूर करने तथा समान मुद्रा अपनाने की इच्छा के फलस्वरूप हुआ। इससे आगे चलकर राजनीतिक संघ बनने का रास्ता तैयार हो गया है।

उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) को सैनिक तथा सुरक्षा संबंधी पहलुओं पर ध्यान देने और यूरोपीय समुदाय (अब यूरोपीय संघ) को सदस्य देशों के बीच आर्थिक एवं व्यापारिक सहयोग बढ़ाने का दायित्व सौंपा गया। परंतु व्यापक स्तर पर इन दोनों संगठनों का उद्देश्य अंततः शीत युद्ध राजनीति के मुद्दों से निपटना रहा है। शीत युद्ध के दौर में भूतपूर्व यूरोपीय समुदाय के सदस्य अमेरिकी नेतृत्व वाले पश्चिमी गुट में शामिल थे। जब यूरोपीय समुदाय राजनीति और विदेश नीति के साझा मंच की तलाश में प्रयासरत था तब यह स्पष्ट था कि न तो संगठन और न ही निजी तौर पर उसके सदस्य देश भारत के साथ सहयोग बढ़ाएँगे क्योंकि भारत गुटनिरपेक्ष विदेश नीति पर चल रहा था। दूसरी बात यह थी कि जब तक इंग्लैंड यूरोपीय समुदाय का सदस्य नहीं था, समुदाय के तत्कालीन सदस्य भारत सहित दक्षिण एशिया की समस्याओं को हमेशा इंग्लैंड तथा अमेरिका की ज़िम्मेदारी मानते थे और उनमें कोई रुचि नहीं लेते थे। 1973 में इंग्लैंड के यूरोपीय समुदाय में शामिल होने के बाद ही इस संगठन के विदेश नीति संबंधी दृष्टिकोण में दक्षिण एशिया तथा भारत के मामलों का कुछ हद तक समावेश होने लगा। इसकी शुरुआत 1973 में भारत तथा यूरोपीय समुदाय के बीच व्यापारिक सहयोग समझौते पर हस्ताक्षर किए जाने के साथ हुई। तीसरी बात यह थी कि भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था, समाजवादी वक्तव्यों और बड़े पैमाने पर आर्थिक मसलों के कारण भारत तथा यूरोपीय समुदाय के बीच सहयोग की गुंजाइश बहुत कम थी। लेकिन 1962 में भारत यूरोपीय समुदाय को सबसे पहले मान्यता देने वाले एशियाई देशों में से एक था और समुदाय के साथ भारत के आर्थिक और व्यापारिक रिश्ते संगठन की क्षमता पर ही आधारित थे। जैसे–जैसे समुदाय को राजनीतिक आयाम मिला, वैसे–वैसे भारत ने उसके साथ गहरे राजनीतिक रिश्ते कायम करने का फैसला किया। यूरोपीय समुदाय के सभी देश लोकतांत्रिक हैं और एक जीवंत लोकतंत्र के नाते भारत को उनके साथ संबंध बनाने में कोई समस्या नहीं थी। इसी आधार पर 1983 में भारत तथा यूरोपीय समुदाय के बीच औपचारिक तौर पर राजनीतिक वार्ता शुरू करने का निर्णय किया गया। भारत और यूरोपीय संघ के संबंधों को सुदृढ़ बनाने के लिए अनेक संस्थागत व्यवस्थाएँ मौजूद हैं। ये हैं – भारत–यूरोपीय समुदाय शिखर बैठकें, भारत–यूरोपीय संघ त्रि–स्तरीय मंत्री बैठकें, वरिष्ठ अधिकारियों की बैठकें, भारत–यूरोपीय संघ संयुक्त आयोग, आतंकवाद पर भारत–यूरोपीय संघ संयुक्त कार्यदल, उपभोक्ता विषयों पर भारत–यूरोपीय संघ संयुक्त कार्यदल, भारत–यूरोपीय संघ गोलमेज सम्मेलन आदि।

परंतु लोकतांत्रिक देशों में आंतरिक राजनीति की तरह लोकतांत्रिक देशों के बीच भी राजनीतिक मसलों पर मतभेद बने रहते हैं। भारत तथा यूरोपीय समुदाय इस बात के अपवाद नहीं हैं।

7.3.1 राजनीतिक मतभेद

1993 तक यूरोपीय समुदाय और 1993 के बाद से यूरोपीय संघ (1 नवंबर 1993 को यूरोपीय संघ अस्तित्व में आया) तथा भारत के बीच राजनीतिक मतभेदों के मुख्यतः तीन क्षेत्र रहे हैं। ये हैं – कश्मीर समस्या, परमाणु समस्या और मानव अधिकारों का मसला। यूरोपीय समुदाय के प्रारंभिक वर्षों में कश्मीर मसले को इंग्लैंड तथा अमेरिका की जिम्मेदारी माना जाता था। परंतु बाद में, विशेष कर शिमला समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद यूरोपीय समुदाय ने भारत और पाकिस्तान के बारे में एक जैसा रुख अपनाने की नीति स्वीकार कर ली। कश्मीर में आतंकवाद और उग्रवाद उभरने के बाद यूरोपीय संघ आतंकवाद पर चिंता तो जताता है परंतु साथ ही भारतीय सुरक्षा बलों द्वारा स्थिति को संभालने के तरीकों पर असंतोष प्रकट करता है। इस बारे में संगठन की ओर से जो वक्तव्य जारी किया गया, उसकी भाषा सावधानीपूर्वक तैयार की गई जिसमें 'कश्मीर में जारी हिंसा और मानव अधिकारों के दुरुपयोग की निंदा और ऐसी मांग की गई कि ऐसे तरीकों से आतंकवाद का विरोध किया जाए जिससे मानव अधिकारों तथा कानून के शासन के प्रति पूर्ण सम्मान का उल्लंघन न हो।

दूसरे शब्दों में वह ऐसा रवैया अपनाने से कतराता है जिससे भारत या पाकिस्तान के साथ संबंधों में खटास आए। परंतु जघन्य आतंकवाद के प्रति यूरोपीय संघ का रवैया भारत को पसंद नहीं है। वह यूरोपीय संघ को हमेशा यह समझाने के प्रयास करता रहता है कि वह इस मसले पर कड़ा रुख अपनाए। सितंबर, 2001 में अमेरिका में आतंकवादी हमले के

बाद यूरोपीय संघ को सीमा पार से आतंकवाद को बढ़ावा देने में पाकिस्तान की भूमिका के खतरों के बारे में सचेत हो जाना चाहिए था परंतु पाकिस्तान को जल्दी ही आतंकवाद के खिलाफ अमेरिकी–नेतृत्व में चल रहे अभियान का अग्रणी देश बना दिया गया। इस कारण लगता है कि कश्मीर में आतंकवाद के बारे में कड़ा रुख अपनाने के लिए यूरोपीय संघ सहित अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को भारत द्वारा की गई अपील अनसुनी रह गई है।

मानव अधिकारों के प्रश्न पर भी भारत तथा यूरोपीय संघ के बीच मतभेद हैं। भारत के साथ बातचीत के दौरान यूरोपीय संघ अक्सर कश्मीर में मानव अधिकारों के हनन का मामला उठाता है। भारत का मानना है कि यूरोपीय संघ के रवैये में आतंकवादी गुटों द्वारा मानव अधिकारों के घोर उल्लंघन पर ध्यान नहीं दिया जाता और न ही आतंकवादी विवशताओं और सीमाओं को समझा जाता है।

यूरोपीय संघ तथा भारत के बीच राजनीतिक मतभेदों का तीसरा महत्वपूर्ण आधार परमाणु प्रसार का प्रश्न है। यूरोपीय संघ के सभी सदस्यों ने परमाणु अप्रसार संधि (एन.पी.टी.) पर हस्ताक्षर किए हुए हैं। भारत इस संधि को भेदभावपूर्ण मानता है। व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (सी.टी.बी.टी.) पर हस्ताक्षर को लेकर भी दोनों पक्षों में मतभेद हैं। यूरोपीय संघ चाहता है कि भारत इन दोनों संधियों पर हस्ताक्षर करे। परंतु भारत ने इसकी परवाह किए बिना मई 1998 में कई परमाणु परीक्षण किए और अपने को परमाणु शस्त्र संपन्न शक्ति घोषित कर दिया। यूरोपीय संघ ने भारत के परमाणु परीक्षणों की कड़ी निंदा की परंतु अमेरिका तथा जापान की तरह प्रतिबंध नहीं लगाए। वैसे यूरोपीय संघ ने दक्षिण एशिया में परमाणु संयम बरतने का अनुरोध करने में जी–8 संगठन तथा संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का साथ दिया। परंतु बाद में संघ के कुछ सदस्य देशों ने स्पष्ट रूप से कहा कि अपनी सुरक्षा के बारे में फैसला करने का भारत को पूरा अधिकार है।

7.3.2 आर्थिक सहयोग

यूरोपीय संघ एकसमान विदेश एवं सुरक्षा नीति विकसित करने की दिशा में अपने पूर्ववर्ती रूप यूरोपीय समुदाय की तुलना में ज़्यादा ज़ोरदार प्रयास कर ही रहा है, परंतु वास्तव में इस संगठन का आर्थिक प्रभाव ही इसके अस्तित्व और विकास की कुंजी है। वैश्वीकरण की ओर बढ़ती दुनिया में राजनीति को अर्थनीति से अलग नहीं किया जा सकता और यूरोपीय संघ ने समझ लिया है कि शीत युद्ध के बाद के दौर में अपनी आर्थिक रणनीति में भी उसे और बड़ी राजनीतिक भूमिका निभानी होगी।

परिणामस्वरूप हाल के वर्षों में यूरोपीय संघ ने भारत सहित और अधिक देशों के साथ राजनीतिक सूत्र जोड़ने के द्वार खोल दिए हैं। इसका उद्देश्य उन देशों के साथ आपसी समझ–बूझ बढ़ाना और उनके जटिल राजनीतिक तथा सुरक्षा संबंधी मसलों को समझना है, जिनके साथ यूरोपीय संघ के रिश्ते हैं।

वर्तमान दौर में यूरोपीय संघ के साथ भारत के संबंध मुख्यतया आर्थिक विषयों पर हैं। न कि राजनीतिक या सुरक्षा संबंधी विषयों पर भारत ने यूरोपीय संघ के साथ द्विपक्षीय सहयोग को औपचारिक रूप 1973 और 1981 में दिया और इस तरह का तीसरा समझौता 1994 में हुआ। 1994 का समझौता 1991 से भारत की आर्थिक उदारीकरण की नीति के विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण था। आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप उभरे नए अवसरों तथा एशियाई देशों के साथ नए रिश्ते कायम करने की यूरोपीय संघ की इच्छा के कारण 1990 के दशक में भारत और यूरोपीय संघ के बीच आदान–प्रदान काफी बढ़ गया। यूरोपीय संघ इस समय भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार, सीधे विदेशी पूँजी निवेश का सबसे बड़ा स्रोत, विकास सहायता का सबसे प्रमुख अंशदाता, प्रौद्योगिकी का महत्वपूर्ण स्रोत तथा बड़ी संख्या में संपन्न प्रवासी भारतीयों का घर है।

1993 के बाद से भारत और यूरोपीय संघ के व्यापार में वृद्धि भी हुई है और विविधता भी आई है। भारत का एक–तिहाई निर्यात इन देशों को होता है। 2001 में द्विपक्षीय व्यापार लगभग 25.02 अरब यूरो था। यह हमारे कुल निर्यात का 26 प्रतिशत तथा आयात का 25 प्रतिशत है। परंतु यूरोपीय संघ के लिए भारत का निर्यात की दृष्टि से 17वाँ और आयात की दृष्टि से 20वाँ स्थान है।

भारत का व्यापार आज भी कपड़ा, कृषि तथा समुद्री उत्पादों, हीरे–जवाहरात, चमड़ा और इंजीनियरी एवं इलेक्ट्रॉनिक उत्पाद जैसी परंपरागत वस्तुओं के निर्यात के रूप में होता है। परंतु पिछले 5 वर्षों से रसायन, गलीचे, ग्रेनाइट और इलेक्ट्रॉनिक आदि कुछ क्षेत्रों में व्यापार काफी बढ़ा है। भारत के आयात में मुख्य रूप से हीरे–जवाहरात, इंजीनियरी सामान, रसायनों और खनिजों का स्थान रहा है। यूरोपीय संघ भारत में सीधे विदेशी पूँजी निवेश के प्रमुख स्रोतों में से एक है। इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, इटली और हॉलैंड जैसे देशों का इस निवेश में बहुत बड़ा हिस्सा है। 1999 में यूरोपीय संघ की ओर से भारत में सीधे विदेशी पूँजी निवेश 1.1 अरब यूरो का था, जबकि भारत की ओर से यूरोपीय संघ में यह निवेश 6 करोड़ 90 लाख यूरो का था।

आर्थिक सहयोग का एक रचनात्मक पक्ष यह रहा है कि भारत में यूरोपीय संघ के निवेश का स्वरूप बदला है और अब यह निवेश बुनियादी ढाँचे, विशेष रूप से बिजली तथा दूरसंचार सेवाओं के विकास में हो रहा है। औद्योगिक मशीनों,

परिवहन, बिजली तथा इलेक्ट्रॉनिक्स, कपड़ा उद्योग, रसायन और परामर्श क्षेत्रों में यूरोपीय संघ द्वारा पूँजी लगाई जा रही है। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि यूरोपीय आयोग के भारत में काफी संख्या में विकासपरक कार्यक्रम चल रहे हैं जिनमें शिक्षा, स्वास्थ्य तथा पर्यावरण को प्राथमिकता दी जा रही है। इसका मुख्य उद्देश्य आर्थिक रूप से पिछड़े तथा उपेक्षित वर्गों को फायदा पहुँचाने वाली परियोजनाओं को सहायता उपलब्ध कराके मानव विकास को बढ़ावा देना है।

7.3.3 आर्थिक सीमाएँ

यह तथ्य एकदम स्पष्ट है कि यूरोपीय समुदाय के लिए भारत का उतना महत्व नहीं है जितना कि भारत के लिए यूरोपीय समुदाय का है। यूरोपीय समुदाय के साथ व्यापार के मसले में भारत को कई आर्थिक सीमाओं का सामना करना पड़ रहा है।

सबसे पहली बात तो यह है कि भारत और यूरोपीय संघ के बीच व्यापारिक संबंध असमान हैं। हालांकि भारत के लिए यूरोपीय संघ सबसे बड़ा व्यापारिक भागीदार है, परंतु उसे यूरोपीय समुदाय के व्यापार, विशेष कर आयात का लक्ष्य बनने के लिए अभी बहुत कुछ करना होगा क्योंकि संघ के आयात में भारत का हिस्सा केवल एक प्रतिशत है।

दूसरी सीमा यह है कि भारत अभी तक यूरोपीय संघ से पर्याप्त निवेश आकर्षित नहीं कर पाया है। यूरोपीय संघ द्वारा विश्व–भर में किए जा रहे निवेश का सिर्फ एक प्रतिशत भाग ही भारत में होता रहा है और उसमें भी 1990 के दशक में पश्चिमी यूरोय तथा मध्य एशिया में नई अर्थव्यवस्थाएँ उभरने के बाद कमी आ गई।

भारत यूरोपीय संघ के बाज़ार का लाभ उठाने में सफल नहीं हो पाया है क्योंकि इसके निर्यात का 70 प्रतिशत हिस्सा केवल 4 सदस्य देशों – इंग्लैंड, जर्मनी, इटली और बेल्जियम–लक्ज़मबर्ग – तक सीमित है। भारत से कुछ संसाधन–आधारित वस्तुओं (कपड़ा, चमड़ा और मोतियों) का ही निर्यात किया जाता है।

7.3.4 व्यापारिक विवाद

यूरोपीय संघ द्वारा लगाए गए कुछ प्रतिबंधों के कारण भी भारत को अपने निर्यात बाज़ार का विस्तार करने में दिक्कतें आ रही हैं। सबसे पहले तो कपड़ा, जूतों और वस्त्रों के निर्यात के मामले में भारत को ऊँचे सीमा शुल्कों तथा कुछ अन्य प्रतिबंधों के कारण दोहरा नुकसान उठाना पड़ता है। पिछले कुछ समय से सीमा–शुल्क संबंधी बाधाएँ धीरे धीरे कम हो रही हैं परंतु कई तरह के गैर–सीमा शुल्क प्रतिबंध लगाकर संरक्षणवाद को बढ़ावा दिया जा रहा है। यूरोपीय संघ को निर्यात में भारत को स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा पर्यावरण के मानकों के रूप में गैर–सीमा शुल्क संबंधी प्रतिबंध झेलने पड़ते हैं। मल्टीफाइबर अरेंजमेंट (एम.एफ.ए.) के अंतर्गत 1972 से भारतीय कपड़े पर मात्रा संबंधी प्रतिबंध लगे हुए हैं। हाल में तकनीकी मानकों तथा नियंत्रणों में अधिक तालमेल के नाम पर तकनीकी बाधाएँ भी खड़ी की गई हैं। इसके अलावा, वस्तुओं पर श्रम तथा पर्यावरण मानक तय किए हैं और एंटी–डंपिंग कदम उठाए गए हैं जिनसे यूरोपीय संघ में संरक्षणवादी उपाय सामने हैं। फलस्वरूप भारत के व्यापार पर प्रतिकूल असर पड़ा है।

7.4 सारांश

शीत युद्ध के दौर में सुरक्षा संबंधी मसलों पर अलग–अलग दृष्टिकोण होने के कारण भारत–अमेरिकी संबंध तनावपूर्ण बने रहे। अमेरिका ने गठबंधन नीति अपनाई जबकि भारत गुटनिरपेक्ष नीति पर चलता रहा।

शीत युद्ध, उपमहाद्वीप में पाकिस्तान की आक्रामक नीति तथा क्षेत्र में परमाणु शस्त्रों के प्रसार के कारण द्विपक्षीय संबंधों में बराबर उतार–चढ़ाव आते रहे हैं।

शीत युद्ध के बाद संबंधों में खासा सुधार हुआ। मई 1998 में भारत के परमाणु परीक्षणों से इन संबंधों को अस्थायी तौर पर झटका लगा परंतु 11 सितंबर, 2001 को अमेरिकी ठिकानों पर आतंकवादी हमले के बाद दोनों देशों के बीच सहयोग के नए अवसर पैदा हुए। कश्मीर तथा इराक पर राजनीतिक मतभेदों के बावजूद भारत और अमेरिका ने संबंधों में सुधार की प्रक्रिया में रुकावट नहीं आने दी है। शिमला समझौते के प्रति अमेरिका का समर्थन भारत को स्वीकार्य है। अमेरिका ने कश्मीर मसले में मध्यस्थता करने से इनकार कर दिया है क्योंकि भारत तीसरे पक्ष के हस्तक्षेप का विरोध करता आया है। आतंकवाद विरोधी उपायों पर आपसी मतभेद होने पर भी दोनों देश आतंकवादी गुटों का सामना करने में सहयोग को मज़बूत करने से पीछे नहीं हटे हैं। आतंकवाद पर संयुक्त कार्य दल की अक्सर बैठकें होती हैं और दोनों देशों के अधिकारी आतंकवाद से निपटने के तरीकों पर विचार करते हैं।

भारत और अमेरिका के बीच रक्षा सहयोग में सुधार शीत युद्ध के बाद की नई घटना है। इसमें लगातार सुधार हो रहा है। दोनों देशों की सेनाएँ संयुक्त सैनिक अभ्यास कर रही हैं, रक्षा संबंधी गुप्त सूचनाओं का आदान–प्रदान हो रहा है तथा इक्कीसवीं सदी की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए दोनों देश मिलकर सैनिक रणनीतियाँ विकसित कर रहे हैं। पाकिस्तान के साथ अमेरिकी निकटता अब भारत की विदेश नीति तैयार करने वालों के लिए चिंता का विषय नहीं रही है क्योंकि अमेरिका ने भारत के साथ भी अपने रिश्ते काफी सुधार लिए हैं।

भारत–अमेरिकी आर्थिक संबंध भी निरंतर सुधर रहे हैं। परंतु अमेरिका की तरफ से अभी भारत महत्वपूर्ण व्यापारिक भागीदारी या निवेश का लक्ष्य नहीं बन पाया है। दोनों में असमान व्यापार है जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। दोनों देशों के भावी संबंध मुख्य तौर पर आर्थिक सहयोग के स्वरूप पर निर्भर करेंगे। आर्थिक रिश्ते सामान्यतया रक्षा और सुरक्षा संबंधों के मुकाबले अधिक मज़बूत होते हैं।

शीत युद्ध के युग में यूरोपीय संघ के साथ भारत के रिश्ते मुख्यतया आर्थिक थे क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इस संगठन की कोई भूमिका नहीं थी। यूरोपीय संघ भारत के लिए न केवल सबसे बड़ा सामूहिक क्षेत्रीय बाज़ार है बल्कि यह भारतीय आयात का सबसे बड़ा स्रोत भी है। भारत यूरोपीय संघ के सदस्य देशों से आर्थिक विकास सहायता और विदेशी पूँजी निवेश के माध्यम से भी काफी लाभान्वित होता है।

यूरोपीय संघ तथा भारत के बीच कई व्यापारिक विवाद हैं। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में विवाद होना सामान्य बात है। इसलिए इनके कारण दोनों पक्षों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों में कोई बिगाड़ नहीं आने दिया गया है।

भारत ने शीत युद्ध की समाप्ति के बाद विश्व मामलों में अधिक राजनीतिक भूमिका निभाने की यूरोपीय संघ की इच्छा को समझा है। इसलिए इसने उसके साथ कई बार राजनीतिक स्तर पर विचार–विमर्श किया है। ऐसे विचार–विमर्श का उद्देश्य राजनीतिक मसलों पर गलत धारणाएँ दूर करना और आपस में राजनीतिक सूझ–बूझ बढ़ाना है।

विश्व मामलों में यूरोपीय संघ के बढ़ते हुए महत्व के साथ ही एक बड़ी शक्ति के रूप में भारत की महत्ता बढ़ी है। भारत और यूरोपीय संघ के बीच पहली शिखर बैठक 2000 में हुई और उससे यह संकेत मिला कि भारत तथा यूरोपीय संघ के सदस्य देश राजनीतिक त्था आर्थिक दृष्टि से सहयोग बढ़ाने को कृत–संकल्प हैं। शिखर बैठक में यह बात सामने आई कि ऊर्जा, दूरसंचार तथा सूचना प्रौद्योगिकी आदि नए उभरते क्षेत्रों में भारत तथा यूरोपीय संघ आपसी सहयोग की व्यवस्थाओं से काफी लाभ उठा सकते हैं।

7.5 अभ्यास

1. शीत युद्ध के दौर में भारत तथा अमेरिका के बीच राजनीतिक मतभेदों का विवेचन कीजिए।
2. शीत युद्ध की समाप्ति पर भारत तथा अमेरिका के बीच नए संबंधों की शुरुआत का ब्यौरा दीजिए।
3. शीत युद्ध के बाद के दौर में भारत तथा अमेरिका के बीच किन क्षेत्रों में मतभेद है?
4. भारत के विदेश संबंधों में यूरोपीय संघ का क्या महत्व है?
5. भारत तथा यूरोपीय संघ के बीच मुख्य आर्थिक मतभेद क्या हैं?
6. यूरोपीय संघ और भारत के बीच राजनीतिक मतभेदों का ब्यौरा दीजिए।
7. भारत–यूरोपीय संघ संबंधों की मुख्य सीमाएँ क्या हैं?

इकाई–8
रूस, चीन और जापान

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 भारत–रूस संबंध

8.2.1 सोवियत संघ के विघटन के पश्चात उभरे तनाव

8.2.2 निकट सहयोग का दौर फिर लौटा

8.3 भारत–चीन संबंध

8.3.1 मैत्री का प्रारंभ

8.3.2 संबंधों में खटास

8.3.3 संबंधों में उतार–चढ़ाव

8.3.4 प्रयासों में तेज़ी

8.3.5 शीत युद्ध के बाद का घटनाक्रम

8.4 भारत–जापान संबंध

8.4.1 महायुद्ध के बाद का दौर

8.4.2 शीत युद्ध की छाया

8.4.3 शीत युद्ध के बाद

8.5 सारांश

8.6 अभ्यास

8.1 प्रस्तावना

रूस, चीन और जापान विश्व की तीन बड़ी शक्तियाँ हैं जिन्हें उनकी भौगोलिक स्थिति के कारण एशियाई शक्तियाँ भी माना जा सकता है। चीन और जापान तो पूरी तरह से एशियाई देश हैं जबकि रूस यूरो–एशियाई देश है। इन तीनों देशों का महत्व अमेरिका जैसा तो नहीं है परंतु रूस के पास इतनी अधिक सैन्य क्षमता है कि वह अमेरिका की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा कर सकता है। चीन भी हालांकि परमाणु शक्ति है किंतु अमेरिका की तुलना में उसकी सैनिक शक्ति काफी कम है। रूस और चीन शीत युद्ध के दौर में अमेरिका के विरोधी रहे, हालांकि 1970 के दशक में अमेरिका के साथ चीन की निकटता बढ़ गई जबकि सोवियत संघ और चीन के बीच तनाव बना रहा। इसके विपरीत, जापान लंबे समय से अमेरिका का मित्र रहा है। भारत के रूस के साथ गहरे रक्षा संबंध रहे हैं, चीन के साथ सामरिक और क्षेत्रीय समस्याएँ रही हैं तथा जापान के साथ संबंधों में न तो कोई बड़ा तनाव रहा है और न ही बहुत गहरे रिश्ते रहे हैं। इस समय भारत रूस के साथ निकट संबंध बनाए रखना चाहता है, चीन के साथ संबंध सामान्य बनाना चाहता है और जापान के साथ रिश्ते सुधारना चाहता है। इन तीनों देशों के साथ, जो भारत के पड़ोस में हैं, संबंधों का विश्लेषण करना बहुत महत्वपूर्ण है।

8.2 भारत–रूस संबंध

विश्व के आधुनिक मानचित्र पर रूस एक नया देश है जो लगभग दस वर्ष पुराना है। यह वास्तव में उस सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर) का प्रमुख उत्तराधिकारी है जो दिसंबर, 1991 में विघटित हो गया है। रूस को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में स्थायी स्थान (वीटो अधिकार के साथ) दिया गया जो 1991 तक सोवियत संघ के पास था। रूस चूँकि सोवियत संघ की उपलब्धियों और देनदारियों के मुख्य हिस्से का उत्तराधिकारी रहा है, इसलिए भारत–रूस संबंधों को भारत–सोवियत संबंधों की पृष्ठभूमि में समझना होगा।

ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्ति के बाद से शुरुआती वर्षों में सोवियत संघ के साथ भारत के संबंध बहुत अच्छे नहीं रहे। सच तो यह है कि प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू शुरू–शुरू में सोवियत संघ के प्रति शंकालु थे। सोवियत संघ ने भी नए–नए स्वतंत्र हुए देश भारत के साथ रिश्ते बनाने की इच्छा नहीं जताई। परंतु विश्व–भर में महाशक्तियों की प्रतिद्वंद्विता बढ़ने के कारण सोवियत संघ को भारत के साथ अपने रिश्तों पर पुनर्विचार करना पड़ा, जिसने बाद में गुटनिरपेक्ष विदेश नीति को अपनाया। दूसरी तरफ, भारत ने भी अमेरिका और पाकिस्तान के बीच बढ़ती दोस्ती को देखते हुए सोवियत संघ के

साथ, विशेष रूप से स्टालिन युग की समाप्ति पर, अपने संबंधों पर फिर से विचार करने की ज़रूरत महसूस की। 1950 के दशक के मध्य तक भारत और सोवियत संघ के बीच निकट संबंधों के विकास का आधार तैयार हो गया था। इस प्रवृत्ति को 1956 में काफी बल मिला। तब 1956 में अपनी भारत यात्राओं के दौरान निकोलाई बुलगानिन और अलेक्सी कोसिगन जैसे सोवियत नेताओं ने जम्मू–कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग बताया। भारत के लिए कश्मीर एक केंद्रीय सुरक्षा मुद्दा था। इसलिए भारत के नेताओं ने सोवियत संघ के इस रुख का स्वागत किया। इसके जवाब में भारत ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में सोवियत संघ के आधिपत्य वाले देश हंगरी के लोकतांत्रिक चुनावों की मांग के प्रस्ताव पर सोवियत पक्ष का समर्थन किया।

परंतु, भारत–सोवियत संबंधों में अधिक मज़बूती 1962 के भारत–चीन युद्ध के बाद आई। चीनी आक्रमण के समय गुटनिरपेक्ष भारत के साथ सोवियत संघ के कोई सामरिक रिश्ते तो नहीं थे, परंतु तब तक सोवियत संघ और चीन के संबंधों में दरार जगज़ाहिर हो चुकी थी। अमेरिका के नेतृत्व वाले पश्चिमी गुट द्वारा भारत को अपनी सैनिक क्षमता बढ़ाने के लिए मदद देने से इनकार किए जाने पर भारत और सोवियत संघ के बीच औपचारिक सैनिक संबंध कायम हो गए। 1962 में दोनों देशों के बीच सैनिक–तकनीकी सहयोग का एक कार्यक्रम शुरू करने पर सहमति हुई। भारत शीत युद्ध राजनीति के पचड़े में पड़ने को तैयार नहीं था। भारत के लिए सोवियत संघ के साथ यह करार 1962 की करारी हार के बाद सशस्त्र सेनाओं को आधुनिक जमाने की आवश्यकता और अर्थनीति पर आधारित एक वाणिज्यिक समझौता था। सोवियत संघ के साथ सैनिक समझौतों में वित्तीय रियायतों और उपकरणों के उत्पादन के लिए लाइसेंस देने का भी प्रावधान था। सैनिक साज–सामान प्राप्त करने में अपनी दीर्घकालिक आत्म–निर्भरता और सामरिक स्वायत्तता के आधार पर ही भारत ने सोवियत संघ के साथ रक्षा सहयोग बढ़ाने का निश्चय किया। दूसरे शब्दों में, भारत सोवियत गुट का सदस्य नहीं बना। वह तो सोवियत संघ से प्राप्त हथियारों को अपनी सामरिक स्वायत्तता विकसित करने के आधार के रूप में इस्तेमाल कर रहा था। वास्तव में भारतीय गुटनिरपेक्षता कुछ वर्ष बाद उस समय उजागर हुई जब 1965 में भारत पाकिस्तान युद्ध के बाद पाकिस्तान ताशकंद में सोवियत संघ की मध्यस्थता पर सहमत हो गया।

1960 के दशक तथा 1970 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में इस क्षेत्र की भौगोलिक राजनीतिक स्थिति में आए भारी परिवर्तन के फलस्वरूप भारत–सोवियत सुरक्षा सहयोग में काफी बढ़ोत्तरी हुई। पाकिस्तान की मदद से चीन के साथ संबंध सुधारने के अमेरिका के सैनिक रवैये का भारत ने यह अर्थ निकाला कि इन तीन देशों की नई शक्ति–धुरी पनप रही है। उन्हीं दिनों पूर्वी पाकिस्तान में राजनीतिक उथल–पुथल का भारत की सुरक्षा और अर्थव्यवस्था पर बुरा असर पड़ा। 1971 में भारत और पाकिस्तान के बीच तीसरा युद्ध छिड़ने से पहले भारत ने अगस्त 1971 में सोवियत संघ के साथ ऐतिहासिक शांति, मैत्री और सहयोग संधि पर हस्ताक्षर कर लिए थे।

तब से दोनों देशों के बीच ऐसा आपसी विश्वास और सहयोग विकसित होता गया जो सोवियत संघ के विघटन तक बहुत ही ठोस और मज़बूत बना रहा। भारत ने अपनी आवश्यकता के अधिकतर शस्त्र सोवियत संघ से प्राप्त किए। अस्थायी अनुमान के अनुसार भारत ने थलसेना के 60 प्रतिशत, नौसेना के 70 प्रतिशत और वायुसेना के 80 प्रतिशत हथियार सोवियत संघ से प्राप्त किए हैं। यही नहीं, शीत युद्ध के दौर में विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मसलों पर दोनों देशों का रवैया भी एक जैसा होता था।

8.2.1 सोवियत संघ के विघटन के पश्चात उभरे तनाव

सोवियत संघ के विघटन और रूस के उदय के साथ विदेश नीति के परंपरागत उद्देश्यों और लक्ष्यों में कई बदलाव आए। नए रूसी परिसंघ द्वारा विदेश नीति के नए सिद्धांतों और दिशा–निर्देशों की तलाश के प्रयासों में तीन तत्वों के कारण भारत को रूस की नीतिगत दृष्टि से ओझल होना पड़ा। पहला यह कि राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने रूस की विदेश नीति को विचारधारा से मुक्त करने पर ज़ोर दिया जिसके फलस्वरूप भारत के प्रति 'देखो और प्रतीक्षा करो' की नीति अपनाई गई। भारत के साथ नए संबंध व्यावहारिक और लचीलेपन पर आधारित थे और उनमें भारत के लिए अधिक समय देने की गुंजाइश नहीं थी।

दूसरा तत्व यह था कि रूस के राजनेता दो गुटों – 'पश्चिमी या एटलांटिकवादी' और 'एशिया पहले' के बीच विभाजित थे। मिखाइल गोर्बाचोव तथा बोरिस येल्तसिन, दोनों 'एटलांटिकवादी' थे और वे मार्शल योजना के नए संस्करण की मदद से रूसी अर्थव्यवस्था को नया रूप देना चाहते थे।

तीसरा तत्व यह था कि भारत के साथ संबंधों के बारे में रूस के विदेश मंत्री एंड्रई कोज़ीरेफ के नेतृत्व में नए चिंतकों का गुट सामने आया जिनकी नज़र में रूस की विदेश नीति और सुरक्षा संबंधी उद्देश्य प्राप्त करने के लिए पाकिस्तान अधिक महत्वपूर्ण था। उनकी दलील थी कि इस्लामिक उग्रवाद से निपटने में पाकिस्तान से के लिए कारगर माध्यम साबित हो सकता है। 1990 के दशक के शुरुआती वर्षों में यही विचार हावी रहा। इसी कारण रूस का विदेश मंत्रालय भारत की तुलना में पाकिस्तान, ईरान तथा तुर्की को ज्यादा महत्व देता रहा।

दूसरी ओर कुछ शिक्षाविद, ड्यूमा (संसद) के सदस्य और रक्षा उद्योग का यह विचार बना रहा कि रूस को भारत के साथ अपने 'विशेष' संबंध बनाए रखने चाहिए। उनकी राय में एक मज़बूत भारत इस्लामिक उग्रवाद तथा अमेरिका की धौंस वाली स्थिति से निपटने में सहायक बन सकता है। परंतु यह वर्ग विदेश नीति के निर्धारण की प्रक्रिया को प्रभावित नहीं कर पाया।

रूस की विदेश नीति में भारत विरोधी गुट के हावी बने रहने के कारण रूस के संक्रांतिकाल में दक्षिण एशिया नीति में भारी परिवर्तन आ गया। सोवियत संघ के अंतिम रूप से विघटन से एक महीना पहले नवंबर 1991 में सोवियत संघ ने अचानक संयुक्त राष्ट्र में पाक समर्थित उस प्रस्ताव का समर्थन कर दिया जिसमें दक्षिण एशिया को परमाणुमुक्त क्षेत्र बनाने की माँग की गई थी। यह भारत के लिए एक तरह का राजनीतिक सदमा था क्योंकि इसका मतलब यह था कि पाकिस्तान के साथ–साथ भारत को अपने परमाणु कार्यक्रम रोक देने होंगे।

पाकिस्तानी प्रस्ताव के समर्थन का एक कारण 'पाकिस्तान–समर्थित मुजाहिदीन गुटों ' के कब्जे से सोवियत युद्धबंदियों को रिहा कराना था। दिसंबर 1991 में जब सोवियत संघ अंतिम सांसें ले रहा था तो अफगान मुजाहिदीनों का प्रतिनिधिमंडल रूस गया। जनवरी 1992 में नई रूसी सरकार ने अफगानिस्तान में राष्ट्रपति मुजीब की सरकार के मुजाहिदीन के खिलाफ लड़ाई के लिए सैनिकों, हथियारों और तेल की आपूर्ति पूरी तरह रोक दी। भारत को एक बार फिर सोवियत/रूस की नीति में इस बदलाव पर आश्चर्य हुआ।

भारत–रूस संबंधों में तनाव लाने वाली एक और घटना रूस के अंतरिक्ष कार्यालय 'ग्लावकॉस्मोस' और भारत सरकार के बीच क्रायोजेनिक इंजन तथा उसकी प्रौद्योगिकी की खरीद के समझौते को लेकर हुई। 18 जनवरी 1991 को किए गए इस समझौते से भारत को अपने भू–स्थिर उपग्रह प्रक्षेपण यान (जी.एस.एल.वी) कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए रूसी क्रायोजेनिक इंजनों की तरल ऑक्सीजन प्रणोदन प्रणाली की जानकारी प्राप्त करने में मदद मिल सकती थी। जब अमेरिका ने एम.टी.सी.आर. के तहत रूस और भारत के खिलाफ प्रतिबंध लगाने की धमकी दी तो रूसी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने कहा कि वे अमेरिकी दबाव के आगे नहीं झुकेंगे। परंतु जब मई 1992 में अमेरिका ने प्रतिबंध लगा दिए तथा और अधिक आर्थिक प्रतिबंध लगाने की धमकी भी दी तो जुलाई 1993 में येल्तसिन भारत को आपूर्ति रोकने को तैयार हो गए और समझौते का स्वरूप बदल कर केवल क्रायोजेनिक इंजन देने पर सहमत हुए तथा प्रौद्योगिकी उपलब्ध कराने से इनकार कर दिया। इसके बदले, ग्लावकॉस्मोस को 95 करोड़ डॉलर से अधिक की भावी अमेरिकी अंतरिक्ष परियोजनाओं के लिए बोली लगाने के अधिकार मिल गए।

उसी समय 'रुपया बनाम रूबल' नाम के नए विवाद ने भी दोनों देशों के संबंधों पर बुरा प्रभाव डाला। भारत पर सोवियत संघ से हथियारों की खरीद का 12 अरब डॉलर से अधिक का कर्ज़ जमा हो चुका था। भारत यह कर्ज चुकाने को तो तैयार था परंतु रूस की नई सरकार के साथ इस बात को लेकर विवाद हो गया कि किस मुद्रा में भुगतान किया जाए और उसकी विनिमय दर क्या हो। इस विवाद के चलते 1991–92 के दौरान दोनों देशों के बीच व्यापार ठप्प हो गया। लंबी बातचीत के बाद जनवरी 1993 में यह फैसला हुआ कि भारत 2005 तक हर साल एक अरब डॉलर का सामान रूस को भेजेगा और बाकी कर्ज़ का 45 वर्षों तक ब्याजमुक्त भुगतान किया जाएगा।

8.2.2 निकट सहयोग का दौर फिर लौटा

कुछ समय में ही रूस को महसूस होने लगा कि मार्शल योजना के अंतर्गत पश्चिम से सहायता लेने की उसकी आशाएँ सही नहीं थीं। नाटो के विस्तार, बालकान संकट और अमेरिकी धौंसपट्टी की कई अन्य घटनाओं को देखकर रूस को अपनी विदेश नीति पर नए सिरे से विचार करना पड़ा। जिन लोगों ने एशियाई देशों के साथ संबंध बढ़ाने का समर्थन किया था, वे सही साबित हो रहे थे। 1996 में जब पश्चिम–समर्थक आंद्रेई कोज़िरेफ के स्थान पर येवगेनी प्रिमीकोव रूस के विदेश मंत्री बने तो भारत–रूस संबंधों में तेजी से बदलाव आने लगा और भारत एक बार फिर रूस की सामरिक प्राथमिकताओं के केंद्र में आ गया।

एक समय पर जब अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने परमाणु मसले पर भारत पर दबाव बनाया तो रूस ने भारत को परमाणु आपूर्तिकर्ताओं के गुट के प्रतिबंध की अवहेलना करते हुए दो रूसी हल्के जल के परमाणु रिएक्टर बनाने का समझौता करके दोस्ती का नया संकेत दिया। इस समझौते से तमिलनाडु में कुंडनकलम में 1000 मेगावाट क्षमता के हल्के जल के दो परमाणु रिएक्टरों के निर्माण का रास्ता साफ हो गयी। ऐसा लगा कि रूस इस बार बाहरी दबाव की परवाह नहीं करेगा। 1998 में रूस ने परमाणु परीक्षण के लिए भारत की हालांकि निंदा की, परंतु उसके खिलाफ प्रतिबंध नहीं लगाए। इसके अलावा, 1999 के कारगिल युद्ध में रूस ने भारत का पूर्ण समर्थन किया और पाकिस्तान से अपनी सेनाएँ नियंत्रण रेखा की अपनी तरफ वापस बुला लेने को कहा। राष्ट्रपति पुतिन ने सीमा पार आतंकवाद के सवाल पर वाजपेयी सरकार का पूरा समर्थन करते हुए पाकिस्तान से आतंकवाद का पूरा ढाँचा नष्ट करने का अनुरोध किया।

भारत को सोवियत संघ के विघटन के बाद जैसी सैनिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी थीं, वैसी अब नहीं झेलनी पड़ेगी। 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में भारत की चिंता सोवियत संघ में बने सैनिक साज–सामान के लिए अतिरिक्त पुर्जे

प्राप्त करने को लेकर थी। सोवियत निर्मित उपकरणों के लिए अतिरिक्त पुर्जों के निर्माण की देश में व्यवस्था न होने के कारण भारत के सामने संकट पैदा हो गया। दूसरी ओर, रूस द्वारा सैनिक हथियार देने से इनकार करने और भारतीय सैनिक व्यय में कटौती के कारण शीत युद्ध के दौरान पनपे भारत–सोवियत संबंध कमज़ोर पड़ने लगे। वास्तव में 1990 के दशक के मध्य तक भारतीय आर्थिक प्रगति तथा रूस के सैनिक उद्योग की वित्तीय आवश्यकताओं के कारण भारत और रूस के सैनिक सहयोग में सहज ही वृद्धि होने लगी।

8.3 भारत–चीन संबंध

भारत और चीन विश्व की प्राचीनतम सभ्यताएँ हैं और इनकी गिनती ऐसे देशों में होती है जिनका नाम लंबे समय तक एक राष्ट्र के रूप में सतत विद्यमान रहने के लिए विश्व इतिहास में दर्ज है। दोनों देशों के बीच कई सदियों से सांस्कृतिक, धार्मिक और व्यापारिक संबंध रहे हैं।

भारत और चीन के तीर्थयात्रियों तथा अन्य यात्रियों के बीच हुए बौद्धिक एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान से इन दोनों महान सभ्यताओं के बीच रिश्तों की गहरी जड़ें जम गईं। भारत की यात्रा पर आने वाले विश्व–प्रसिद्ध यात्रियों में फाहियान, सुंग युन, हुएन सांग और आई–सुंग शामिल हैं। चीन की यात्रा पर जाने वाली भारतीय हैं – कुमारजीव, जिनगुप्त, जिनभ्रद, और बोधिधर्म।

विश्व के आधुनिक इतिहास में भारत और चीन लगभग एक–साथ स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभरे। भारत 1947 में स्वतंत्र हुआ और चीन 1949 में साम्यवादी देश के रूप में अस्तित्व में आया। परंतु पिछले 50 वर्षों में दोनों देशों के संबंधों में काफी उतार–चढ़ाव रहा है। 1950 के दशक में दोनों दोस्ती की पींगें भर रहे थे तो 1960 के दशक में युद्ध छिड़ गया। 1970 के दशक में दोनों में दूरी बनी रही और 1980 के दशक में संबंध फिर से सामान्य बनाने की कोशिशें हुईं। परंतु 1990 के दशक में शीत युद्ध की समाप्ति के बाद से एशिया के ये दो बड़े देश विवाद सुलझाने और आपसी विश्वास तथा सहयोग बढ़ाने के प्रयासों पर आधारित नए संबंध बनाने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। 2003 तक दोनों देश सीमा विवाद को एक तरफ रख कर दोस्ती बढ़ाने के प्रयास जारी रखने पर सहमत हो गए।

8.3.1 मैत्री का प्रारंभ

स्वतंत्रता के तत्काल बाद भारत ने शीत युद्ध के उस दौर में गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई। चीन ने पूर्व सोवियत संघ के साथ गहरे रिश्ते कायम कर लिए। परंतु इसका भारत–चीन संबंधों पर कोई असर नहीं हुआ, क्योंकि प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू चीन से संबंध बनाए रखने को भारत के हित में मानते थे।

नेहरू ने 1949 में साम्यवादी देश के रूप में चीन के उदय का तत्काल स्वागत किया और कहा कि विश्व समुदाय में चीन का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत चीन को मान्यता देने वाले पहले गैर–कम्युनिस्ट देशों में था और साथ ही उसने संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता की ज़ोरदार पैरवी की।

1950 में चीन द्वारा तिब्बत पर बलपूर्वक कब्जा कर लिए जाने के बावजूद नेहरू चीन के साथ शांति और मैत्री बनाए रखने के पक्ष में थे। भारत ने चीन की कार्रवाई का विरोध किया परंतु चीन ने इस विरोध को यह कहते हुए खारिज कर दिया कि यह साम्राज्यवादी ताकतों की शह पर किया जा रहा है। 1954 में चीन के प्रधानमंत्री चाउ एन–लाई भारत आए तो उनका शानदार स्वागत किया। इससे पहले अप्रैल, 1954 में भारत तथा 'चीन के तिब्बत क्षेत्र के बीच व्यापारिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते में 'पंचशील' के पाँच सिद्धांत भी शामिल थे। नेहरू और चाउ एन–लाई ने संयुक्त वक्तव्य में 'पंचशील' का प्रतिपादन किया जो बाद में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के निर्देशक सिद्धांत बन गए। इसके तीन माह बाद नेहरू ने चीन की यात्रा की। उन्होंने एशिया में शांति और स्थिरता के लिए दोनों देशों के बीच संबंध सुदृढ बनाने की आवश्यकता पर बल दिया। लगभग छह महीने बाद अप्रैल 1955 में अफ्रीकी और एशियाई देशों के बांडुंग शिखर सम्मेलन में नेहरू और चाऊ एन–लाई . की फिर मुलाकात हुई। दोनों नेताओं ने दो महाशक्तियों के बीच चल रहे शीत युद्ध के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय नीतियों की पेचीदगियों से निपटने में विकासशील देशों द्वारा एकसमान दृष्टिकोण अपनाने के बारे में विचार–विमर्श किया। चीन द्वारा गुटनिरपेक्ष देशों की सद्भावना प्राप्त करने में नेहरू का भी योगदान रहा क्योंकि भारत चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने की निरंतर पैरवी कर रहा था। इसलिए कई अन्य विकासशील देशों ने भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया। कुछ विशेषज्ञों ने चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने के लिए नेहरू के समर्थन की आलोचना की। परंतु कुछ अन्य लोगों का मानना था कि नेहरू की चीन नीति से कम से कम 15 वर्षों तक भारत की उत्तर–पूर्वी सीमा पर शांति बनी रही।

8.3.2 संबंधों में खटास

1950 के दशक के अंत तक पंचशील और बांडुंग सम्मेलन की भावना तिरोहित हो गई। सीमा समस्या और कश्मीर की स्थिति पर दोनों देशों की मत–भिन्नता से आपसी रिश्तों में खटास आने लगी। चीन ने अचानक सीमा का मुद्दा उछाल दिया और कहा कि भारत तथा चीन के बीच सीमा का कोई समझौता नहीं है और उसने मैकमोहन रेखा को अंतर्राष्ट्रीय

सीमा मानने से इनकार कर दिया। इसके साथ ही चीन ने यह भी दावा किया कि कश्मीर का अक्साई–चिन क्षेत्र मूल रूप से चीन के सिंकियांग प्रांत का भाग है। अपनी कश्मीर नीति को बदल कर वह भारत के साथ कश्मीर के विलय को चुनौती देने लगा। कश्मीर के बारे में चीन के बयानों में दो बातें सामने आईं – (क) उसने कश्मीर को विवादित क्षेत्र माना; और (ख) कश्मीर में आत्म–निर्णय के अधिकार का समर्थन किया। अक्साई चिन में विवादास्पद सड़क के निर्माण और सीमा पर झड़पें अंततः युद्ध में बदल गईं और अक्तूबर 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया।

1962 के भारत–चीन युद्ध के कई परिणाम सामने आए। पहला तो यह है कि इससे देश तथा विदेशों में नेहरू की छवि और मान–सम्मान को गहरी ठेस लगी। आदर्शवादी विदेश नीति और देश की आन न बचा पाने के लिए देश के भीतर उनकी आलोचना हुई। साथ ही, विकासशील देशों के नेता के रूप में भारत की छवि को दाग लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत को गुटनिरपेक्ष नीति से समझौता करके पश्चिम, विशेषकर अमेरिका से सैनिक मदद माँगनी पड़ी। तीसरा परिणाम यह हुआ कि इस हार के कारण भारतीय सैनिकों का मनोबल गिर गया। इस सबके अलावा, भारत को अपने 38,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र (35,000 वर्ग किलोमीटर पूर्वोत्तर क्षेत्र में और 3,000 वर्ग किलोमीटर पश्चिमी क्षेत्र में) से हाथ धोना पड़ा। यही नहीं, चीन भारत के पूर्वी क्षेत्र में लगभग 95,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर भी अपना दावा करता है।

8.3.3 संबंधों में उतार–चढ़ाव

1962 की लड़ाई के बाद लगभग 14 साल तक भारत और चीन एक–दूसरे से पूरी तरह से कटे रहे। 1976 में जाकर दोनों देशों के बीच राजनयिक रिश्ते फिर से कायम हुए। इन 14 वर्षों में भारत के प्रति चीन का रवैया शत्रुतापूर्ण रहा। 1962 के आक्रमण के 6 महीने के भीतर ही उसने पाकिस्तान के साथ संबंध सुदृढ़ कर लिए। 1963 में चीन और पाकिस्तान ने एक सीमा समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते में यह भी प्रावधान था कि कश्मीर समस्या में तीन पक्ष भारत, पाकिस्तान और चीन शामिल हैं जबकि पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर का एक हिस्सा चीन को सौंप दिया। 1964 में चीन ने परमाणु विस्फोट किया। पाकिस्तान ने भारत पर चीन के आक्रमण, उसके साथ नई मैत्री संधि और उसके परमाणु शक्ति बनने से प्रोत्साहित होकर 1965 में भारत के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी।

हालांकि आशंका यह थी कि चीन भी युद्ध में कूद पड़ेगा परंतु उसने सैनिक और नैतिक समर्थन तक ही अपने को सीमित रखा। लगता है कि चीन–सोवियत संबंध बिगड़ने और अमेरिका तथा चीन के बीच चल रही तनतनी के कारण चीन पाकिस्तान के पक्ष में युद्ध में कूदने से दूर रहा। 1971 की लड़ाई में पाकिस्तान की करारी हार और बांग्लादेश के एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदय के बाद दक्षिण एशिया में भारत की छवि बदल गई। साथ ही, कृषि तथा उद्योग के क्षेत्र में प्रगति और 1974 में परमाणु क्षमता के प्रदर्शन के फलस्वरूप भारत इस क्षेत्र में आत्म–विश्वास से संपन्न लोकतंत्र के रूप में स्थापित हो गया। वियतनाम युद्ध की समाप्ति और 1975 में दोनों वियतनामों के विलय से घोर शीत युद्ध का पहला दौर समाप्त हो गया।

इस घटनाक्रम के परिप्रेक्ष्य में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने चीन के साथ संबंध सामान्य बनाने के प्रयास शुरू किए। इस दिशा में पहला कदम था – दोनों देशों के बीच पूर्ण राजनयिक संबंध कायम करना। विदेश सेवा के वरिष्ठ अधिकारी के. आर. नारायणन की पहले राजदूत के रूप में नियुक्ति अपने आप में महत्वपूर्ण थी। इससे यह संदेश गया कि भारत चीन के साथ संबंध सुधारने के प्रति गंभीर है। केंद्र में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार के दौरान भी चीन के साथ संबंध सामान्य बनाने की प्रक्रिया जारी रही। तत्कालीन विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 1979 में चीन की यात्रा की और वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी के वरिष्ठ नेताओं से बातचीत की। चीन की ओर से संबंध सुधारने की भारत की इच्छा के लिए अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। चीन में तंग ज़ियाओ फंग के सत्ता में आने तथा अर्थव्यवस्था सहित कई क्षेत्रों में अभूतपूर्व सुधार लाने की उनकी नीति के रचनात्मक परिणाम सामने आए जिनसे भारत–चीन संबंधों को बढ़ावा देने के प्रयासों को बल मिला।

1980 के दशक में आपसी रिश्तों में गति आने लगी, जब दोनों देशों के बीच लंबे समय से चले आ रहे सीमा विवाद को हल करने के लिए अधिकारी स्तर पर कई बार बातचीत हुई। वास्तव में सीमा मसले पर यह बातचीत मई 1980 में इंदिरा गांधी और चीन के प्रधानमंत्री हुआ गुवाफंग के बीच सार्थक वार्ता का परिणाम थी। दोनों नेताओं ने सीमा वार्ता को आगे बढ़ाने तथा एशिया में शांति एवं स्थिरता बनाए रखने के उद्देश्य से आपसी संबंध सुधारने पर सहमति व्यक्त की थी। चीन के प्रधानमंत्री 1981 में भारत आए जिससे दोनों देशों में विचार–विमर्श में और तेज़ी आई। 1981 से 1986 के बीच सीमा वार्ता के सात दौर हुए जिससे भारत–चीन संबंधों की जड़ता पूरी तरह मिट गई, हालांकि समस्या का स्थायी समाधान ढूँढने में अभी तक सफलता नहीं मिली

8.3.4 प्रयासों में तेज़ी

वास्तव में दोनों देशों के बीच राजनयिक संबंध कायम हो जाने और सीमा वार्ता के कई दौर चलने के बावजूद सरहद पर छोटी–मोटी झड़पें होती रहीं। 1987 में सीमा वार्ता के सातवें दौर के बाद भी सुम दोरांग चू घाटी में भारतीय सीमा के इस ओर चीन की घुसपैठ सीमा पर तनाव की एक बड़ी मिसाल है।

परंतु इंदिरा गांधी की मृत्यु और राजीव गांधी के सत्ता में आने पर अंतर्राष्ट्रीय मामलों में काफी बदलाव दिखाई देने लगा। पूर्व सोवियत संघ में मिखाइल गोर्बाचोफ के सत्ता संभालने के बाद महाशक्तियों की होड़ के स्थान पर समझौते और सहयोग की अभूतपूर्व भावना उभरने लगी। शीत युद्ध समाप्त हो जाने से सबकी निगाहें दोनों महाशक्तियों पर लगी थीं और चीन तथा भारत अपने संबंधों को नया रूप देने लगे। 1988 में राजीव गांधी की ऐतिहासिक चीन यात्रा ने दोनों देशों के नेताओं की यात्राओं के लिए नए द्वार खोल दिए। यह 34 वर्षों में किसी भारतीय प्रधानमंत्री की पहली चीन–यात्रा थी।

इस यात्रा के दौरान पहली बार दोनों पक्ष सीमा पर तनाव कम करने के लिए संयुक्त कार्य दल बनाने पर सहमत हुए। इससे भी बड़ी बात यह थी कि दोनों देशों के नेताओं ने आपसी हित के अन्य क्षेत्रों में सहयोग के रिश्ते मजबूत बनाने का फैसला किया।

इसके फलस्वरूप भारत और चीन के बीच वैज्ञानिक तथा तकनीकी सहयोग और शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान के कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। अक्तूबर 1989 में चीन के उपप्रधानमंत्री वू ज़ेकयुआन और दिसंबर 1991 में प्रधानमंत्री ली फंग की भारत यात्रा से दोनों देशों के बीच राजनीतिक संबंध सुधारने की प्रक्रिया में और तेज़ी आ गई।

8.3.5 शीत युद्ध के बाद का घटनाक्रम

1993 में प्रधानमंत्री नरसिंहाराव की चीन यात्रा होने तक समूचा अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य बदल चुका था। सोवियत संघ का विघटन हो चुका था और शीत युद्ध पूरी तरह समाप्त हो गया था। नई विश्व राजनीतिक परिस्थितियों में सभी देश अपनी–अपनी विदेश नीति की नई परिभाषाएँ तलाश रहे थे।

नरसिंहाराव की यात्रा के एक महत्वपूर्ण प्रतिफल के रूप में वास्तविक नियंत्रण रेखा पर शांति बनाए रखने के ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। इसके लगभग एक वर्ष बाद नवंबर 1996 में चीन के राष्ट्रपति जियांग ज़ेमिन भारत आए। इस यात्रा के दौरान विभिन्न क्षेत्रों में चार समझौते किए गए तथा दोनों देशों के बीच । विश्वास पैदा करने के उपाय करने पर भी सहमति हुई।

परंतु मई 1998 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण किए जाने के बाद संबंधों में फिर खटास आ गई। रक्षा मंत्री जॉर्ज फर्नांडिस के चीन को भारत के लिए खतरा बताने के बयान से चीन नाराज़ हो गया। चीन की बढ़ती हुई परमाणु शक्ति को देखते हुए भारत के परमाणु परीक्षणों को सही ठहराने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति को भेजे प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के पत्र के लीक हो जाने से भी चीन का गुस्सा बढ़ गया।

भारत ने चीन की नाराज़गी दूर करने की दिशा में कई कदम उठाए। जुलाई 2000 में अपनी चीन यात्रा के दौरान विदेश मंत्री जसवंत सिंह ने चीनी नेताओं को आश्वासन दिया कि भारत को चीन की ओर से कोई खतरा नहीं है। इसके तुरंत बाद अधिकारी स्तर की बातचीत होने लगी जिसकी परिणति जनवरी 2002 में चीन के प्रधानमंत्री ज़ रोगी की भारत यात्रा के रूप में हुई। प्रधानमंत्री ने चीन के प्रधानमंत्री को एक बार फिर स्पष्ट किया कि भारत को चीन से किसी तरह के खतरे की आशंका नहीं है और इस बात पर बल दिया कि भारत को यह भी विश्वास है कि चीन भारत को अपने लिए खतरा नहीं मानता। इस यात्रा की उल्लेखनीय उपलब्धि थी – आतंकवाद का सामना करने के लिए परामर्श तंत्र की स्थापना। दोनों नेताओं ने आपस में आर्थिक सहयोग बढ़ाने की आवश्यकता पर भी बल दिया। 2003 में पहले रक्षा मंत्री जॉर्ज फर्नांडिस और फिर प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने चीन की सफल यात्राएँ कीं जिनसे आपसी रिश्ते मजबूत बनाने में मदद मिली। वाजपेयी की यात्रा के दौरान सीमा मसले पर सावधानी और सतर्कता के साथ विचार करने पर सहमति हुई।

8.4 भारत–जापान संबंध

भारत और जापान के रिश्ते सदियों पुराने हैं। जापान सबसे पहले सम्राट केमेई के राज्यकाल में भारत के संपर्क में आया। एक सूत्र के अनुसार कोरिया ने सन 552 में बुद्ध की एक प्रतिमा तथा बौद्ध ग्रंथ की एक प्रति भेंट करके जापान के प्रति सम्मान ' प्रकट किया। इस तरह जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ। इसके बाद अनेक भारतीय बौद्ध भिक्षु जापान गए जिससे दोनों देश एक–दूसरे के निकट आए।

प्रारंभिक संपर्क भले ही धर्म के माध्यम से हुआ हो परंतु 19वीं सदी के अंत तक जापान और भारत के बीच व्यापारिक रिश्ते भी पनप चुके थे। यद्यपि उस समय भारत इंग्लैंड के साम्राज्यवादी शासन के अधीन था, परंतु जापान अपने यहाँ औद्योगीकरण को बढ़ावा देने में भारत के योगदान को महत्वपूर्ण मानता था। इस बीच, जापान के लोगों के मन में भारत के राष्ट्रवाद के प्रति सम्मान का भाव पैदा हो चुका था और भारत के नेता जापान की औद्योगिक प्रगति को एशिया के उपनिवेशों के लिए प्रेरणा का स्रोत मानते थे। 1904–05 के युद्ध में रूस पर जापानी विजय से 1857 से उभर रहे भारतीय राष्ट्रवाद को बल मिला। 20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अनेक नेताओं ने जापान में अपनी गतिविधियाँ चलाकर स्वतंत्रता संग्राम को आगे बढ़ाया।

स्वतंत्रता संघर्ष के दिनों में कांग्रेस जापान की कुछ नीतियों, विशेषकर चीन के मंचूरिया प्रांत पर आक्रमण की आलोचक थी। परंतु जब दूसरे विश्व युद्ध में जापान ने पश्चिमी उपनिवेशवादी ताकतों को पराजित किया तो भारत सहित कई एशियाई उपनिवेशों की जनता को बड़ी खुशी हुई। अनेक भारतीय राष्ट्रवादी दलों, विशेषकर गदर पार्टी और सुभाष चंद्र बोस की आज़ाद हिंद फौज के जापानी संबंधों से भारत को स्वतंत्र कराने में मदद मिली।

जापान के लोगों के लिए भारत हमेशा एक सुंदर और पुरानी सभ्यता तथा समृद्ध संस्कृति वाला देश और बौद्ध धर्म की जन्मभूमि रहा है। आज़ादी के संघर्ष के दौरान नोबल पुरस्कार प्राप्त कवि गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में अनेक बंगाली विद्वानों ने ओकाकुरा तेशिन जैसे जापानी बुद्धिजीवियों और कलाकारों से बराबर संपर्क बनाए रखा। महात्मा गांधी के अहिंसा के दर्शन को भी जापान में काफी सहारा मिला।

8.4.1 महायुद्ध के बाद का दौर

युद्ध के तत्काल बाद देखने के पराजित देश था। उस पर से जापानियों भारत और जापान के संबंधों में वास्तविक सुधार दूसरे महायुद्ध के तत्काल बाद देखने को मिला। जापान एक पराजित देश था। उस पर अमेरिकी सेना का कब्जा था। बहुत से जापानियों पर युद्ध–अपराधों के लिए मुकदमे चलाए जाने थे। टोकियो सैनिक पंचाट में भारतीय जज राधा विनोद पाल ने विजेता देश की न्याय भावना पर आपत्ति करते' हुए अपनी असहमति प्रकट की जिससे वे लाखों जापानी लोगों के स्नेह–पात्र बन गए।

ऐसे समय में जब भारत विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने में सफल हो चुका था तो जवाहरलाल नेहरू परमाणु बम की मार और युद्ध के विनाश को झेल चुके जापान को गहरी सहानुभूति से देखते थे। युद्ध की समाप्ति के फौरन बाद जब जापान अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था तो भारत ने जापान को कच्चा लोहा देने की पेशकश की जो उस समय जापान के पुनर्निर्माण के लिए बहुत उपयोगी था। नेहरू ने अमेरिका की शह पर जापान के साथ होने वाली शांति संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेने से इनकार कर दिया और जापान से प्रत्यावर्तन व्यय का दावा भी छोड़ दिया। भारत ने अप्रैल 1952 में ही एक अलग शांति संधि पर हस्ताक्षर किए जिसमें जापान के प्रति सभी प्रत्यार्पण दावे माफ कर दिए गए।

जापान ने नए संविधान के अंतर्गत देश की राजनीति को नया स्वरूप देने और आर्थिक विकास को फिर से पटरी पर लाने का काम शुरू किया तो भारत ने उसके साथ सहयोगपूर्ण संबंध बनाने की कोशिश की। नवंबर 1955 में दोनों देशों के बीच विमान सेवाओं के लिए समझौता हुआ जिसके बाद अक्तूबर 1956 में सांस्कृतिक समझौते तथा फरवरी 1958 में व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। जून 1960 में दोहरे कराधान से बचने के समझौते पर हस्ताक्षर हुए। फरवरी 1966 में भारत–जापान व्यापार समिति गठित की गई।

8.4.2 शीत युद्ध की छाया

1949 में साम्यवादी चीन के उदय, 1950 में कोरिया युद्ध की शुरुआत तथा हिंद–चीन क्षेत्र में साम्यवादी/राष्ट्रवादी उभार के कारण शीत युद्ध एशिया तक पहुँच गया। अमेरिका को जापान को शीत युद्ध में अपना सहयोगी बनाने के लिए विवश होना पड़ा और इसी से भारत–जापान संबंधों का स्वरूप तय होने लगा। जापान की विदेश नीति अमेरिका के साथ उसके गठजोड़ और 1954 की जापान–अमेरिकी सुरक्षा संधि से प्रभावित हो रही थी, इसलिए भारत ने गुटनिरपेक्ष नीति का अनुसरण किया।

गुट–सापेक्ष जापान तथा गुटनिरपेक्ष भारत के बीच काफी राजनीतिक मतभेद थे। उदाहरण के लिए, कोरिया युद्ध और वियतनाम युद्ध के बारे में जापान तथा भारत का दृष्टिकोण भिन्न था और भारत को तब आश्चर्य हुआ जब जापान ने पुर्तगाली शासन से गोआ की मुक्ति का भी समर्थन नहीं किया। जिस देश ने साम्यवादी शिकंजे से वियतनाम और कोरिया की 'मुक्ति' का समर्थन किया, वह इस तथ्य को नहीं समझ पाया कि गोआ को खून का एक भी कतरा बहाए बगैर मुक्त कराया गया। भारत और अमेरिका के बीच बढ़ते राजनीतिक मतभेदों का असर जापान–भारत संबंधों पर भी पड़ा क्योंकि जापान की विदेश नीति विश्व मामलों पर पश्चिमी, विशेष तौर पर अमेरिकी दृष्टिकोण द्वारा निर्धारित होती थी। तब भी जापान के कुछ लोग भारत की गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति और विकासशील देशों के लिए उसकी भूमिका को सम्मान की दृष्टि से देखते थे, हालांकि जापान के लिए युद्ध के बाद की स्थिति में अमेरिका के प्रभाव के कारण ऐसी नीति अपनाना कठिन हो गया था। असल में, जापान भारत के साथ अंतर्राष्ट्रीय मामलों में राजनीतिक मतभेदों के बावजूद उसे उभरती हुई एशियाई शक्ति और विकासशील देशों के लिए चीन से बेहतर मॉडल मानता था। परंतु 1962 में चीन से पराजय झेलने पर जापान को निराशा हुई और जापान की विदेश नीति की प्राथमिकताओं में भारत का दर्जा गिर गया। उसके बाद राजनयिक संबंध कमज़ोर हो गए। चिंता की बात यह थी कि भारत–चीन युद्ध में जापान तटस्थ बना रहा, हालांकि अमेरिका ने सैनिक सहायता के भारत के अनुरोध को मान लिया। यही नहीं, 1965 के भारत–पाक युद्ध के समय जापान ने भारत को सहायता और ऋण सुविधाएँ बंद कर दीं।

1970 के दशक के प्रारंभिक वर्षों की घटनाओं के फलस्वरूप सामरिक मामलों में सोवियत संघ के साथ भारत की राजनीतिक निकटता बढ़ती गई, जिससे भारत के साथ जापान के संबंधों की खाई और चौड़ी हो गई। जापान ने बांग्लादेश की मुक्ति का समर्थन नहीं किया और न ही उसने भारत के शांतिपूर्ण परमाणु विस्फोटों की पुष्टि की। जापान का सोवियत संघ के साथ सीमा विवाद था और उसे वियतनाम के कैम रन खाड़ी में सक्रिय सोवियत नौसेना से अपने समुद्री मार्गों के लिए खतरा दिखाई देता था। इसलिए 1971 के भारत–पाक युद्ध और 1974 के परमाणु परीक्षण पर जापान का दृष्टिकोण सोवियत संघ के साथ अपने संबंधों तथा शीत युद्ध के पहलुओं से प्रभावित था। यदि परमाणु परीक्षणों के बारे में जापान की तीखी प्रतिक्रिया परमाणु समस्या पर उसके सैद्धांतिक रवैये पर आधारित होती तो वह 1978 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में भारत तथा कुछ अन्य देशों द्वारा रखे गए उस प्रस्ताव पर मतदान से अनुपस्थित न रहता जिसमें परमाणु हथियारों के इस्तेमाल की धमकी को मानवता के खिलाफ अपराध बताया गया था। वास्तव में जापान और भारत के बीच शीत युद्ध से जुड़े मतभेद इतने गहरे थे कि संयुक्त राष्ट्र संघ में किसी भी ठोस मसले पर वे एक–दूसरे के पक्ष में खड़े दिखाई नहीं देते थे।

राजनीतिक मतभेद जारी रहने के साथ–साथ आर्थिक क्षेत्र में भी दोनों देशों के बीच कोई सार्थक आदान–प्रदान नहीं हो रहा था। युद्ध के बाद जापान ने अपने आर्थिक पुनर्निर्माण तथा विकास पर ध्यान दिया और उसे सफलता भी मिली। उस दौर में भारतीय अर्थव्यवस्था जड़ता की स्थिति में थी। भारत की अर्थव्यवस्था में आयात कम करने पर ज़ोर दिया जा रहा था जो जापान के लिए भारत के साथ आर्थिक रिश्ते बढ़ाने की दृष्टि से उत्साहजनक नहीं था। व्यापारिक रिश्ते बहुत कम थे। यही हाल पूँजी निवेश का था। हालाँकि भारत जापान से सबसे अधिक सरकारी विकास सहायता लेने वाले देशों में था, परंतु सहायता की राशि में 1980 के दशक के मध्य तक, जब प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने बदलते हुए अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में जापान की यात्रा की, कोई वृद्धि नहीं हुई।

8.4.3 शीत युद्ध के बाद

विश्व युद्ध की समाप्ति और भारत की आर्थिक उदारीकरण की नीति ने भारत और जापान के लिए नए रचनात्मक संबंध कायम करने के अवसर पैदा किए। व्यापार, निवेश, सेवा और तेजी से पनप रही सूचना प्रौद्योगिकी सहित अनेक आर्थिक क्षेत्रों में सहयोग के नए द्वार खुल गए। जापान जल्दी ही व्यापार, निवेश और आर्थिक सहयोग में भारत के सबसे महत्वपूर्ण भागीदारों में से एक हो गया। भारत और जापान का कुल व्यापार 1970 में 50 करोड़ डॉलर से बढ़कर 1997 में लगभग 4 अरब डॉलर तक पहुँच गया। 1986 से 1998 तक जब परमाणु परीक्षणों के कारण जापान ने सरकारी विकास सहायता रोक दी), जापान भारत के लिए सबसे बड़ा सहायतादाता देश था। 1997 में जापान ने भारत को एक अरब तीस करोड़ डॉलर की सहायता दी। पूँजी निवेश के क्षेत्र में भारत में जापान का प्रत्यक्ष निवेश 1993 में 39 लाख डॉलर था जो बढ़कर 1997 में 5 करोड़ 32 लाख डॉलर हो गया। नई शताब्दी के शुरू होने तक जापान भारत में पाँचवाँ सबसे बड़ा निवेशक देश बन चुका था। तब तक जापान इस तथ्य को स्वीकार कर चुका था कि भारत परमाणु शक्ति संपन्न देश है। दोनों देशों के प्रमुख नेताओं की आपसी यात्राओं से द्विपक्षीय संबंधों में और गति आई।

8.5 सारांश

शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के विघटन से भारत–रूस संबंधों के लिए अप्रत्याशित समस्याएँ पैदा हुईं। परंतु दोनों देश एक बार फिर एक–दूसरे के साथ संबंध मज़बूत बनाने में कामयाब हो गए हैं। आपसी हितों के नए समन्वय में शीत युद्ध के दिनों के तर्क और संदर्भ नदारद हैं। नई पनपती सामरिक सहभागिता के कारण भारत को रूस की सेना तथा वहाँ के उद्योगों से बड़े पैमाने पर परंपरागत हथियार और सैनिक साज–सामान खरीदने का मौका मिला है।

इसके अलावा, बहु–ध्रुवीय विश्व की स्थापना और अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद, धार्मिक उग्रवाद, नशीले पदार्थों के अवैध व्यापार तथा छोटे हथियारों की खरीद जैसे मसलों पर भारत और रूस का दृष्टिकोण एक जैसा है। रूस भारत के परमाणु शक्ति के रूप में उदय का विरोधी नहीं है। कश्मीर मसले पर उसका भारत को बिना शर्त समर्थन जारी है।

परंतु पूर्व सोवियत संघ के साथ रिश्तों की तुलना में रूस के साथ भारत के संबंध कम हैं। जनता से जनता तक के संबंध बहुत सीमित हैं और बहुत कम संख्या में कार्मिकों का अथवा शैक्षिक आदान–प्रदान हो रहा है। दोनों देशों के बीच गैर–सैनिक व्यापार एक वर्ष में मात्र एक अरब चालीस करोड़ डॉलर का होता है और यह मुख्य रूप से भारत से वस्त्र, चमड़ा तथा दवाओं के निर्यात तक सीमित है।

1950 के दशक में चीन के साथ भारत की गहरी दोस्ती जल्दी ही कड़वाहट में बदल गई जब चीन ने दलाई लामा को तिब्बत छोड़ कर भारत जाने को मजबूर किया और बाद में 1962 में भारत पर आक्रमण करके बहुत बड़े भारतीय भूभाग पर कब्जा जमा लिया। परंतु समय बीतने के साथ–साथ यह कड़वाहट अतीत का विषय बन गई है। 1980 के दशक से दोनों देशों ने संबंध सामान्य बनाने के लिए कई कदम उठाए हैं। आज चीन के साथ भारत के संबंध पहले की तुलना में काफी बेहतर हैं। दोनों देशों का वार्षिक व्यापार पाँच अरब डॉलर से ऊपर पहुँच चुका है।

इसके अलावा, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए आतंकवादी खतरों के जारी रहने पर दोनों देश समान रूप से चिंतित हैं। 1990 के दशक के प्रारंभ से दोनों देशों के बीच उच्च स्तर पर राजनीतिक विचार–विमर्श भी लगातार होता रहा है। दोनों देशों के अधिकारी समय–समय पर सीमा विवाद पर भी बातचीत करते हैं। परंतु सीमा विवाद बहुत जल्दी हल होता दिखाई नहीं देता।

जनसंहारक हथियारों के क्षेत्र में पाकिस्तान के साथ चीन के सहयोग पर भारत की चिंता बराबर बनी हुई है। प्रक्षेपास्त्र विकास के लिए उत्तर कोरिया और पाकिस्तान में सहयोग भी चीन की जानकारी में हो रहा है। दूसरी ओर, भारत में तिब्बती अल्पसंख्यकों के रहने पर चीन खुश नहीं है। उसे अमेरिका के साथ संबंधों, विशेष कर सैनिक सहयोग पर भी एतराज है। यह भी लगता है कि प्रक्षेपास्त्र रक्षा के मामले में अमेरिका के प्रति भारत का खुला समर्थन भी चीन को पसंद नहीं है। इसके बावजूद, चीन और भारत ने 2003 में फैसला किया कि वे अतीत को भुलाकर भारत–चीन संबंधों को आगे बढ़ाने में तेज़ी लाएँगे।

जापान यद्यपि 1950 के दशक से भारत का महत्वपूर्ण सहयोगी देश रहा है परंतु शीत युद्ध के दौर में दोनों देशों के बीच राजनीतिक और रक्षा संबंध बहुत कम रहे। शीत युद्ध की समाप्ति से भारतीय तथा जापानी नेताओं के बीच विचार–विनिमय में तेज़ी आई परंतु पोखरण–II परमाणु परीक्षणों के फलस्वरूप दोनों देशों में तनाव पैदा हो गया। जब मई 1998 में भारत घोषित परमाणु शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया तो भारत तथा जापान अपने राजनीतिक, आर्थिक तथा रक्षा संबंधों को नया रूप देने की दहलीज़ पर थे। परंतु आर्थिक क्षेत्र में सहयोग का सुधरा हुआ स्तर इस मामले में अपार संभावनाओं को देखते हुए बहुत कम था। यदि जापान की नज़र से देखा जाए तो उसके कुल विश्व व्यापार में भारत के साथ व्यापार का हिस्सा एक प्रतिशत से भी कम है।

परंतु परमाणु परीक्षण पर जापान की तीखी और कठोर प्रतिक्रिया से काफी समय तक भारत–जापान संबंधों पर ताला पड़ गया। परंतु 1999 के शुरू में जापान के पूर्व विदेश मंत्री तारो नाकायामा भारत आए और उन्होंने जापान के प्रधानमंत्री का पत्र भारतीय प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी को दिया। इसके बाद उच्च स्तर पर फिर से विचार–विमर्श शुरू होने के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच संबंधों के नए दौर का सूत्रपात हुआ। 2000 में भारत के रक्षा मंत्री की जापान यात्रा काफी महत्वपूर्ण साबित हुई। भारत और जापान की नौसेनाओं के संयुक्त अभ्यास इस तथ्य के परिचायक हैं कि दोनों देश 21वीं सदी में राजनीतिक, आर्थिक और रक्षा के क्षेत्र में गहरे रिश्ते बनाने को कृत–संकल्प है।

भारत और अमेरिका एक–दूसरे के और करीब आ रहे हैं जिससे जापान के साथ भारत के संबंध भी मज़बूत होने की संभावना है। भारत और जापान के लिए फारस की खाड़ी, हिंद महासागर और एशिया–प्रशांत क्षेत्र में स्थिरता के महत्व को दोनों देश पहचान रहे हैं। जापान अब भारत को एशिया की एक उभरती हुई शक्ति मानता है। 21वीं सदी में भारत–जापान संबंधों की गहनता और स्वरूप का विश्व में, विशेष तौर पर एशिया में शांति एवं स्थिरता कायम करने की दृष्टि से बहुत महत्व होगा।

8.6 अभ्यास

1. सोवियत संघ के विघटन के बाद भारत और रूस के बीच आपसी तनाव के क्या कारण थे?
2. 1990 के दशक के मध्य से भारत–रूस संबंधों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
3. भारत और जापान के बीच प्रारंभिक दोस्ती कड़वाहट में क्यों बदल गई?
4. भारत–चीन के ठंडे रिश्तों में गर्मी आने की प्रक्रिया का ब्यौरा दीजिए।
5. भारत–चीन संबंधों का मौजूदा स्वरूप क्या है?
6. इस कथन पर टिप्पणी कीजिए कि 'शीत युद्ध का घटनाक्रम जापान और भारत के बीच सार्थक सहयोग विकसित होने में बाधक रहा।'
7. शीत युद्ध के बाद के दौर में भारत–जापान संबंधों में उतार–चढ़ाव का विवेचन कीजिए।

इकाई–9

भारत और इसके पड़ोसी देश

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 दक्षिण एशियाई क्षेत्र राज्य व्यवस्था

9.3 दक्षिण एशिया में उद्‌गम क्रम

9.4 भारत–पाकिस्तान संबंध

- 9.4.1 विश्व–दृष्टि
- 9.4.2 संघर्ष की अभिव्यक्ति : कश्मीर
- 9.4.3 परमाणु समीकरण
- 9.4.4 वार्ता

9.5 भारत और दक्षिण एशिया के अन्य राष्ट्र

- 9.5.1 ढाँचा
- 9.5.2 नेपाल
- 9.5.3 भूटान
- 9.5.4 बांग्लादेश
- 9.5.5 श्रीलंका
- 9.5.6 मालदीव

9.6 सार्क का गठन

9.7 सारांश

9.8 अभ्यास

9.1 प्रस्तावना

भूराजनीतिक रूप से दक्षिण एशिया की पहचान उस क्षेत्र के रूप में की जाती है जो पूर्व सोवियत संघ और चीन के दक्षिण में, हिमालय पर्वत के दक्षिण में स्थित है, जिसकी सीमा पर पूर्व दिशा में म्यांमार (बर्मा) और पश्चिम में अफगानिस्तान है। एक अर्थ में म्यांमार और अफगानिस्तान दक्षिण–पूर्व एशिया और दक्षिण–पश्चिम एशिया के क्षेत्रों के क्रमिक रूप से सीमा रेखा में आने वाले राज्य है।

1985 में क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्क) की रचना ने दक्षिण एशिया के भूराजनीतिक अस्तित्व की मान्यता का प्रतिनिधित्व किया। क्षेत्रीय इलाके को भौगोलिक रूप से नज़दीकी और अंतःक्रियात्मक ऐसे राज्यों (जिनमें सामान्य नृजातीय, भाषायी, सांस्कृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक बंधनों की कुछ मात्रा हो) के रूप में पहचान करने के लिए प्रयुक्त की गई कार्यविधियाँ इस संघ की रचना का आधार बन गईं। इस क्षेत्रीय संगठन में शामिल देश हैं – बांग्लादेश, भूटान, भारत, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका।

इस इकाई में निम्नलिखित प्रारूप में भारत की दक्षिण एशियाई नीतियों की चर्चा की जाएगी। पहले भाग में विश्लेषण के ढाँचे की जानकारी दी गई है। यह ढाँचा क्षेत्रीय राज्य प्रणाली की संकल्पना का है। आगे के भाग में एशिया में उभरते क्रम पर चर्चा की गई है जिसमें भारतीय राजनीतियों की कुछ प्रारंभिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। अगले भाग में क्षेत्र की प्रमुख शक्ति के रूप में पाकिस्तान के बारे में वर्णन किया गया है। तीसरे भाग में दक्षिण एशिया की लघु शक्तियों की ओर' भारत की नीतियों की जानकारी दी गई है। अंतिम भाग में दक्षिण एशिया के एक क्षेत्रीय संगठन के रूप में सार्क के उद्‌भव पर चर्चा की गई है।

9.2 दक्षिण एशियाई क्षेत्र राज्य व्यवस्था

कोन्टोरी और स्पीगल जिस अर्थ में एक अधीनस्थ प्रणाली या क्षेत्र को परिभाषित करते हैं उस अर्थ में सात सार्क देशों वाला दक्षिण एशियाई क्षेत्र सजातीय समूह है। कोन्टोरी और स्पीगल क्षेत्र की अंतःक्रिया का वर्णन कोर सेक्टर, परिधीय (बाह्य) सेक्टर और एक अतिक्रमणशील प्रणाली के संदर्भ में करते हैं। कोर सेक्टर में सहभागी सामाजिक, राजनीतिक,

आर्थिक या संगठनात्मक पृष्ठभूमि अथवा राज्यों के समूह के बीच कार्यकलाप शामिल होते हैं जो उस क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य केंद्र उत्पन्न करते हैं। परिधीय सेक्टर में वे सभी राज्य शामिल होते हैं जो आर्थिक, संगठनात्मक, सामाजिक या राजनीतिक कारकों द्वारा कोर सेक्टर से कुछ मात्रा में भिन्न होते हैं। अतिक्रमणशील सेक्टर में क्षेत्र के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अतिरिक्त क्षेत्रीय हस्तक्षेप शामिल होता है। दक्षिण एशिया की सघनता पर कोन्टोरी और स्पीगल मॉडल एक सीमित अर्थ में लागू होता है।

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय राज्य प्रणाली की मूल विशिषताएँ इस प्रकार हैं :

(i) अपने भौगोलिक आकार और स्थिति, आर्थिक और औद्योगिक आधार तथा सैन्य शक्ति के आधार पर भारत को क्षेत्र में प्रधान स्थिति प्राप्त है। नेतृत्व, प्रमुखता या आधिपत्य की भारतीय आकांक्षाएँ इस क्षेत्र की इन भूराजनीतिक स्थितियों की उपज हैं।

(ii) भारत को छोड़कर दक्षिण एशिया में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। पाकिस्तान एक प्रमुख शक्ति है जो भारतीय आधिपत्य की आकांक्षाओं को सीमित कर सकती है। पाकिस्तान की अपनी परिसीमाएँ इसकी भौगोलिक स्थिति और आर्थिक तथा सैन्य संभाव्यताओं के फलस्वरूप हैं। 1971 से पहले के पाकिस्तान से विपरीत, आज का पाकिस्तान दक्षिण एशिया की सीमा पर स्थित है। इस्लामी पश्चिम एशियाई राज्य प्रणाली के साथ इसके काफी घनिष्ठ हैं। पाकिस्तान को क्षेत्र की प्रमुख शक्ति कह कर वर्णित किया जा सकता है और दक्षिण एशियाई राज्य प्रणाली में इसे ''सौदा करने वाला'' या 'साझेदार' के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। क्षेत्र के नेता के रूप में हालांकि पाकिस्तान में भारत का स्थान लेने की क्षमता तो नहीं है किंतु क्षेत्र के निर्णयन में यह भारत से साझेदारी के लिए सौदा कर सकता है।

अन्य प्रकार के देशों में नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, श्रीलंका और मालदीव जैसे छोटे देश शामिल होंगे। अतिरिक्त क्षेत्रीय हस्तक्षेप या उनके अपने आंतरिक स्थायित्व द्वारा ये कोर शक्ति के लिए समस्याएँ बन सकते हैं। क्षेत्र में शक्ति के संतुलन को स्वीकार करके ये कोर शक्ति के प्रभुत्व का वैधीकरण भी कर सकते हैं।

दक्षिण एशिया के प्रमुख और सर्वाधिक सक्रिय संबंध अतिसंक्रमणशील शक्तियों द्वारा प्रभावित होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस (पूर्व सोवियत संघ), चीन और अन्य जैसों ने इस क्षेत्र की नीतियों को प्रभावित किया है। भारत सहित सभी दक्षिण एशियाई देशों ने, अपने लाभ के लिए अतिरिक्त क्षेत्रीय शक्तियों को प्रभावित करने की क्षमता का इस्तेमाल करने की माँग की है।

9.3 दक्षिण एशिया में उद्गम–क्रम

स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर एशियाई राज्यों का प्रारंभिक भाव था – खुद को शीत युद्ध गुट की राजनीति से अलग कर लेना। नेहरू के शासन के अधीन भारतीय दृष्टिकोण ने विश्व मामलों को एक स्वतंत्र समझ और शांति नीति विकसित करने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया। ये सिद्धांत एशिया में हुए उन कई सम्मेलनों में लागू हुए जिनमें क्षेत्रीयता द्वारा शांति का ढाँचा स्थापित करने की माँग की गई थी। एशियाई संबंध सम्मेलन (दिल्ली, 1947) वह पहला सम्मेलन था जिसने उन एशियाई देशों के नेताओं को एकत्र किया जो अभी भी उपनिवेशी घेरे से उभरने की प्रक्रिया में थे। इस सम्मेलन ने एक एशियाई पहचान स्थापित करने और शांति और विकास जैसे मुद्दों के प्रति सामान्य दृष्टिकोण अपनाने की माँग की। इंडोनेशिया पर सम्मेलन (दिल्ली, 1949) में उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय जनमत बनाने और इंडोनेशिया में स्वतंत्रता आंदोलन का समर्थन करने की माँग की गई। कोलंबो सम्मेलन (1954) और एफ्रो–एशियाई बांडुंग सम्मेलन (1955) ने क्षेत्रीयता की नींव रखी। कोलंबो सम्मेलन दक्षिण और दक्षिणपूर्व एशियाई देशों का सम्मेलन था और दूसरा एफ्रो–एशियाई देशों का सम्मेलन था। इन सम्मेलनों ने तीसरी दुनिया और खास तौर से एशिया में क्षेत्रीयता की वृद्धि का प्रतिनिधित्व किया। बांडुंग सम्मेलन का उद्देश्य शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व (पंचशील) के सिद्धांतों को ऐसे सिद्धांतों के रूप में स्पष्ट करना था जो राज्यों के बीच संबंधों को शासित करें। क्षेत्रीयता के प्रति होने वाले आंदोलन ने एशिया में कोई भी संस्थात्मक व्यवस्थाएँ नहीं बनाईं। यह उपनिवेशोत्तर राज्यों के सामान्य सरोकारों की पहचान करने का एक प्रयास ही रह गया जिसमें विकास की समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया गया।

दुर्भाग्यवश, क्षेत्रीयता एफ्रो–एशियाई देशों का मूलभूत सरोकार कभी नहीं बना। क्षेत्रीयता के मार्ग में देश के भीतर बड़े अल्पसंख्यकों की उपस्थिति, अनिश्चित सीमाएँ, संभ्रांतों के तकराव आदि जैसी कुछ बाधाएँ उपनिवेशी विरासतों से आईं। कोरियाई युद्ध के पश्चात् एशिया में शीत युद्ध का आक्रमण क्षेत्र में क्षेत्रीयता के लिए परिवर्तन बिंदु सिद्ध हुआ। बांडुंग अंतिम एफ्रो–एशियाई सम्मेलन था। यद्यपि क्षेत्रीयता के भाव को पुनर्जीवित करने के लिए प्रयास किए गए परंतु वे असफल रहे।

पचासवें दशक के मध्य में क्षेत्रीयता से हट कर गुटनिरपेक्षता के विकास की ओर परिवर्तन होता दिखाई दिया। एक स्तर पर, गुटनिरपेक्षता पंचशील के सिद्धांत में वर्णित क्षेत्रीयता के मूल सिद्धांतों की पुनर्परिभाषा बन गई, लेकिन इसमें स्वतंत्रता और शांति पर विशेष जोर दिया गया। अन्य स्तर पर, यह शीत युद्ध की प्रतिद्वंद्विता के उभरते ढाँचे के भीतर

वैश्विक मामलों की स्वतंत्र समझ की पुनर्परिभाषा थी। ध्यान देने वाली बात यह है कि क्षेत्रीयता और गुटनिरपेक्षता दोनों ने ही आंदोलनों को संरचना या संगठन में परिवर्तित करने का कोई प्रयास नहीं किया।

दक्षिण एशियाई स्तर पर, क्षेत्रीय राज्य प्रणाली में व्यवस्था के लिए दो "मॉडलों की पहचान की जा सकती है। पहला मॉडल 1947 की भूराजनीतिक वास्तविकताओं पर आधारित था। यह मॉडल वास्तविक शक्ति वास्तविकताओं के स्थान पर भारत की दक्षिण एशिया में प्रमुख शक्ति बनने की संभाव्यताओं पर आधारित था। चीन से 1962 की पराजय होने तक इस मॉडल पर कोई प्रश्न उठाए जाने की जरूरत नहीं दिखाई दी। भारत–चीन युद्ध ने उन भारतीय दावों पर प्रश्न उठाया जो दक्षिण एशिया के क्षेत्र में महान शक्ति प्रस्थिति के लिए दावा कर रहे थे। दूसरा मॉडल पाकिस्तान के साथ हुए 1971 के संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। बांग्लादेश बनना और शिमला समझौता (1972) इस नए मॉडल का आधार बन गए। 1971–72 मॉडल दक्षिण एशिया में भारत की शक्ति। प्रस्थिति की मान्यता पर आधारित था। इस स्थिति की पाकिस्तान की स्वीकृति शिमला समझौते पर हस्ताक्षर किए जाने में अंतर्निहित थी। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ही दक्षिण एशिया में इस नवीन भारतीय स्थिति को वैधता प्रदान करते प्रतीत हुए। चीन के साथ संवाद प्रारंभ करने में नई दिल्ली की सफलता से यह संकेत प्राप्त हुआ कि चीन ने भी वैसी ही वैधता प्रदान की है।

9.4 भारत–पाकिस्तान संबंध

1947 में भारत के बँटवारे के समय उभरने वाली कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और भौगोलिक विवशताओं ने दोनों देशों की विचारधारा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। जिन लोगों ने एक अलग राष्ट्रीय पहचान बनाए रखने का दावा किया उनकी राष्ट्रीय एकता के लिए इस्लाम को एक सहायक बिंदु माना गया। यह पृथकतावादी शक्ति बन गई जबकि यह उपनिवेश विरोधी संघर्ष की राष्ट्रीय मुख्यधारा की दिशा में नहीं थी। इसे पाकिस्तान के सृजन के मूल कारण के रूप में स्वीकार किया गया है।

अपने द्विपक्षी संबंधों में इन देशों को जिन महत्वपूर्ण मुद्दों का सामना करना पड़ता है, वे हैं – (i) विश्व–दृष्टि में अंतर, (ii) कश्मीर विवाद; और (iii) नाभिकीय परमाणु मुकाबले की समस्या।

9.4.1 विश्व दृष्टि

दक्षिण एशिया के दो कोर देशों के रूप में भारत और पाकिस्तान की अलग–अलग विश्व दृष्टि है जो उनकी विदेश नीतियों को प्रभावित करती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात के प्रारंभिक वर्षों में भारत की विश्वदृष्टि एशिया के उपनिवेशोत्तर राष्ट्रों की क्षेत्रीय पहचान बनाने के विचार से शासित थी। इस नीति का एक महत्वपूर्ण पहलू था – दक्षिण एशिया में अतिरिक्त क्षेत्रीय हस्तक्षेप का विरोध। भारत ने यह माँग की कि दक्षिण एशियाई मुद्दों को दक्षिण एशियाई देशों की परिधि के अंतर्गत ही रखा जाए। एशिया में शीत युद्ध मैत्रियों के प्रवेश का विरोध और गुटनिरपेक्षता का अंततः मार्ग इसी विश्वदृष्टि का हिस्सा है। 1947 से 1971 की अवधि में दक्षिण एशिया के प्रति भारत के दृष्टिकोण में दो प्रवृत्तियाँ दिखाई दीं। एक प्रवृत्ति वह थी जिसे नेहरू ने प्रारंभ किया था। इसमें प्रमुख विषय के रूप में क्षेत्रीयता पर विशेष ध्यान दिया गया था। दूसरी प्रवृत्ति लाल बहादुर शास्त्री के शासनकाल के दौरान उभरी। यह 1962 के युद्ध के परिणामस्वरूप और इसकी क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय विश्वदृष्टि को पुनःस्थापित करने की आवश्यकता से प्रारंभ हुआ। शास्त्री को विदेश नीति को कुंजी के रूप में द्विपक्षवाद पर विशेष बल देना था, खास तौर से दक्षिण एशियाई देशों के संबंध में। भारत ने 1971 के पश्चात् की अवधि में संगत दक्षिण एशिया नीति विकसित की, जिससे भारत ने अपने दक्षिण एशियाई पड़ोसियों के प्रति भारत के दृष्टिकोण को निर्धारित करना था। इस नीति का आधार दक्षिण एशिया में भारत की शक्ति स्थिति में निहित था। नीति की संरचना दो दृष्टिकोणों के सम्मिश्रण पर आधारित थी। पहली क्षेत्रीयता जो अब दक्षिण एशिया और क्षेत्रीय राज्य प्रणाली के रूप में दक्षिण एशिया की अनुवर्ती अनुभूति से प्रतिबंधित थी और दूसरी द्विपक्षवाद जो 1972 के शिमला समझौते का आधार थी। पाकिस्तान का अपनी भूमिका का नज़रिया दो समकालिक शक्तियों के बोध से उभरा – देश की भूराजनीति (जो पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के बीच विभाजित थी) और इस्लामी विश्वदृष्टि। पहले ने पाकिस्तान को दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय राज्य प्रणाली में दृढता से स्थापित किया जबकि दूसरा इसे पश्चिम एशिया की इस्लामी दुनिया के करीब लाया। इस प्रकार, पाकिस्तान ने खुद को दो अलग–अलग पहचानों और भूमिकाओं के रूप में देखा – एक तो दक्षिण एशियाई शक्ति, तथा दूसरी एक इस्लामी पश्चिम एशियाई शक्ति जो अंततः इस्लामी सम्मेलन के संगठन के एक महत्वपूर्ण देश के रूप में उभरने वाला था। एक प्रमुख सुरक्षा संबंधी चिंता जिस पर पाकिस्तान अपने प्रारंभ से ही विचार किए जाने की माँग कर रहा था वह है, उसको भारत से भय। पाकिस्तान की विदेश और रक्षा नीति की समस्या भारत के प्रभुत्व और उन सुरक्षा उपायों के इस केंद्रीय विषय के चारों ओर घूमती रहती थी जो इस खतरे का सामना करने के लिए शुरू किए जाने थे। इस्लामी दुनिया और चीन से सहसंबंध स्थापित करने और अमेरिका के सैन्य गठबंधन में भागीदारी करने के पाकिस्तान के प्रयासों को उसकी इस सुरक्षा संबंधी चिंता के संदर्भ में समझा जा सकता है। इन सहसंबंधों से पाकिस्तान को भारत की उस क्षेत्र में प्रभुत्व प्राप्त करने की इच्छा का विरोध करने का अवसर मिला जिसे भारत अपने प्रभाव का क्षेत्र समझता था।

9.4.2 संघर्ष की अभिव्यक्ति : कश्मीर

भारत और पाकिस्तान के विचारों में यह मूलभूत विभिन्नता कश्मीर के मुद्दे पर अभिव्यक्त होती है। कश्मीर के मुद्दे को पाकिस्तान द्वारा द्विपक्षीय विभाजन के मूल के रूप में माना जाता है। जूनागढ़ और हैदराबाद की भाँति कश्मीर ने भी अपने भविष्य के निर्णय करने के लिए यह विकल्प चुना कि वह भारत में सम्मिलित हो या उसका पाकिस्तान के साथ विलय हो जाए। हैदराबाद और जूनागढ़ के बारे में भारत सरकार ने यह सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाया कि अधिसंख्यक स्थानीय हिंदू जनता की इच्छाओं का सम्मान किया जाए और इन दोनों राज्यों की भारतीय संघ में विलय करने की प्रक्रिया जल्दी से पूरी की जाए। कश्मीर की समस्या निराली थी। इसकी जनता के विभाजन की रचना बिल्कुल अलग थी – लद्दाख क्षेत्र में बौद्धों, जम्मू क्षेत्र में हिंदुओं और कश्मीर घाटी में मुसलमानों का प्रभुत्व था। पाकिस्तान ने कश्मीर में अनियमित सेना'' के प्रवेश की अनुमति देकर कश्मीर पर जल्दी निर्णय लेने का प्रयास किया। संभावित समस्याओं को महसूस करते हुए महाराजा हरीसिंह ने भारत के साथ अधिमिलन के दस्तावेज पर हस्ताक्षर कर दिए और इस प्रकार जम्मू और कश्मीर राज्य का भारतीय संघ के साथ विलय कर दिया।

कश्मीर के भारत में विलय होने के पश्चात् हुए प्रथम भारत–पाकिस्तान युद्ध ने राज्य को विभाजित कर दिया। भारत इस मामले को संयुक्त राष्ट्र में ले गया और कश्मीरियों की इच्छाओं का पता लगाने के लिए कश्मीर में एक जनमत संग्रह कराने के लिए राजी हो गया। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद द्वारा अपनाए गए युद्धविराम प्रस्ताव के अनुसार, जनमत कश्मीर से पाकिस्तानी फौजों के हटाए जाने और स्थिति को 1947 पूर्व की स्थिति बनाए जाने पर सशर्त था। पाकिस्तान द्वारा इस स्थिति को कभी पहले जैसा नहीं किया गया और जनमत संग्रह भी कभी नहीं किया गया।

1948 के प्रथम युद्ध के बाद से कश्मीर ने उपद्रवी (अशांत) इतिहास को देखा है। चिरकलिक के कश्मीरी नेता शेख अब्दुल्ला द्वारा बनाई गई नई सरकार 1953 में भंग कर दी गई। शेख अब्दुल्ला को उनके पद से मुक्त कर दिया गया क्योंकि उनकी पार्टी नेशनल कान्फ्रेंस ने भारत में विलय स्वीकार करने से इनकार कर दिया और भविष्य में कश्मीर राज्य के अंतिम समझौते (निपटारे) के बारे में अस्पष्ट बात की। शेख अब्दुल्ला को 1975 में फिर से कश्मीर में सरकार का तब प्रमुख बनाया गया जब उन्होंने तथा श्रीमती गांधी ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए। अब शेख अब्दुल्ला ने अपनी पहले की अलगाववादी माँग को छोड़ दिया था और कश्मीर को भारत के वैध हिस्से के रूप में स्वीकार कर लिया था। 1965 में भारत और पाकिस्तान ने कश्मीर पर युद्ध लड़ा। पाकिस्तानी एयर मार्शल असगर खान के अनुसार यह युद्ध इस समस्या को हमेशा–हमेशा के लिए सुलझाने हेतु लड़ा गया था। ताशकंद सम्मेलन (1966) से भी कोई परिणाम नहीं निकल पाया। यद्यपि 1971 का युद्ध पूर्व पाकिस्तान के भविष्य और बांग्लादेश की रचना से अधिक संबंधित था। परंतु इसमें कश्मीर का पक्ष भी निश्चित रूप से शामिल था।

1972 के शिमला समझौते ने कश्मीर पर आपातिक स्थिति को औपचारिक रूप दिया। समझौते में भारत–पाक अंतःक्रिया के मूल सिद्धांतों को स्थापित करने की माँग रखी गई थी। इस समझौते में भावी भारत–पाकिस्तान समस्याओं को सुलझाने के लिए द्विपक्षवाद और स्थायी शांति की स्वीकृति का विशेष रूप से ढाँचे के रूप में उल्लेख किया गया है। कश्मीर के अत्यंत प्रबल मुद्दे पर इस समझौते में कहा गया है – जम्मू और कश्मीर में, 17 दिसम्बर 1971 के युद्ध विराम के फलस्वरूप वास्तविक नियंत्रण रेखा का मान्य स्थिति के प्रति बिना किसी पूर्वाग्रह के दोनों ओर से ही सम्मान किया जाना चाहिए। परस्पर मतभेदों और कानूनी निर्वचनों की परवाह किए बिना किसी भी पक्ष को इसे बदलने का एकपक्षीय प्रयास नहीं करना चाहिए। इस रेखा के उल्लंघन में दोनों ही पक्षों को शक्ति के प्रयोग की या धमकी देने से दूर रहने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।'

शिमला समझौते ने भारत और पाकिस्तान के लिए अंतःक्रिया का नया ढाँचा बनाने और कश्मीर मुद्दे को अनिश्चितकाल तक नियंत्रण रेखा तक स्थिर कर दिया। इस समझौते को बनाने में शामिल भारतीय नेताओं की रचनाओं से पता चलता है कि इस समझौते में संभावित भविष्य में नियंत्रण रेखा को सीमारेखा में बदलने का भाव निहित था। इस संदर्भ में ही शेख अब्दुल्ला की वापसी महत्वपूर्ण बन गई। अब भारत के पास एक कश्मीरी नेता था, जो एक कश्मीरी पार्टी नेशनल कान्फ्रेंस – का प्रमुख था और इससे यह स्थिति बन गई कि कश्मीर भारत का हिस्सा है। यह जनमत के लिए तुल्य था। यह आत्मनिर्णय के अधिकार की परीक्षा थी जिसका कश्मीरियों से जनमत द्वारा वादा किया गया था। अब भारत कश्मीर के भारत में अधिमिलन के लिए राजनीतिक वैधता की बात कर सकता था।

अस्सी के दशक में कई कारणों से कश्मीर में समस्या उलझती प्रतीत हुई। विश्व–व्यापी इस्लामी पुनरुत्थान ध्यान देने योग्य शक्ति के रूप में सामने आया। रूढ़िवादी इस्लामी समूह और उनकी गतिविधियों का प्रसार अमेरिका के लिए भी चिंता का विषय बन गया। उन दिनों पाकिस्तान एक अद्भुत स्थिति में था। इसकी सापेक्षिक उदार इस्लामी छवि को देखते हुए पाकिस्तान में आकस्मिक लोकतांत्रिक सरकारों की संभावना ने इसे अमेरिका के साथ अपेक्षाकृत घनिष्ठ संबंध बनाने की ओर उन्मुख किया। दूसरी ओर, इसके मूल इस्लामी दुनिया से बहुत अच्छे संबंध थे। तालिबान की नई अफगानी सरकार और अन्य उग्र इस्लामी संगठनों तक इसकी काफी पहुँच थी। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि

पाकिस्तान को उस समय की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति से लाभ पहुँचा। कश्मीर पर 1975 के पश्चात् हुए विकासों ने इसके इतिहास में पूरे ही एक नए अध्याय के प्रारंभ की रचना की। शेख अब्दुल्ला के शासन के प्रति विपरीत प्रतिक्रियाएँ सत्तर के दशक के अंतिम वर्षों में शुरू हुई। ये प्रतिक्रियाएँ अंशतः कश्मीर के शासक वर्ग और उस सामान्य जनता के बीच बढ़ते विभाजन से उत्पन्न थीं जो विकास के उन लाभों से वंचित थी जिसे बनाने का राज्य ने प्रयास किया था। अंशतः ये उस परिणामी असंतोष से भी उत्पन्न हुई थीं जो भारतीय शासन की उपयोगिता के बारे में कश्मीरियों के मस्तिष्क में बन गया था। एक महत्वपूर्ण लोकप्रिय स्तर का आंदोलन जम्मू–कश्मीर मुक्ति मोर्चा रूप में सामने आया। इस संगठन के पाकिस्तान के साथ मज़बूत संपर्क थे। एक ऐसे संगठन के रूप में इस मोर्चे ने कश्मीरियों के लिए पाकिस्तान में शामिल होने के लिए आत्म–निर्णय के अधिकार की माँग की।

1980 के दशक में दो महत्वपूर्ण विकास दृष्टिगोचर हुए। इनका कश्मीर में होने वाले विकासों पर प्रभाव पड़ा। पहला था – अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप जिसके कारण अमेरिका द्वारा पाकिस्तान में स्थित अफगान विद्रोहियों (मुजाहिदीन) को भारी मात्रा में हथियारों की आपूर्ति की जाने लगी। दूसरा विकास था कश्मीर के संबंध में पाकिस्तानी कार्यनीति में परिवर्तन। अमेरीकियों द्वारा अफगानों को की जा रही हथियारों की आपूर्ति का कश्मीर में चारों ओर प्रभाव पड़ा। इसे सीधे संघर्ष के स्थान पर विद्रोह में बदलने की पाकिस्तान की रणनीति में परिवर्तन से जोड़ा गया।

घुसपैठ और विद्रोह कश्मीर पर पाकिस्तान की रणनीति में एक लंबा प्रतिरूप रहा है। 1965 के युद्ध से पहले पाकिस्तान ने इस प्रक्रिया का प्रयोग किया था और उसे इसमें थोड़ी सफलता भी मिली। 1965 और 1971 में शक्ति के प्रयोग द्वारा समस्या को सुलझाने में असफल रहने के कारण उसे इस रणनीति को बदलना पड़ा। अब घुसपैठ ने हल्के किस्म के संघर्ष का आकार ले लिया। स्थानीय कानून और व्यवस्था की स्थिति को शक्तिहीन करने तथा क्षेत्र में अनिश्चितता उत्पन्न करने के प्रयास रोज़मर्रा की रणनीति बन गए। घाटी से कश्मीरी पंडितों को बड़े पैमाने पर प्रस्थान इसी दीर्घकालिक रणनीति का हिस्सा था।

इस पाकिस्तानी कार्यनीति को मानव अधिकार उल्लंघन के नए राग अलापने से सहारा मिला। नब्बे के दशक के प्रारंभ में, मानव अधिकार उल्लंघन के प्रति चिंता ने अकस्मात् नवीन स्वीकृति प्राप्त कर ली। बोस्निया, चेचन्या और अन्य जगहों पर अकस्मात् ही सारी दुनिया मानव अधिकारों के प्रति संवेदनशील हो गई। कश्मीर में भी, बहुत जल्दी ही आत्मनिर्णय के पुराने रूप (नमूने) की जगह मानव अधिकार उल्लंघन के नए रूप ने ले ली। अचानक ही, कश्मीर की स्थिति का लगभग पूरी तरह से मानव आयाम के दायरे में विश्लेषण किया जाने लगा। भारतीय सेनाओं द्वारा मानव अधिकारों के उल्लंघन का स्थल पर सर्वेक्षण किए जाने की माँग की जाने लगी। यह माँग इस्लामी सम्मेलन संगठन (ओ.आई.सी) और इसके बाद यूरोपीय शक्तियों द्वारा की गई। भारत सरकार को पर्याप्त रूप से राज़ी किया गया कि समस्या की निगरानी करने के लिए वह अपना खुद का एक राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग बनाए। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को यह स्वीकारने में कई वर्ष लगे कि आतंकवादी इकाइयाँ भी मानव अधिकारों का उल्लंघन करती हैं और उल्लंघन की जिम्मेदारी केवल सरकार की नहीं हो सकती।

1999 में पाकिस्तान द्वारा कारगिल में घुसपैठ करने के ऊपर भारत और पाकिस्तान में संघर्ष छिड़ गया। क्या मुजाहिदीनों और पाकिस्तानी फौज़ों द्वारा नियंत्रण रेखा को पार करना कश्मीर पर लिए गए सतत् दृष्टिकोण की तार्किक पराकाष्ठा थी? क्या यह पाकिस्तान द्वारा किए गए निर्धारण का प्रतिनिधित्व कर रहा था कि नियंत्रण–रेखा को पार करके सीधा दबाब डालने और कश्मीर समस्या सुलझाने के लिए भारत को बाध्य करने का यह उपयुक्त समय था? इस पाकिस्तानी साहसिक कार्य के लिए अनेकों स्पष्टीकरण दिए जा सकते हैं। पहला यह कि पाकिस्तान ने यह निर्धारण कर लिया होगा कि कश्मीर की प्राप्ति के बारे में अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ऐसा कार्य करने के लिए यह समय सर्वथा उपयुक्त था। भारत में राजनीतिक अनिश्चितता और भारत में राजनीतिक परिदृश्य के आर–पार मतैक्य का स्पष्ट रूप से अभाव भी एक कारण हो सकता है। दूसरा स्पष्टीकरण यह दिया जा सकता है कि यह निर्धारण आतंकवादी गुटों की सक्रिय सहभागिता पर आधारित सैन्य और गुप्तचर विभाग को निर्धारण हो सकता है। इस बात की पर्याप्त संभावना थी कि नागरिक सरकार इस निर्णय के लागू होने के पश्चात इसमें दबाववश शामिल की गई थी। अगर यह सच है तो इससे यह पुष्टि होती है कि पाकिस्तानी राजनीति को स्वरूप सेना, नागरिक प्रतिष्ठित प्रतिनिधि गुप्तचर इकाइयों और इस्लामी समूहों द्वारा शासित है। पाकिस्तानी प्रधानमंत्री द्वारा कारगिल कार्रवाई में अपनी सरकार के शामिल होने की लगातार अस्वीकृति पूरी तरह सत्य नहीं हो सकती। ऐसी कार्रवाइयाँ सरकार (जिसमें सेना भी शामिल है) की जानकारी और सहभागिता के बिना नहीं हो सकतीं। परंतु उनका यह कथन इस ओर भी संकेत करता है कि उनका पाकिस्तानी सेना और कारगिल में आतंकवादी गुटों के ऊपर बहुत कम नियंत्रण है। इतिहास साक्षी है कि ऐसे समूहों के सर्जक धीरे–धीरे उनको नियंत्रित करना बंद कर देते हैं क्योंकि उनमें अपने खुद के संवेग अथवा बल होने की प्रवृत्ति होती है।

कारगिल घटनाक्रम के दौरान अंतर्राष्ट्रीय आम राय पाकिस्तान के पक्ष में नहीं रही। इस मामले में पाकिस्तान का पुराना और विश्वासपात्र मित्र राष्ट्र चीन भी तटस्थ बना रहा और उसने पाकिस्तान को भारत के साथ वार्ता करने तथा स्वयं

पर नियंत्रण रखने की सलाह दी। पाकिस्तानी प्रधानमंत्री, अमेरिका को भी अपने पक्ष में नहीं कर सके। प्रधानमंत्री शरीफ का अमेरिकी दौरा भी लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ। अमेरिका ने पाकिस्तान को नियंत्रण रेखा से अपनी सेनाएँ हटाने और भारत के साथ बातचीत शुरू करने के लिए कहा। संयोगवश भारत पाकिस्तानी घुसपैठ को रोकने में सफल रहा।

9.4.3 परमाणु समीकरण

भारत और पाकिस्तान द्वारा 1998 में किए गए परमाणु परीक्षणों ने दोनों सरकारों द्वारा की गई इन कार्रवाइयों के तर्काधार और आशयों पर काफी वाद–विवाद पैदा किया। अधिकांश वाद–विवाद इस कार्रवाई के सुरक्षा विचारों, क्षेत्रीय खतरे के आयामों और आंतरिक राजनीतिक बाध्यताओं पर केंद्रित थे।

भारतीय वक्तव्य पाकिस्तान और चीन से मिली धमकियों पर केंद्रित था जबकि पाकिस्तान ने भारत को लक्ष्य बनाया। भारत द्वारा किए गए परीक्षणों के बारे में उठाए गए मुख्य प्रश्न 'क्यों ' और 'अब क्यों' श्रेणी के थे। वाद–विवाद के अंतर्गत विश्लेषण के लिए दो अलग–अलग नमूनों का प्रयोग किया गया। प्रथम नमूने (उदाहरण) में सुरक्षा तर्काधार और दूसरे में विकासात्मक तर्काधार का प्रयोग किया गया। प्रथम नमूने पर आधारित चर्चाएँ क्षेत्रीय व्यवस्था से अनुभव की गई धमकियों पर केंद्रित थीं। जैसी कि पाकिस्तान और चीन द्वारा अभिव्यक्त की गईं। राजनीतिक स्तर पर धमकियों के स्वरूप और इनसे निपटने के तरीकों के बारे में स्थितियाँ प्रत्येक राजनीतिक दल में भिन्न–भिन्न थीं। पाकिस्तानी परीक्षणों के मामले में उत्तर अधिक विशिष्ट होंगे। इसमें वे भारत को केंद्रीय अपराधी ठहराएँगे। इसके अतिरिक्त, दोनों मामलों में अत्यधिक प्रबल आतंरिक राजनीतिक बाध्यताएँ होंगी। चूंकि अब परीक्षणों ने परमाणु हथियार सामर्थ्य (अथवा वास्तविक हथियार प्रस्थिति) को पुष्ट कर ही दिया है तो यह मान लेना बेहतर है कि राष्ट्रों ने परमाणु क्षमता प्राप्त करने संबंधी न्यूनतम अभिलाषाओं को प्राप्त कर लिया।

भारत द्वारा मई 1998 में किए गए परमाणु परीक्षणों ने प्रौद्योगिकीय और राजनीतिक सामर्थ्य को प्रदर्शित किया। प्रौद्योगिकीय सामर्थ्य उन उन्नत प्रौद्योगिकियों तक पहुँच की अस्वीकृति के संदर्भ में था जिनका अनुभव भारत ने पिछले कई वर्षों में किया। राजनीतिक सामर्थ्य ने जी–7 शासन प्रणाली का प्रभार लेन की अभिजात वर्ग की राजनीतिक इच्छा को दर्शाया गया। प्रत्याशित प्रतिबंधों के बावजूद स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता का यही पुनःदृढ़कथन परमाणु परीक्षण को तृतीय विश्व के पुनरुत्थान का प्रतीक बनाता है। भारत और पाकिस्तान द्वारा किए गए परीक्षणों के स्तर पर, भारत और पाकिस्तान के दृष्टिकोण सामान्य थे। इसी स्तर पर दोनों ने अपने–अपने दृष्टिकोणों में सामान्यतः प्रदर्शित की।

भारतीय परमाणु सिद्धांत की रूपरेखा का प्रारूप 17 अगस्त 1999 में जारी किया गया इसमें भारत की सुरक्षा के बारे में निर्णय लेने में स्वायत्तता के लिए तर्क प्रस्तुत किया। यह दीर्घ स्थापित भारतीय विचारधारा को प्रस्तुत करता कि सुरक्षा भारत की विकास प्रक्रिया का अभिन्न हिस्सा है। इसमें शांति और स्थायित्व के संभावित व्यवधान के प्रति चिन्ता व्यक्त की गई है और इसके बाद विकास के लक्ष्य को सुनिश्चित करने के लिए प्रतिरोध करने की क्षमता सृजित करने की जरूरत को व्यक्त किया गया है। यह तर्क भी दिया गया है कि विश्वव्यापी परमाणु निरस्त्रीकरण नीति के अभाव में भारत के सामरिक हितों को प्रभावपूर्ण विश्वसनीय प्रतिरोध की जरूरत है यह "पहले प्रयोग न करने के सिद्धांत' है और परमाणु संबंधी निर्णय लेने पर असैनिक नियंत्रण को जारी रखे हुए है।

भारत और पाकिस्तान के बीच परमाणु प्रतिरोध की उपयोगिता (किसी भी स्तर पर) अब भी अस्पष्ट हो सकती है। लेकिन कारगिल संघर्ष ने एक ऐसी सीमा–रेखा ("काँच की छत" यह शब्द नारीवाद की शब्दावली से लिया गया है) प्रस्तुत की जिसके परे दोनों शक्तियाँ अपने संघर्षों को बढ़ा नहीं पाएँगी। नियंत्रण रेखा के रूप में भारत इस दहलीज से बंधा हुआ था और इसे अमेरिका तथा चीन द्वारा भी पाकिस्तान पर आरोपित किया गया था। थोड़े समय में परंपरागत सुरक्षा विचारों के बीच अंतर को स्पष्ट करना होगा जिसमें एक ओर सीमा–संघर्ष और आंतरिक सुरक्षा समस्याएँ आती है। तथा दूसरी ओर परमाणु कार्यनीतियाँ शामिल हैं। अतः 1985 की परमाणु वार्ता को पुनः प्रारंभ करने की जरूरत है जिसमें एक–दूसरे के परमाणु प्रतिष्ठानों पर हमला न करने पर सहमति बनाई गई थी। अब इसमें "पहले प्रयोग न करने की नीति की घोषणा से जोड़ा जा सकता है।

भारत और पाकिस्तान दोनों को अपनी–अपनी अर्थव्यवस्था तथा औद्योगिक वृद्धि के लिए अपने कार्यक्रमों को शांतिपूर्ण प्रयोगों के लिए विकसित करने की जरूरत पर बल देना होगा। इसमें दोनों देशों को उन्नत प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण के लिए विकसित विश्व के साथ सौदे बाज़ी करनी होगी। प्रौद्योगिकियों के दोहरे प्रयोग पर प्रतिबंधों की धमकी और परस्पर वार्ता के लिए सीमितता ने भारत और पाकिस्तान, दोनों के लिए यह जरूरी बना दिया है कि वे विकसित देशों के साथ सौदे के लिए अपने–अपने संसाधनों को एकत्रित करें।

9.4.4 वार्ता

दोनों देशों के बीच वार्ता करने के विभिन्न प्रयासों तथा उनकी सफलता और असफलताओं को विशेष रूप से देखना होगा।

भारत और पाकिस्तान ने सीमा युद्धों के बाद दो महत्वपूर्ण संधियों पर हस्ताक्षर किए। ताशकंद समझौता (1966) जिसमें भारत के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खाँ दोनों मिले। यह समझौता कश्मीर विवाद को ठंडा करने में तो सफल रहा लेकिन समस्याओं का समाधान न कर पाया। शिमला समझौते (1976) में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी और विदेश मंत्री जुल्फिकार अली भुट्टो (जो बाद में पाकिस्तान के प्रधानमंत्री बने) के बीच बातचीत हुई।

ऐसे कई अन्य अवसर भी आए जब इन दोनों देशों के नेताओं को अपने–अपने विचारों का आदान–प्रदान करने का मौका मिला। इनमें से एक अवसर सार्क या गुटनिरपेक्ष आंदोलन शिखर बैठकें थीं। ऐसी बैठकें अक्सर शिखर बैठकों के पार्श्व में आयोजित की जाती है।

लाहौर में (1999) में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ के बीच और आगरा (2001) में वाजपेयी की राष्ट्रपति जनरल परवेज़ मुशर्रफ के साथ हुई हाल की बैठकों से संभवतः हम सभी परिचित ही हैं। लाहौर बैठक के बाद दिल्ली और लाहौर के बीच बस सेवा का उद्घाटन हुआ और लाहौर घोषणा पर हस्ताक्षर किए गए जिसमें भारत–पाक समस्याओं के प्रति द्विपक्षीय दृष्टिकोण के सिद्धांत को पुनः दोहराया गया और आगरा वार्ता किसी उल्लेखनीय निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सकी। सन् 2003 में प्रधानमंत्री वाजपेयी ने एक बार फिर पाकिस्तान के साथ वार्ता की इच्छा व्यक्त की। उनकी इस पहल से संसदीय प्रतिनिधिमंडलों के बीच परस्पर विचार–विनिमय हुआ और दोनों देशों के बीच अनौपचारिक बातचीत शुरू हुई।

भारत और पाकिस्तान दोनों ने कुछ सामान्य उत्तर–औपनिवेशिक विरासतों का आदानप्रदान किया। दोनों ने बहुवादी समाजों की समस्याओं का सामना किया और राजनीतिक तथा आर्थिक आधुनिकीकरण के स्तर पर अपने प्रयासों में सामंती प्रवृत्तियों के प्रतिरोध पर काबू पाया। सामाजिक–राजनीतिक महापरिवर्तनों को स्थान देने के लिए दोनों ने अपनी–अपनी राजनीतिक संस्थाओं से बहुत ज्यादा काम लिया। यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसा आभास होता है कि भारतीय प्रयोग समय के परीक्षण में टिके रहे। और राजनीतिक संस्थाओं के समक्ष जो माँगे रखी गईं वे उनका सामना कर पाने में समर्थ रहे। दूसरी ओर, स्थायित्व की खोज में पाकिस्तान अब तक अपनी संस्थाओं के साथ प्रयोग कर रहा है।

9.5 भारत और दक्षिण एशिया के अन्य राष्ट्र

9.5.1 ढाँचा

ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों ने दक्षिण एशिया की छोटी नीतियों की ओर भारत के दृष्टिकोण को प्रभावित किया। दो महत्वपूर्ण विरासतों को भारतीय विचारधारा ने आगे बढ़ाया। इनमें से एक है छोटी शक्तियों की सुरक्षा संबंधी ज़रूरतों की देखभाल करना भारत का दायित्व है। सुरक्षा के संदर्भ में यह दायित्व 'विस्तारित सीमांत' अथवा ''रक्षा परिमाप' के संदर्भ में जाना जाता है। इसका अभिप्राय यह सुनिश्चित करना है कि इन देशों में बाहरी हस्तक्षेप न हो। दूसरा, भारत कुछ अपवादस्वरूप विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, इन देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं चाहता। ये परिस्थितियाँ सुरक्षा विचार हैं जैसा कि भारत द्वारा स्पष्ट किया गया। उदाहरण के लिए, बांग्लादेश के निर्माण के बाद, भारत की स्थिति हमेशा ऐसी रही है कि इन राज्यों की सुरक्षा और अखंडता भारत का महत्वपूर्ण राष्ट्रहित होगा।

9.5.2 नेपाल

- भारत की नेपाल देश के प्रति नीति निम्नलिखित तर्को द्वारा निर्धारित की गई है – (i) नेपाल की भू–राजनीति उसे भू–बद्ध देश बनाती है जो भारत व चीन के बीच स्थित है। भारत की ओर से नेपाल तक पहुँचना अपेक्षाकृत आसान है। (ii) ऐतिहासिक तौर पर, दोनों देशों का सुरक्षा बोझ सामान्य है। (iii) दोनों देशों के बीच की संस्कृतियों में काफी हद तक साम्य है। नेपाल न केवल गौतम बुद्ध का जन्म स्थान है बल्कि विश्व में एकमात्र हिंदू राज्य भी है।

द्विपक्षीय संबंधों के परिमाप उन दो संधियों के संदर्भ में परिभाषित हुए जिन पर भारत और नेपाल ने 1950 में हस्ताक्षर किए : एक थी शांति और मित्रता की संधि; तथा दूसरी व्यापार और वाणिज्य संधि। पहली संधि सुरक्षा व्यवस्था की थी जिसे सीमा पार चीन की संभावित चेतावनी के फलस्वरूप ध्यान में रखा गया। इससे नेपाल की सुरक्षा से संबंधित मामलों पर भारत और नेपाल के बीच घनिष्ठ सहयोग बनाऔर इस प्रकार यह सुनिश्चित किया गया कि नेपाल चीन के प्रभाव में न आए। दूसरी संधि ने नेपाल के साथ व्यापार और पारगमन व्यवस्था प्रदान की। इस संधि की शब्दावली वर्षों तक हुई कई चर्चाओं के बाद (अधीन की) बनी। चूँकि यह संधि दस वर्ष की थी जिसका नियमित रूप से नवीकरण होना था, ऐसे में विचार–विमर्श करना महत्वपूर्ण था। इस संधि की शब्दावली शब्द–चयन में 1971 में एक प्रमुख परिवर्तन हुआ। 'पारगमन की स्वतंत्रता के स्थान पर ''पारगमन के अधिकार' को रखा गया। जनता सरकार के शासन काल में

जो अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन आया वह था इस संधि को अलग–अलग संधियों में विभाजित किया गया जिनमें से एक व्यापार से संबंधित थी तथा दूसरी पारगमन से।

1970 के दशक में नेपाल अपनी विदेशी नीति में मूलतः एक नए दृष्टिकोण के साथ आगे आया। नेपाल ने 1975 में एक औपचारिक घोषणा में नेपाल के क्षेत्र के लिए शांति का क्षेत्र स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव के अंतर्गत शांति, गुटनिरपेक्षता और शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की नीति पर अटल रहने की इच्छा व्यक्त की गई। इस नीति का केंद्रीय लक्ष्य नेपाली प्रभुसत्ता और अपनी पहचान का पुनःदावा करना प्रतीत है जिसके विषय में उन्हें भय था कि कहीं वह भारतीय प्रभुत्व में विलीन न हो जाए।

भले ही यह प्रस्ताव नेपाल की विदेश नीति के लक्ष्य में आज भी विद्यमान है, लेकिन भारत ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसके बजाय भारत समूचे दक्षिण एशिया को शांति का क्षेत्र बनाए जाने का पक्षधर है।

नेपाल में लोकतंत्र की बहाली का आंदोलन 1980 के दशक में प्रारंभ हुआ। संवैधानिक राजतंत्र प्रदान करने के लिए 1990 में नए संविधान का सृजन लोकतंत्र की बहाली में एक स्वागत–योग्य कदम था। इंग्लैंड की भाँति 1990 से नेपाल संसदीय लोकतंत्र वाला संवैधानिक राजतंत्र है।

नेपाल के प्रति भारतीय रुख कई कारकों से संबद्ध है। इनमें से एक चीन के प्रति नेपाल के रवैये से जुड़ा है। नेपाल ने सीमाओं के नज़दीक भवन–निर्माण के ठेके चीनी कंपनियों को दिए हैं। नेपाल ने चीन से कुछ युद्ध सामग्री भी खरीदी है। वास्तव में आसूचना के आदान–प्रदान के लिए चीन और नेपाल के बीच कथित समझौता भारत के लिए एक संवेदनशील मामला है। पाकिस्तानी आतंकवादी संगठनों की नेपाल में निबंध पहुँच की आशंका से भी भारत चिंतित है। नेपाल से इंडियन एयरलाइंस के एक हवाई जहाज का अपहरण इस बात का एक उदाहरण मात्र है कि आई.एस.आई. भारत के विरुद्ध आतंकवादी गतिविधियों के संचालन के लिए नेपाल का इस्तेमाल कर रही है। नेपाल भारत को एक प्रबल/प्रभावी पड़ोसी मानता है और वह चीन के साथ कुछ संधि प्रस्ताव करके संतुलन बनाए रखना चाहता है। नेपाल ने भारत के साथ "विशेष संबंध" को व्यापक रूप से स्वीकार किया है। सुदृढ ऐतिहासिक और सामाजिक–सांस्कृतिक संपर्क यह सुनिश्चित करते हैं कि ये संबंध आगे भी कायम रहेंगे। फिर भी, नेपाल अपने आर्थिक/ व्यापार संबंधी मुद्दों पर भारत की ओर से और ज्यादा आर्थिक लचीलेपन की इच्छा रखता है।

9.5.3 भूटान

भूटान हिमालय क्षेत्र का एक छोटा राज्य है। यह प्रभुता संपन्न देश है, हालांकि दोनों देशों की परस्पर सहमति से भारत अपने छोटे पड़ोसी देश की सुरक्षा से संबद्ध है। भारत और भूटान 1949 की द्विपक्षीय संधि के अनुसार मैत्रीपूर्ण संबंधों को स्थापित किए हुए हैं। भारत भूटान का ऐसा मार्गदर्शन करता है जिससे कि विदेशी संबंधों के मामले में भूटान भारत का मार्गदर्शन माँग सके। भारत और भूटान, दोनों 'सार्क'' के संस्थापक सदस्य हैं और सार्थक द्विपक्षीय तथा बहु–पक्षीय व्यापार संबंधों को संवर्धित करने की इच्छा रखते हैं।

दोनों देश गुटनिरपेक्ष की नीति के जरिए एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। भारत–चीन संघर्ष या नेपाल अथवा बांग्लादेश के संबंध में भूटान किसी का भी पक्ष नहीं लेता। बांग्लादेश को भारत द्वारा मान्यता दिए जाने से पहले ही भूटान ने उसे मान्यता प्रदान कर दी थी।

9.5.4 बांग्लादेश

1971 में पाकिस्तानी सेना द्वारा तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान के लोगों के शोषण के परिणामस्वरूप बांग्लादेश की आज़ादी की लड़ाई में भारत ने सक्रिय रूप से भाग लिया। भारत स्वतंत्रता के बाद पूर्वी और पश्चिम पाकिस्तान के रूप में सामने आई 'दो सीमांत चेतावनी' को भी समाप्त करना चाहता था। 1972 की भारत बांग्लादेश मैत्री संधि नए राष्ट्र की सुरक्षा और अखंडता में भारत की रुचि को सुदृढ करने का प्रयास थी। संधि के अंतर्गत यह व्यवस्था की गई कि दोनों देश एक–दूसरे के विरुद्ध किए जाने वाले सैनिक गठबंधनों में न तो प्रवेश करेंगे या न ही भाग लेंगे। हालांकि भारत–बांग्लादेश संबंधों में यह सद्भावना दीर्घकाल तक नहीं चल पाई।

1972 और 1975 के बीच भारत के बांग्लादेश के साथ संबंध काफी अच्छे रहे। बांग्लादेश ऐसा देश था जिसे भारत सर्वाधिक सहायता प्रदान कर रहा था। भारत ने पाकिस्तान के साथ काफी लंबे समय से लंबित विभिन्न सरहदों (सीमा रेखा) के सीमांकनों को भी अंजाम दिया। इन समझौते में बिना क्षतिपूर्ति के बांग्लादेश के विभिन्न बंगाली मुसलमानों को शामिल करने का भी उल्लेख किया गया था। बाद में 1982 में भारत "सदैव के लिए" बांग्लादेश को तीन बीघा गलियारा पट्टे पर देने को सहमत हुआ। किंतु भारतीय संसद द्वारा यह तीन बीघा गलियारा पट्टे पर देने के लिए संविधान संशोधन करने से मना करने के कारण यह समझौता लागू नहीं हो पाया। 1975 में शेख मुजीबुर्रहमान की हत्या के बाद भारत के बांग्लादेश के साथ संबंध बिगड़ गए।

भारत और बांगलादेश के बीच विवाद के तीन महत्वपूर्ण मुद्दे रहे हैं। एक मुद्दा फरक्का बांध की समस्या, दूसरा नव मूर या पुरबाशा द्वीप का मुद्दा है और तीसरा सीमा पार से बांग्लादेशी (विशेष तौर पर चकमा शरणार्थियों की) घुसपैठ का प्रश्न है।

फरक्का बांध के निर्माण का कार्य 1962 में शुरू हुआ। इस परियोजना का लक्ष्य गंगा से लेकर हुगली तक जल को दूसरी दिशा में मोड़ना था ताकि कलकत्ता बंदरगाह की सफाई करके उसे गाद–रहित किया जा सके। तत्कालीन पाकिस्तानी सरकार को इस पर आपत्ति थी क्योंकि इससे पूर्वी पाकिस्तान के क्षेत्र में जल संकट पैदा हो जाता। 1972 में भारत और बांग्लादेश संयुक्त नदी आयोग बनाने के लिए सहमत हुए किंतु फरक्का बांध पर हुई वार्ताएँ निरंतर असफल रहीं। 1978 में दोनों देशों के बीच जल बंटवारे को लेकर सहमति हो पाई और एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। लेकिन पाँच वर्ष के बाद यह समझौता समाप्त (संचेम) हो गया। 1996 में गंगा जल के बंटवारे पर भारत और बांग्लादेश के बीच 30 वर्षों के लिए एक संधि हुई। इस संधि के अनुसार, इस अवधि के दौरान दोनों देश एक–दूसरे की जल की जरूरतों का ध्यान रखेंगें।

1981 में भारतीय नौसेना ने नव मूर द्वीप पर दावा पेश प्रस्तुत करते हुए कहा कि यह गंगा डेल्टा के मुख में निकल रहा है। यही दोनों देशों के बीच झगड़े का मूल कारण बना। यह द्वीप बांग्लादेश द्वारा तलपट्टी और पश्चिम बंगाल द्वारा पुरबाशा कहलाता है। और यहाँ जनजीवन नहीं है। इसे माध्य रेखा के सिद्धांत के आधार पर सुलझाया जा सकता है। भारत द्वारा अपने उत्तर–पूर्वी हिस्सों में बंगलादेशियों की घुसपैठ रोकने के लिए सीमा पर बाढ़ लगाने के प्रयास पर भी बांग्लादेश ने आपत्ति व्यक्त की। इसके अतिरिक्त, भारत में चकमा शरणार्थियों के आने से भी दोनों देशों के बीच सीमा तनाव आए।

9.5.5 श्रीलंका

श्रीलंका की अपनी भू–राजनैतिक स्थिति के लाभ एवं हानियाँ, दोनों ही हैं। इसे सागर में स्थित द्वीप होने का लाभ यह है कि यह सामरिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। लेकिन इसे नुकसान यह है कि क्षेत्र में यह एक छोटी शक्ति है जो अत्यधिक शक्ति (सत्ता) प्रतिद्वंद्विता का सामना कर रही है। इसके अतिरिक्त भारत इसका प्रभावी पड़ोसी है। भारत का मामला तो और भी जटिल है क्योंकि श्रीलंका के उत्तर और उत्तर–पूर्वी क्षेत्र में काफी बड़ी संख्या में तमिल अल्पसंख्यक हैं जिनका भारत के तमिलों के साथ घनिष्ठ संपर्क है। भारत भी श्रीलंका द्वारा प्रायोजित हिंद महासागर शांति के क्षेत्र की संकल्पना का समर्थक रहा है। यह संकल्पना भारत को महाशक्ति की प्रतिद्वंद्विता के कार्यक्षेत्र से बाहर रखने में मदद करती है। दोनों देश राष्ट्रमंडल, सार्क और गुटनिरपेक्ष आंदोलन (नेम) के सदस्य हैं।

इंडोनेशिया की स्वतंत्रता (1949) स्वेज़ संकट (1956), निरस्त्रीकरण इत्यादि जैसे मुद्दों पर भारत और श्रीलंका की दृष्टि एक समान है। दोनों देशों ने शांति क्षेत्र प्रस्ताव का समर्थन किया और हिंद महासागर तटवर्ती क्षेत्र संगठन के रूप में हिंद महासागर समुदाय बनाने का प्रयास भी किया। द्विपक्षीय स्तर पर दोनों देशों ने इन दोनों अहम मुद्दों को हल किया। 1964 में तमिल प्रवासियों की नागरिकता के प्रश्न पर एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। गए और 1974 में समुद्र तटवर्ती सीमा समझौता लागू हुआ। लेकिन तमिलों से संबंधित प्रश्न दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय संबंधों में निरंतर समस्याएँ पैदा कर रहा था। 1981 में तमिल बहुल क्षेत्र जाफना प्रांत में दंगे–फसाद शुरू हुए। शुरू में भारत ने आत्मसंयम दर्शा कर अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। हालांकि भारत को तमिल आंदोलन के प्रति सहानुभूति थी लेकिन इसने तमिल ईलम के रूप में अलग राज्य की उनकी माँग का समर्थन करने से इनकार कर दिया। 1987 में भारत और श्रीलंका ने दूरगामी परिणामों वाले एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। भारत ने तमिलों और श्रीलंका सरकार के बीच शांति के लिए मध्यस्थता की और समझौते को लागू करने के लिए वहाँ भारतीय शांति सेना भेजने को सहमत हुआ। इस समझौते से श्रीलंका के उत्तर और उत्तर–पूर्वी तमिल बहुल क्षेत्रों को स्वायत्तता मिली। लेकिन, श्रीलंका की अंदरूनी राजनीति और तमिल समूहों के भीतर विभाजन के कारण यह समझौता लागू नहीं हो सका। भारत को दोनों ओर से आलोचना का सामना करना पड़ा। भारतीय शांति सेना के कई लोग हताहत हुए। अंततः भारत ने 1990 में अपनी शांति सेना को वापस बुला लिया। आजकल तमिल समूहों, विशेष रूप से लिबरेशन टाईगर्स ऑफ तमिल ईलम (एल.टी.टी.ई.) और सरकार के बीच वार्ता कराने में नॉर्वे 'फेसिलिटेटर' की भूमिका निभा रहा है। 2003 तक, श्रीलंका के तमिल व्यापक स्वायत्तता को स्वीकार करने और द्वीप में शांति रखने के हित में ईलम की माँग छोड़ने के इच्छुक प्रतीत हो रहे हैं।

9.5.6 मालदीव

मालदीव हिंद महासागर में एक छोटा–सा गणराज्य है। भौगोलिक रूप से भारत और श्रीलंका से सटे होने के कारण मालदीव दक्षिण एशियाई देश के रूप में मान्य है। भारत की ही तरह यह भी सार्क का संस्थापक–सदस्य है। इसने क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने में काफी रुचि दिखाई। मालदीव अपनी राजधानी माले में सार्क के दो शिखर सम्मेलन आयोजित करने में अत्यधिक सफल रहा तथा इसने दक्षिण एशियाई व्यापार मुक्त क्षेत्र साफ्टा स्थापित करने के लिए कदम उठाए। सन 1986 में जब विद्रोह में युवा सैनिक अधिकारियों के एक समूह द्वारा लोकतांत्रिक रूप से चुने गई सरकार के राष्ट्रपति अब्दुल गय्यूम का तख्ता उलटने का प्रयास किया गया तब भारत मालदीव के राष्ट्रपति की सहायता

के लिए तत्काल गया और राज–विद्रोह के प्रयास को विफल करने में उसकी मदद की। राष्ट्रपति गय्यूम की नागरिक सरकार पुनः सत्ता में आई और भारत मालदीव के संबंध तब से और अधिक मजबूत हुए हैं।

इंदिरा गांधी के शासनकाल से ही दक्षिण एशिया की छोटी शक्तियों की ओर से भारत की नीति को स्पष्ट रूप से देखा गया है। भारत क्षेत्रीय लोकतंत्रों का समर्थन करता है, उन्हें प्रोत्साहित करता है और रक्षा, व्यापार एवं विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में विविध समझौतों सहित अनेकों क्षेत्रीय और द्विपक्षीय समझौतों के जरिए अपनी क्षेत्रीय प्रमुखता को बनाना चाहता है। भारत के साथ मेल–मिलाप के रास्ते में अभी भी कई कठिनाइयाँ आ रही हैं जिनका कारण क्षेत्र में विभाजन और अविश्वास की भावना की प्रधानता है। क्षेत्र के जनसाधारण में छोटी शक्तियों का बोलबाला है जो पहचान (अस्मिता) और स्वतंत्रता की भावना को पुनः प्राप्त करने के लिए अपने मतभेदों को दृढ़तापूर्वक जारी रखे हुए है।

9.6 सार्क का गठन

1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में बांग्लादेश के राष्ट्रपति जिया–उर–रहमान ने क्षेत्रीय आर्थिक संगठन स्थापित करने का समर्थन करने के लिए सभी दक्षिण एशियाई देशों का दौरा किया था। नवंबर 1980 में उन्होंने विभिन्न दक्षिण एशियाई देशों को "दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग पर कार्य–पत्र भेजा। इसके बाद भारतीय और अन्य दक्षिण एशियाई सरकारों को बांग्लादेश के विदेश मंत्रालय से कार्य–पत्र और इसके स्पष्टीकरण का एक पत्र आया। बांग्लादेश का प्रस्ताव दक्षिण एशिया में प्रस्तुत किए जाने वाले मंच के उद्देश्यों के बारे में स्पष्ट था। इसका संस्थागत ढाँचा गुटनिरपेक्ष के लिए प्रतिबद्ध सहभागी राज्यों के अनुरूप था। इस प्रस्ताव में क्षेत्र में द्विपक्षीय समस्याओं को दबाने की सजगता दर्शायी गई। इस प्रकार यह इस दिशा में आगे बढ़ना चाहता था। सहयोग के लिए पहचाने गए क्षेत्र गैर–राजनीतिक और गैर–सुरक्षा प्रकृति के थे। वे दूरसंचार, पर्यटन, कृषि, परिवहन, मौसम विज्ञान इत्यादि जैसे मुद्दों को शामिल करना चाहते थे।

मुख्य मुद्दा प्रस्ताव के राजनीतिक निहितार्थ थे। शक्ति (सत्ता) की मौजूद विषमता को संबोधित किया जाना था। एक महान शक्ति द्वारा आधिपत्य के संस्थापन के रूप में संस्थावाद की संभावना से बचने की जरूरत थी। इसके साथ यह सुनिश्चित करने की भी संगत ज़रूरत थी कि छोटी शक्तियाँ अपेक्षाकृत बड़ी शक्ति के विरुद्ध एकत्रित न हों। वस्तुतः यह समान शक्तियों वाले देशों के बीच संबंध बनाने का एक ऐतिहासिक प्रस्ताव था। प्रस्ताव का लक्ष्य द्विपक्षीय मुद्दों का क्षेत्रीकरण नहीं था। इसमें सहयोग के ऐसे क्षेत्रों की पहचान करने की इच्छा व्यक्त की गई जिनका स्वरूप वास्तव में क्षेत्रीय था। प्रक्रिया को नियंत्रित करने वाला मुख्य शब्द था "परस्पर हित–लाभ" यद्यपि इसमें किसी भी निश्चित समय सीमा का प्रस्ताव नहीं था, फिर भी आशा की गई कि इस विषय पर वार्ता शुरू करने के लिए यह प्रस्ताव केंद्र बिंदु होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि निर्णय मतैक्य अर्थात् सर्वसम्मति पर आधारित होगा। बांग्लादेश का मानना था कि एक बार विश्वास और सहयोग का माहौल बन जाने पर द्विपक्षीय समस्याओं को द्विपक्षीय रूप से सुलझाना आसान होगा। "आसियान' द्वारा ऐसा ही प्रदर्शित किया गया थी।

इस प्रस्ताव के बाद दक्षिण एशियाई देशों के विदेश सचिवों के साथ अनेक बैठकें हुईं। भारत और पाकिस्तान दोनों की ओर से अड़ियल शुरुआत के बाद वार्ताएँ आगे बढ़ीं। अंततः 1983 में दक्षिण एशियाई देशों के विदेश मंत्रियों की पहली बैठक नई दिल्ली मे आयोजित की गई। इस बैठक में दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग (एस.ए.आर. सी) पर घोषणा प्रस्तुत की गई और इस घोषणा पर हस्ताक्षर करने वाले देश थे बांग्लादेश, भूटान, भारत, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका। इस घोषणा में विदेश सचिवों की विभिन्न बैठकों के दौरान जिन विषयों पर विचार किया गया उन्हें पर्याप्त रूप से दर्शाया गया। घोषणा में दक्षिण एशियाई राज्यों के बीच द्विपक्षीय विवाद के सभी मुद्दों तथा एक क्षेत्र के रूप में दक्षिण एशिया जिन समस्याओं का सामना कर रहा है उन सभी को नज़रअंदाज किया गया। एक तरह से घोषणा में बांग्लादेश के प्रस्ताव की भावना का अनुसरण था। उद्देश्यों को गैर–राजनीतिक और गैर–सुरक्षा क्षेत्र से सहयोग की सीमाओं में रखा गया। घोषणा में सम्प्रभु समानता, प्रादेशिक एकता और अखंडता, आंतरिक मामलों में अ–हस्तक्षेप और परस्पर हितलाभ के सिद्धांतों को स्वीकार किया गया। इसमें विशेष रूप से यह उल्लेख किया गया कि सभी निर्णय सर्वसम्मति के आधार पर लिए जाएँगे और द्विपक्षीय एवं विवादास्पद मुद्दों को विचार–विमर्शों में स्थान नहीं दिया जाएगा।

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग (एस.ए.आर.सी) सार्क घोषणा में सहयोग के नार्डिक उदाहरण का अनुसरण किया गया। नॉर्डिक देशों के बीच सहयोग का आधार त्रिस्तरीय था : (i) "सांविधानिक दृष्टिकोण का; (ii) यह समझना कि सहयोग के लिए राष्ट्रीय संरचना अपरिवर्तनीय राजनीतिक आधार रहेगी जो सापेक्षिक रूप से कम राजनीतिक विषयों के क्षेत्रों की ओर निर्दिष्ट होगी; और (iii) क्षेत्रीय सहयोग में से राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे "उच्च राजनीतिक विषय को क्षेत्रीय सहयोग से बाहर रखना।

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग (एस.ए.आर. सी) घोषणा के बाद विदेश मंत्रियों के स्तर पर वार्ताएँ जारी रहीं। अंततः 1985 में ढाका में प्रथम शिखर बैठक में दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग – सार्क का गठन किया गया। सार्क चार्टर (अधिकार पत्र) में दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग (एस.ए.आर.सी) घोषणा के सभी निर्णायक तत्वों को रहने दिया गया।

इसने नए संगठन को गैर–राजनीतिक और गैर–सुरक्षा के क्षेत्र के भीतर ही रखा और सहयोग के लिए वृद्धिवादी दृष्टिकोण को रहने दिया गया।

सार्क अधिकार पत्र (चार्टर) में शामिल लक्ष्य हैं – दक्षिण एशिया के लोगों के कल्याण को बढ़ावा देना और उनके जीवन स्तर को सुधारना; आर्थिक वृद्धि को तेज़ करना, सामाजिक प्रगति और सांस्कृतिक विकास; सामूहिक आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देना और मज़बूत करना; परस्पर विश्वास और आपसी समझ के लिए योगदान देना; आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्रों में सक्रिय सहयोग और आपसी मदद को बढ़ावा देना। चार्टर में निम्नलिखित सिद्धांत भी निर्दिष्ट किए गए हैं – प्रभुसत्तासम्पन्न समानता के सिद्धांत का आदर करना, प्रादेशिक एकता और अखंडता, राजनीतिक–स्वतंत्रता, आंतरिक मामलों और परस्पर हितलाभ के मामलों में हस्तक्षेप न करना। इस सहयोग का स्थान कोई नहीं लेगा बल्कि यह द्विपक्षीय और बहुपक्षीय सहयोग का अनुपूरक था और द्विपक्षीय और बहुपक्षीय बाध्यताओं (दायित्व) के परस्परविरोधी नहीं था। इस चार्टर में दो महत्वपूर्ण सामान्य प्रावधान थे। ये प्रावधान महत्वपूर्ण हैं। एक, निर्णय सर्वसम्मति के आधार पर लिए जाएँगे; तथा दूसरा, द्विपक्षीय एवं विवादास्पद मुद्दों को विचार–विमर्शो से बाहर रखना।

पहला सार्क शिखर 1985 में ढाका में हुआ। कुछ द्विपक्षीय मुद्दों के संक्षिप्त हवाले के बावजूद यह शिखर सम्मेलन विवादों से मुक्त रही। यह सुनिश्चित करने के सुविचारित प्रयास किए गए कि सार्क के उद्घाटन के समय ही सार्क का गठन किसी विवाद के घेरे में न आए। 1986 में बैंगलौर में हुए दूसरे शिखर सम्मेलन में व्यापक आधार पर सहयोग के प्रयास को जारी रखने की इच्छा व्यक्त की गई। कुछ आपसी झगड़े पुनः उठे। भारत और पाकिस्तान के बीच द्विपक्षीय मुद्दे अप्रत्यक्ष संदर्भो में उभरे। भारत और नेपाल भी चर्चा का विषय बने। सकारात्मक पक्ष के रूप में बैंगलौर शिखर में काठमांडू में स्थायी सचिवालय बनाने का निर्णय लिया गया। 1987 के काठमांडू शिखर के दौरान दक्षिण एशिया में आतंकवाद को कुचलने (समाप्त करने) पर हस्ताक्षर करने की एक साहसपूर्ण पहल की। यह पहली बार था जब "राजनीतिक मुद्दा सार्क के विचार–विमर्श का हिस्सा रहा। इन राष्ट्रों ने शपथ ली कि वे अपने सदस्य देशों में नागरिक विरोध या आतंकवादी गतिविधियों को संगठित करने, उकसाने या भाग लेने से बचेंगे/दूर रहेंगे। किंतु, सम्मेलन में प्रत्यर्पण सुविधाएँ प्रदान नहीं की गई। सार्क ने दक्षिण एशियाई खाद्य सुरक्षा भंडार और सार्क श्रव्य–दृश्य आदान–प्रदान कार्यक्रम भी स्थापित किए। काठमांडू शिखर में सार्क विचार–विमर्शों में मुद्रा, वित्त, बैंकिंग और व्यापार जैसे मुद्दों को शामिल करने की संभावना पर भी चर्चा हुई। 1988 में इस्लामाबाद में हुआ चौथा शिखर सम्मेलन भारत के लिए विशेष रूप से महत्व का रहा क्योंकि इससे पाकिस्तानी धरती पर दोनों देशों भारत और पाकिस्तान के प्रधानमंत्रियों को एक–दूसरे के साथ सीधी बातचीत करने का अवसर मिला। इस्लामाबाद शिखर में "सार्क 2000" नामक क्षेत्रीय योजना तैयार करने का सुझाव था ताकि आवास, शिक्षा और साक्षरता की बुनियादी ज़रूरतें प्रदान की जा सकें। शिखर सम्मेलन में अध्ययन के लिए "ग्रीन हाउस प्रभाव" के पर्यावरणी मुद्दों को भी उठाया गया। इसमें नशीले पदार्थों के विरुद्ध लड़ने की भी माँग की गई। इस्लामाबाद का सम्मेलन अपने कार्यमूलक कार्यक्रमों के लिए तथा दक्षिण एशिया में लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रसार के लिए जाना जाता है।

1989–90 की अवधि में सार्क को सहयोग की प्रक्रिया में कुछ अस्थिरताओं का सामना करना पड़ा। सार्क प्रारंभिक वर्षो में जो चौतरफा रुचि और उत्पाद जाग्रत कर पाया था वह पाँचवाँ शिखर सम्मेलन आयोजित किए जाने की अनिश्चितता के कारण बिगड़ गया। श्रीलंका द्वारा भारत–श्रीलंकाई द्विपक्षीय मुद्दे पर शिखर सम्मेलन कराने के अड़ियल रवैये के कारण सार्क की प्रगति की राह में गंभीर बाधाएँ आईं। श्रीलंका में भारतीय शांति सेना की उपस्थिति के मुद्दे को उठाया गया जिससे इसका वार्षिक शिखर सम्मेलन नहीं हो पाया। श्रीलंका सरकार के निमंत्रण पर भारतीय शांति सेना को श्रीलंका भेजे जाने के बावजूद, यह मुद्दा झगड़े का मूल कारण बनी। आखिरकार 1989 का सम्मेलन नहीं हुआ और पाँचवा शिखर सम्मेलन 1990 में माले में आयोजित किया गया। श्रीलंकाई प्रसंग एक प्रकार की मिसाल बन गया। आगामी वर्षो में सापेक्षिक रूप से गौण कारणों से ही वार्षिक शिखर सम्मेलन या तो रद्द हो गए या फिर स्थगित हो गए।

1990 का माले शिखर सम्मेलन मालदीव में शासन–परिवर्तन के प्रयास के पृष्ठ पट में हुआ। मालदीव में लोकतंत्र वापस लाने में भारत ने मालदीव की मदद की। माले शिखर सम्मेलन का प्रमुख परिणाम था नशीले पदार्थों और मनःप्रभावी पदार्थों पर सम्मेलन के लिए हस्ताक्षर करना। इसमें सार्क नेताओं ने यूरोपीय संघ और आसियान के साथ वार्ता की पहल करने का निर्णय भी लिया।

छठा शिखर सम्मेलन 1991 में कोलंबों में हुआ। शिखर के लिए तैयारियाँ कुछ राजनीतिक झगड़ों की साक्षी थीं। श्रीलंका खुद उत्तर के तमिल क्षेत्रों में आंतरिक राजनीतिक अशांति का सामना कर रहा था। शिखर बैठक की तिथियों पर मतैक्य के अभाव ने इन अनिश्चितताओं को और भी जटिल बना दिया। आखिरकार दिसंबर 1991 में यह सम्मेलन होना तय हुआ। श्रीलंका ने अंतरा–क्षेत्रीय व्यापार के उदारीकरण पर चर्चा से शिखर सम्मेलन की शुरुआत की। श्रीलंका के राष्ट्रपति ने एक साक्षात्कार (इंटरव्यू में कहा कि उनके दक्षिण एशिया में अधिमान्य व्यापार प्रणाली विकसित करने के

प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया है। 1991 को कोलंबों से लेकर 1993 के ढाका शिखर सम्मेलन की अवधि में व्यापार का आविर्भाव सार्क का केंद्रीय विषय रहा।

1993 में ढाका में हुई सातवीं शिखर बैठक में चरणबद्ध दृष्टिकोण के माध्यम से जितनी जल्दी संभव हो सके उतनी जल्दी व्यापार के उदारीकरण की जरूरत का पुनःसमर्थन किया गया। सार्क अधिमान्य व्यापार पर समझौता इस दिशा में पहला कदम था। अधिमान्य व्यापार व्यवस्था क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण की प्रथम और संभवतः सबसे नरम रूप है। इस समझौते का लक्ष्य सार्क राज्यों के बीच विभिन्न कटौतियों (छूटों) के आदान–प्रदान से उनमें परस्पर व्यापार और आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना तथा उसे बनाए रखना था। नई दिल्ली शिखर बैठक (दसवाँ, 1995) में यह चर्चा आगे बढ़ी।

1997 में हुआ दसवाँ शिखर सम्मेलन सभी क्षेत्रों में आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने से संबद्ध था। नेताओं ने "साफ्टा" की प्रगति पर संतोष व्यक्त किया और वर्ष 2001 तक मुक्त व्यापार का लक्ष्य प्राप्त करने की जरूरत पर बल दिया। भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 1998 में कोलंबों में हुए दसवें सार्क शिखर सम्मेलन में कुछ प्रमुख व्यापार रियायतों की घोषणा की। अन्य साथी सार्क देशों के विशेष संकेत के रूप में भारत ने प्राथमिकता के आधार पर 2000 से भी अधिक उत्पादों पर आयात प्रतिबंध हटाने की घोषणा की। भारत उन देशों के साथ द्विपक्षीय मुक्त व्यापार समझौते पर विचार करने का भी इच्छुक था जो तीव्रता से आगे बढ़ने के इच्छुक थे। अक्तूबर 1999 में पाकिस्तान में सैनिक विद्रोह के मद्देनज़र और लोकतंत्र के विभाजित होने से भारत ने अगले शिखर सम्मेलन में भाग लेने से इंकार कर दिया। इसलिए 1999–2001 के दौरान कोई भी शिखर बैठक नहीं हुई। काठमांडू में 2002 में हुई ग्यारहवीं शिखर बैठक में व्यापार संबंधों पर लगातार चर्चा होती रही। लेकिन, तब फिर जनवरी 2003 में इस्लामाबाद के लिए प्रस्तावित अगली शिखर बैठक नहीं हो सकी क्योंकि भारत ने इसमें भाग लेने की अनिच्छा ज़ाहिर की थी। इस दौरान, मुक्त व्यापार की उपलब्धि/वृद्धि की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई।

9.7 सारांश

दक्षिण एशिया अनेक ऐसे मुद्दों से जूझता प्रतीत होता है जिन पर क्षेत्र में उद्गम–क्रम पर होने वाली बहस में प्रमुखता से चर्चा की जाती है। एक अर्थ में ये मुद्दे समांतर तर्कवितर्कों के रूप में चलते हैं, लेकिन दक्षिण एशिया की जानकारी प्राप्त करने के लिए इन मुद्दों को समायोजित करने की अत्यंत आवश्यकता है।

(क) शक्ति के प्रयोग की वैधता और आधिपत्य का प्रश्न : दक्षिण एशिया का पारंपरिक रूप से क्षेत्रीय राज्य प्रणाली के ढाँचे के अंतर्गत विश्लेषण किया जाता रहा है। इस दृष्टिकोण के अनुसार भारत को क्षेत्रीय आधिपत्य के रूप में, पाकिस्तान को सौदाकार या सहभागी राज्य के रूप में, क्षेत्र की लघु शक्तियों को बाह्य पराश्रितों और क्षेत्र से अतिरिक्त हितों को चौथे घटक के रूप में माना जाता है। राष्ट्रीय हित को सुरक्षित रखने के लिए आधिपत्य और शक्ति के प्रयोग के लिए भी अप्रत्यक्ष अथवा निहित मान्यता थी। श्रीलंका में 1987 में और 1989 में मालदीव में हुई भारतीय कार्रवाइयाँ इस वैधता का प्रतीक थीं। आज जो प्रश्न उठाया जाता है वह यह है कि क्या आधिपत्य का यह पुराना मॉडल अब पुराना हो गया है? या, आधिपत्य किस मात्रा तक स्वीकार्य होगा और अगर यह कोई रूप लेगा तो वह क्या होगा?

(ख) द्विपक्षीयता का मुद्दा : दक्षिण एशिया में व्यवस्था की समस्या का समाधान भारत और पाकिस्तान द्वारा विकसित किए जाने वाले संबंध के स्वरूप पर निर्भर है। क्षेत्र की दो निर्णायक शक्तियों के रूप में ये दोनों देश क्षेत्र में व्यवस्था और स्थिरता बना अथवा नष्ट कर सकते हैं। इन दो शक्तियों के बीच का संबंध दो भिन्न–भिन्न विश्वदृ ष्टियों द्वारा शासित रहा है। भारत ने अतिरिक्त–क्षेत्रीय हस्तक्षेपों का विरोध किया है और द्विपक्षीयता का एक दृ ष्टिकोण के रूप में समर्थन किया है। दूसरी ओर, पाकिस्तान ने अतिरिक्त–क्षेत्रीय हितों का प्रयोग भारतीय आधिपत्य के प्रति विरोध के रूप में भारत पर दबाव डालने के लिए किया है, और इस प्रकार दक्षिण एशियाई मुद्दों पर वाद–विवाद में अतिरिक्त–क्षेत्रीय सहभागिता का संवर्धन किया है।

(ग) तीसरा आयाम है सिविल समाज के परिप्रेक्ष्य से व्यवस्था का प्रश्न। यह वाद–विवाद तीन विचारों के इर्द–गिर्द घूमता है। पहला है – आर्थिक विचारों के माध्यम से राज्य केन्द्रस्थता का टूट जना; दूसरा, एक "सहभागी राज्य के विकास का मुद्दा; और तीसरा, एक सामन्यै सभ्यता, बंधने का प्रश्न है। सिविल समाज भिन्नता और विविधता की मान्यता पर आधारित है। सिविल समाज उदारवाद अथवा लोकतंत्र के समान नहीं है; और आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था भी सिविल समाज के लिए गारंटी नहीं है। लेकिन सिविल समाज; उदारवाद और लोकतंत्र को वांछनीय बनाता है। एक सहभागी राज्य" विकसित करने के पक्ष में दलील दी जाती है, जहाँ समाज के वर्गों को अपेक्षाकृत अधिक सोपानिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत बहिष्कृत वर्गों को अपेक्षाकृत अधिक सहभाग होने की अनुमति है। इस प्रकार, लोकनीति संवाद, परामर्श और बातचीत का उत्पाद होती है। एक विचार दक्षिण एशियाई संभ्रांत वर्ग के नज़रियों पर धर्म, संस्कृति, इतिहास की भूमिका के इर्द–गिर्द भी केंद्रित रहता है। क्या दक्षिण एशिया का कोई सामान्य सभ्यता बंधन है? यदि सैद्धांतिक/राजनीतिक अड़चनें कम कर

दी जाएँ और लोगों, सूचनाओं तथा विचारों का मुक्त प्रवाह हो तो क्या हम दक्षिण एशिया की एक सामान्य सामाजिक नैतिकता की बात कर सकते हैं?

9.8 अभ्यास

1. दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय राज्य प्रणाली की क्या विशेषताएँ हैं?
2. भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद के मुख्य मुद्दों की चर्चा कीजिए।
3. 1972 के शिमला समझौते की मुख्य विशेषता क्या है?
4. भारत के परमाणु सिद्धांत की महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. भारत–नेपाली संबंधों पर टिप्पणी लिखिए।
6. भारत–बांग्लादेश संबंधों में क्षोभजनक मुद्दे क्या हैं?
7. द्वीपीय गणतंत्र (श्रीलंका) में तमिल मूल के लोगों के विशेष संदर्भ सहित भारत–श्रीलंका संबंधों की चर्चा कीजिए।
8. सार्क की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। इसका भविष्य क्या है?

इकाई–10

भारत और दक्षिण–पूर्वी एशिया

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 प्राकृतिक संसाधन

10.3 विदेश नीति के निर्धारक तत्व

10.4 समकालीन इतिहास

10.5 जापान का विजय अभियान

10.6 शीत युद्ध का काल

10.7 भारत और आसियान

10.8 व्यापार और निवेश

10.9 बिमस्टेक

10.10 सुरक्षा सहयोग

10.11 सारांश

10.12 अभ्यास

10.1 प्रस्तावना

दक्षिण–पूर्वी एशिया में दस देश शामिल हैं। ये देश हैं – बर्मा (म्याँमार), ब्रुनेई, कंबोडिया, इंडोनेशिया, लाओस, मलेशिया, फिलीपीन्स, सिंगापुर, थाईलैंड और वियतनाम। ये सब देश आसियान के सदस्य हैं। बर्मा (म्याँमार) की समुद्री और स्थलीय सीमाएँ भारत के साथ सटी हुई हैं जबकि थाईलैंड, इंडोनेशिया और इस क्षेत्र के अन्य देशों की समान समुद्री सीमाएँ हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये हमारे निकटस्थ पंड़ोसी हैं जिनके साथ हमारे संबंध बहुत प्राचीन काल से हैं। फनान, चंपा, कांबोज, पागान, द्वारबती, श्रीविजय और मजापहित आदि प्राचीन दक्षिण–पूर्वी राज्यों का इतिहास हमारे घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंधों का साक्षी है। इन देशों की कला, पुरातत्व, काव्य और भाषा में इतनी समानताएँ हैं कि उनके उद्‌भव और विकास को उनके भारतीय पक्षों को जाने बिना सही परिप्रेक्ष्य समझना संभव नहीं है। अशोक महान ने बर्मा, थाईलैंड, लाओस और कंबोडिया के क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सोना और उत्तरा नामक दूतों को भेजा था। इन देशों ने बौद्ध धर्म को अपना राज्य धर्म घोषित किया। आज भी हिंदू धर्म का प्रभाव उनकी अपनी संस्कृति और धर्म पर स्पष्ट दिखाई देता है। मलय लोगों ने इस्लाम को अपना धर्म स्वीकार कर लिया लेकिन जावा के मुसलमानों ने अभी तक हिंदू धर्म की परंपराओं का परित्याग नहीं किया है। उनमें से कुछ आज भी सर्वात्मवाद में विश्वास करते हैं और वे अनेक नामों से कई आत्माओं की पूजा करते हैं। बाली के समाज पर हिंदू धर्म का वर्चस्व है और दक्षिण–पूर्व एशिया के सभी भागों में बौद्ध धर्म के अनुयायियों की बड़ी संख्या है।

मलाक्का, सुंदा और लॉम्बोक प्रमुख समुद्री मार्ग हैं जो पूर्वी एशिया को शेष जगत से जोड़ते हैं। सिंगापुर, मलेशिया और थाईलैंड औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देश हैं। सिंगापुर का प्रभावी सेवा क्षेत्र वित्त, हवाई सेवा, कंप्यूटर और पोत परिवहन में अग्रणी है। दक्षिणपूर्वी एशिया के मुख्य भूभाग पर विभिन्न पर्वत श्रृंखलाएँ और नदियाँ हैं। ये नदियाँ उत्तर से दक्षिण की ओर प्रवाहित होती हैं और उनमें से अधिकांश का उद्‌गम स्थल तिब्बत है। मुख्य नदियों में मेकांग नदी लाओस, थाईलैंड, कंबोडिया और वियतनाम में से गुज़रती है। अन्य नदियाँ हैं – बर्मा में इरावदी, चिदांविन और सालवीन; थाईलैंड में मेनाम चाओ फ्राया; वियतनाम में साँग कोई (लाल नदी) और सांग बो (काली नदी)। ये नदियाँ अपने साथ नियमित रूप से जलोढ़ मृदा लाती हैं और ज़मीन को उपजाऊ बनाती हैं। इन नदियों के द्वारा सबसे अधिक उर्वर क्षेत्र निम्न (लोअर) बर्मा, केंद्रीय थाईलैंड और टांगकिंग और मेकांग डेल्टा हैं। थाईलैंड और वियतनाम विश्व के सबसे बड़े चावल निर्यात करने वाले देश हैं। इस इकाई में दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों के सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक विशेषताओं के विभिन्न पक्षों की परीक्षा की गई है।

10.2 प्राकृतिक संसाधन

दक्षिण–पूर्वी एशियाई क्षेत्र को प्राकृतिक संसाधनों की अकूत धन–संपदा प्राप्त है। यह क्षेत्र विश्व के प्राकृतिक रबर का 90 प्रतिशत, टिन का 50 प्रतिशत, विश्व के नारियल का 75 प्रतिशत, पाम ऑयल का 55 प्रतिशत और टंगस्टन का 20 प्रतिशत उत्पादन करता है। इंडोनेशिया और फिलीपीन्स में सोने की खाने और बर्मा (म्यांमार) तथा कम्बोडिया में रुबी

की खाने हैं। दक्षिण–पूर्वी एशिया में सभी जगहों पर इमारती लकड़ी और अन्य कठोर लकड़ी उपलब्ध हैं। इंडोनेशिया, वियतनाम, मलेशिया, बर्मा और दक्षिणी चीन के समुद्र में तेल के भंडार हैं।

दक्षिण–पूर्वी एशिया के देशों की भूमि बहुत उपजाऊ है। इस क्षेत्र में चावल, गन्ना, मक्का, पपीता और केले की भरपूर फसल होती है। यह क्षेत्र महत्वपूर्ण मछली–पालन क्षेत्र है। यहाँ की मृदा प्रायः जलोढ़ है और यहाँ की जलवायु उष्णकटिबंधी है। इस क्षेत्र की प्रकृति स्वभाव से उर्वर है। यहाँ तक कि पहाड़ों की चोटियों पर भी सब्ज़ियाँ उगाई जा सकती हैं।

10.3 विदेश नीति के निर्धारक तत्व

भारत दक्षिण–पूर्वी एशिया के देशों के साथ अच्छे पड़ोसियों के संबंध विकसित करने को बहुत महत्व देता है। 1991 से भारतीय राजनय की नीति 'पूर्व की ओर देखो' की रही है। इसमें भी विशेष ध्यान दक्षिण–पूर्वी एशियाई राष्ट्रों के संघ आसियान' के साथ संबंधों को सुधारने और साथ ही व्यापार, निवेश, पर्यटन, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के संबंधों को बढ़ावा देने पर रहा है। उपनिवेशकाल में जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संबंध खराब हो गए थे उन्हें पुनर्जीवित करने की भारतीय नीतियाँ आरंभ की गईं। अतीत में शीत युद्ध की स्थिति ने बहुत से द्विपक्षीय संबंधों के मामलों में भारत को किसी प्रकार की कार्रवाई करने से रोके रखा। लेकिन शीत युद्ध के समाप्त होने के बाद परिस्थिति बदल गई है। हमारे आर्थिक, सांस्कृतिक और सामरिक संपर्कों को पुनर्जीवित करने के लिए कई प्रकार की पहल की गई। आसियान देशों के साथ सकल द्वि–पक्षीय व्यापार में 1998–99 में 5.98 अरब डॉलर से 2002–2003 में 7.98 अरब डॉलर की वृद्धि हुई है। इससे भविष्य में पर्याप्त वृद्धि की संभावना दिखाई देती है।

शीत युद्ध के दौरान आसियान देशों से निवेश बहुत कम था। उसमें धीरे–धीरे वृद्धि हो रही है तथा दोनों ही ओर से विश्वास दिखाई देने लगा है। पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न पैकेज आरंभ किए गए थे। अब पर्यटन का क्षेत्र केवल बोधगया के बौद्धों के धार्मिक स्थलों तक सीमित नहीं रह गया है। भारत आसियान क्षेत्र के देशों से निवेश को आकर्षित करना चाहता है और वे उदारीकरण तथा मुक्त व्यापार के पक्ष में हैं। आसियान देश भारत की सद्भावना के बदले यहाँ से व्यापार में रुचि लेने को तैयार हैं। वे भारत के विशाल बाज़ार के महत्व को समझते हैं क्योंकि भारत में लाखों मध्यम वर्ग के लोग विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त, उनके भारत के साथ समान ऐतिहासिक, धार्मिक और सुरक्षा संबंधी हित हैं। दोनों ही पक्ष और अधिक लोकतंत्रीकरण, उदारीकरण और मुक्त व्यापार की नीति के समर्थक हैं। दोनों उग्रवाद और आतंकवाद के विरोधी हैं। साथ ही, दोनों मानव अधिकारों का सार्वभौम रूप से आदर करने के पक्ष में भी हैं।

10.4 समकालीन इतिहास

भारत और आसियान देशों का उपनिवेशीकरण और वि–उपनिवेशीकरण का इतिहास लगभग एकसमान है। यूरोप के उपनिवेशवादी देशों में आसियान और भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर कब्ज़ा करने की होड़–सी लगी हुई थी। इंग्लैंड ने भारत, बर्मा, मलाया, श्रीलंका, सिंगापुर और ब्रुनेई को अपना उपनिवेश बनाया, डच लोगों ने इंडोनिशिया को अपना उपनिवेश बनाया और फ्रांसीसी शासकों ने वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया को जिन्हें 'हिंद–चीन' के नाम से जाना जाता था, अपने अधिकार में ले लिया। बाद में स्पेन और अमेरिका ने फिलीपीन्स को अपना उपनिवेश बनाया। शताब्दियों के उपनिवेशीकरण के बाद उपनिवेश विरोधी संघर्ष आरंभ हुआ।

दक्षिण–पूर्व एशिया के बहुत बड़े भूभाग को भारतीय उपमहाद्वीप का हिस्सा समझा जाता था जिस पर उन्होंने मनमाने ढंग से कब्ज़ा कर लिया था। भारतीय लोगों को यह समझाया गया कि यदि उपनिवेशीकरण समाप्त हो गया तो बहुत–से भारत से अलग हुए हिस्से फिर से भारत में मिल जाएँगे। एकता बनाए रखने की इच्छा के बावजूद भारत का विभाजन हो गया और माउंटबेटन योजना के अंतर्गत इसे अपने पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्र का बहुतसा भाग खोना पड़ा। इन दोनों हिस्सों को मिलाकर पाकिस्तान कहा गया, जो बाद में 1971 में और विभाजित होकर दो राज्यों में परिवर्तित हो गया। इन दोनों राज्यों को पाकिस्तान और बांग्लादेश नाम दिया गया। फिर भी राष्ट्रीय नेताओं ने उपनिवेशवाद को समाप्त करने के लिए एकसमान रणनीति और संघर्ष के महत्व को समझा। उन्होंने उपनिवेशवाद को समाप्त करने में एक–दूसरे का समर्थन किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने दक्षिण–पूर्व एशिया के विभिन्न देशों के स्वाधीनता के संघर्ष के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करने के लिए नियमित रूप से संकल्प पारित किए। जवाहरलाल नेहरू और रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे प्रमुख भारतीय नेताओं और बुद्धिजीवियों ने उस क्षेत्र की यात्रा की और हमारे सांस्कृतिक, भाषाई एवं धार्मिक संबंधों के बारे में चर्चा की। दूसरी ओर, होची मिन्ह (वियतनाम), सुकर्णो (इंडोनेशिया), तुंकु अब्दुल रहमान (मलाया) और बोग्योके आँग सान (बर्मा) ने इस बात के लिए भारत की प्रशंसा की और उन्होंने औपनिवेशिक शासकों के विरोध में समान एकात्मकता की भावना व्यक्त की।

10.5 जापान का विजय अभियान

द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ में जापानियों का दक्षिण–पूर्वी क्षेत्र की विजयों का अभियान शुरू हुआ। जापान ने थाईलैंड पर कब्ज़ा कर लिया। उसे जून, 1940 में एक सैनिक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बाधित किया और उसके बाद वह

तेज़ी से सैगॉन में आ पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर जापान ने वहाँ के फ्रांसीसी गवर्नर को हिंद–चीन के बंदरगाहों तथा हवाई अड्डों का उपयोग करने के लिए बाधित किया। जापानियों की सैनिक कार्रवाई बहुत ही सतर्कता के साथ की गई थी। अतः उसने दक्षिण–पूर्व एशिया की ब्रिटिश, डच, अमेरिकी और फ्रांसीसी सेनाओं को पराजित कर दिया। जापान ने 'एशिया एशिया वालों का है' का नारा दिया। जापान ने 'सह–समृद्धि' की नीति अपनाई और स्थानीय नेताओं को अपना शासन स्वयं चलाने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार इंडोनेशिया में सुकर्णो को, थाईलैंड में फिबुन सांगग्राम को, बर्मा में बोग्योके आँग सान को और भारत में नेताजी सुभाषचंद्र बोस को अपने–अपने देश में शासन चलाने के लिए तैयार किया।

नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने आज़ाद हिंद फौज का गठन किया और उसका मुख्यालय दक्षिण–पूर्वी एशिया में स्थापित किया गया। इसकी आर्थिक व्यवस्था के लिए मलाया, सिंगापुर, स्याम और बर्मा के भारतीयों को प्रेरित किया गया। जापान सहायता से दक्षिणपूर्वी एशियाई लोगों ने स्वयंसेवकों और आज़ाद हिंद फौज के प्रशिक्षण को पूरा समर्थन दिया। आज़ाद हिंद फौज के स्वयंसेवकों के प्रति दक्षिण–पूर्व एशिया में सहानुभूति और समर्थन इतना गहरा था कि जापान की पराजय के बाद भी उनमें से किसी को जबरदस्ती स्वदेश नहीं भेजा गया। उपनिवेशवाद के बाद की अवधि में आज़ाद हिंद फौज के बहुत बड़ी संख्या में स्वयंसेवकों ने थाईलैंड और सिंगापुर में रुक जाने का फैसला किया।

दक्षिण–पूर्व एशिया पर जापान की विजय ने भारत की सुरक्षा की कमज़ोरी को भी प्रकट कर दिया। इससे ब्रिटिश शासकों के लिए एक बार खतरे की घंटी बज गई और उन्होंने भारत को स्वाधीनता प्रदान करने के संवैधानिक उपायों की खोज के लिए सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। कांग्रेस पार्टी ने ब्रिटिश शासकों को बिना किसी पूर्व शर्त के भारत छोड़ने के लिए कहा। उनका विश्वास था कि भारत की सुरक्षा दक्षिण–पूर्व एशिया की सुरक्षा से जुड़ी है और यदि दक्षिण–पूर्व एशिया का पतन हो जाता है तो भारत का भी वही हश्र होने की पूरी संभावना है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भारत ब्रिटिश उपनिवेश बन गया तभी दक्षिण–पूर्व एशिया का भी उपनिवेशीकरण हो गया। जब कुछ समय दक्षिण–पूर्व एशिया ने मंगोलों के आक्रमण का सामना किया तो भारत पर भी उसका भूराजनीतिक प्रभाव काफी अधिक पड़ा था। आज यदि चीन दक्षिण चीनी समुद्र के प्रत्येक भाग पर अपना क्षेत्रीय अधिकार जताने का प्रयास कर रहा है तो यह दक्षिणपूर्व एशिया और भारत, दोनों के लिए समान रूप से चिंता की बात है। यदि किसी एक क्षेत्र पर संकट आता है तो उससे अन्य क्षेत्रों का प्रभावित होना भी स्वाभाविक है।

10.6 शीत युद्ध का काल

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से पूर्व ही विश्व में शीत युद्ध आरंभ हो गया था। विश्व दो हिस्सों में बँट गया था। एक पश्चिम गुट था, जिसका नेतृत्व अमेरिका के हाथ में था और दूसरा साम्यवादी गुट था जिसका नेता सोवियत संघ (रूस) था। दक्षिण पूर्व एशिया के अधिकांश भाग पर अमेरिका का प्रभाव था। इस क्षेत्र में अमेरिका की पर्याप्त सैनिक शक्ति थी। अमेरिका के पास सूबिक खाड़ी का नौसैनिक अड्डा और फिलीपीन्स का क्लार्क का हवाई सैनिक अड्डा था। इसके साथ ही वियतनाम का कैम रान्ह खाड़ी का नौसैनिक अड्डा, थाईलैंड का सत्ताहिप और यू–तपाओ का नौसैनिक अड्डा और थाईलैंड तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों के कई सैनिक हवाई अड्डे अमेरिका के पास थे। यह सैनिक प्रशिक्षण का प्रमुख स्थान था। दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न भागों में सी.आई.ए. (केंद्रीय गुप्तचर एजेंसी) सक्रिय था। अमेरिका ने 1954 में दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन' (सिएटो) का गठन किया। इस नीति का उद्देश्य साम्यवाद को रोकना था। अमेरिका ने वियतनाम में साम्यवादी आंदोलन के विरुद्ध लड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया था और साम्यवाद को ध्वस्त करने के लिए 1964 से 1975 तक वह सैनिक दृष्टि से लड़ाई में संलग्न रहा। वियतनाम युद्ध में अमेरिका एक मुख्य पक्ष था और इसके विरुद्ध आरोप था कि इसने 1954 के जिनेवा समझौते तथा पेरिस शांति समझौते (1973) का उल्लंघन किया है और उसे नुकसान पहुँचाया है। अमेरिका किसी भी ऐसे समाधान के विरुद्ध था जिससे साम्यवादियों की शक्ति बढ़े।

भारत सिएटो के निर्माण और साम्यवाद को रोकने के अभियान के विरुद्ध था। इसने समाजवादी रुख अपनाया और वियतनाम पर अमेरिका की बमबारी का विरोध किया। यद्यपि भारत ने विश्व–स्तर पर लोकतंत्र और मानव अधिकारों का समर्थन किया, लेकिन इसे अमेरिका के साम्यवाद को रोकने के सिद्धांत की बात समझ नहीं आई। और फिर भारत के पाकिस्तान के साथ संबंध अच्छे नहीं थे, जो सिएटो का सदस्य होने के नाते भारत के विरुद्ध मुहिम में अमेरिका के समर्थन का उपयोग करता था। भारत–पाकिस्तान के 1965 और 1971 के युद्ध में पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध अमेरिका से प्राप्त अधिकांश हथियारों का उपयोग किया। ये शस्त्रास्त्र पाकिस्तान ने सिएटो समझौते के अंतर्गत प्राप्त किए थे। अमेरिका भारत की न्यायसंगत चिंता पर ध्यान देने को भी तैयार नहीं था। यह बात विशेष रूप से बांग्लादेश की आज़ादी के संदर्भ में भारत–पाक युद्ध से संबंधित है। इसी कारण से भारत को 1971 में भारत–रूस मैत्री संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस संधि से अमेरिका और चीन के पाकिस्तान को समर्थन प्रदान करने के विचार पर रोक लगी और इससे भारत–रूस सहयोग की संधि की मज़बूत नींव पड़ी। दूसरी ओर, अमेरिका भारत–रूस संबंधों के दृढ़ होने से परेशान हो उठा। इसने भारत को रूस का पिछलग्गू कहना शुरू कर दिया और निरंतर विश्व–स्तर पर भारत को

अलग–थलग करने का प्रयास आरंभ कर दिया। चूंकि अमेरिका दक्षिण–पूर्वी क्षेत्र में बहुत प्रभावशाली था, इसलिए इसे भारत और वियतनाम को अलग–थलग करने में पर्याप्त सफलता भी मिली।

सन 1978 में वियतनाम के कंबोडिया पर सैनिक आक्रमण के बाद स्थिति बिगड़ गई। वियतनाम ने ख्मेर रोज़ शासन का तख्ता पलट दिया और हैंग सैमेरिन के नेतृत्व में नई सरकार की स्थापना की। भारत उन कुछ देशों में शामिल था जिन्होंने कंबोडिया में वियतनाम द्वारा स्थापित शासन को राजनयिक मान्यता प्रदान की। जापान, चीन, यूरोपीय संघ, अमेरिका और आसियान ने भारत द्वारा मान्यता देने की आलोचना की। इसके अलावा, संयुक्त राष्ट्र ने जनसंहारकारी पॉल पॉट के सत्ताच्युत ख्मेर रोज़ शासन की अपनी मान्यता को जारी रखा।

क्षेत्रीय परिवेश वियतनाम, भारत और रूस के विरुद्ध विवादों से घिरा था। इन देशों को प्रभुत्ववादी शक्तियों के रूप में प्रदर्शित किया जाता था। दूसरी ओर, यद्यपि चीन भी साम्यवादी देश था, किंतु इसे सकारात्मक दृष्टि से चित्रित किया जाता था। चीन के बारे में यह समझा जाता था कि वह प्रभुत्ववादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। चीन ने इस अवसर का अपने पक्ष में उपयोग किया और इसने बर्मा के मार्ग से दक्षिणचीनी समुद्र और हिंद महासागर में अपनी नौसैनिक शक्ति की विद्यमानता को मज़बूत बनाने का प्रयास किया। इसने कोको और हंगाई द्वीपों में अपनी चौकियाँ स्थापित कीं और इस प्रकार हिंद महासागर क्षेत्र में अपनी सामरिक स्थिति मज़बूत की। चीन कभी भी हिंद महासागर में पैर न जमा सका, लेकिन 1978–91 के बीच हुए राजनीतिक और सामरिक विकास ने इसे अपने सामरिक उद्देश्यों की पूर्ति में मदद की। दक्षिण पूर्वी एशिया चीनी रणनीतियों से शीत युद्ध की समाप्ति के बाद ही पूरी तरह से परिचित हो सका। वह 1992 में चीनी सेनाओं के द्वारा फिलीपीन्स के कब्जे वाली मिसचिफ रीफ पर अधिकार करने के बाद ही सचेत हुआ। चीन ने आगे फिर अपनी स्थिति को ज़ोरदार ढंग से प्रस्तुत किया। चीन ने ऐसे चीनी नक्शे प्रकाशित किए जिनमें पूरे के पूरे प्रैटली समूह को अपने प्रभुत्व में दिखाया और इस पर वियतनाम, फिलीपीन्स, मलेशिया और दूसरे देशों के आधिपत्य को अस्वीकार कर दिया।

1991 में सोवियत संघ के विघटन से एक नई विश्व–व्यवस्था का उद्भव हुआ जिसमें अमेरिका के वर्चस्व को स्वीकार किया गया। अमेरिका ने लोकतंत्र, मानव अधिकार, मुक्त व्यापार और पेटेंट कानून लागू करने पर बल दिया। इस प्रकार, नए विषय उभर कर सामने आए जिनके बारे में सामूहिक क्षेत्रीय प्रतिक्रिया की जरूरत थी। बाद में आसियान देशों ने वियतनाम और भारत, दोनों के साथ सहभागिता की आवश्यकता अनुभव की। इसका कारण यह था कि तीसरे विश्व के सभी देशों के भूमंडलीय हित एक–दूसरे के पूरक थे।

10.7 भारत और आसियान

दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों के संघ 'आसियान' का जन्म 1967 में हुआ था। इसका उद्देश्य क्षेत्रीय व्यापार, निवेश और संयुक्त उद्यमों को बढ़ावा देना था। यह क्षेत्रीय सहयोग का केंद्रबिंदु सिद्ध हुआ और इसमें काफी तेज़ी आई। अब यह नए बाज़ारों और निवेश के अवसरों की खोज में लग गया। इसने भारत और वियतनाम को क्षेत्रीय राजनीतिक तथा सुरक्षा परिदृश्य को सशक्त बनने की दृष्टि से पूरक के रूप में देखा। वियतनाम ने उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के उद्देश्य से पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया आरंभ की। दूसरी ओर, भारत ने 1991 में प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हाराव और वित्तमंत्री मनमोहन सिंह के नेतृत्व में आर्थिक उदारीकरण की नीति को स्वीकार किया। भारत में नई सरकार ने भी उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को जारी रखा। भारत ने विदेशी निवेशकों के लिए करमुक्त प्रोत्साहनों की घोषणा भी की। इन नीतियों ने आसियान देशों को भारत के साथ सहयोग को और दृढ़ करने के लिए प्रोत्साहित किया है।

आसियान ने 1992 में भारत को क्षेत्रीय वार्ता सहभागिता की पेशकश की। तदनुसार व्यापार, निवेश, पर्यटन, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इन चार आधारभूत सहयोग के क्षेत्रों की पहचान की गई। यह क्षेत्रीय सहभागिता भारत और आसियान के बीच सांस्थानिक संपर्क स्थापित करने में सहायक हुई। यह सहभागिता इतनी उपयोगी सिद्ध हुई कि आसियान ने दो वर्षों के भीतर 1995 में इस वार्ता को पूर्ण वार्ता का दर्जा दे दिया। इससे आर्थिक, सुरक्षा और राजनीतिक दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में संबंधों को बढ़ाने में सुविधा हुई। आसियान ने भारत को आसियान के मंत्री स्तर के बाद के सम्मेलन में और आसियान क्षेत्रीय मंच में तथा आसियान के सुरक्षा मंच में आमंत्रित किया। बाद में, भारत और आसियान ने परस्पर समान आपसी हितों के बारे में बातचीत आरंभ की।

सहयोग के विभिन्न क्षेत्रों को पर्याप्त विस्तार देने के लिए और सांस्थानिक प्रक्रिया के रूप में कार्य करने के लिए आसियान–भारत सहयोग समिति की स्थापना की गई। साथ ही, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, व्यापार और निवेश, मानव संसाधन विकास, और संस्कृति में सहयोग के क्षेत्रों की पहचान के लिए आसियान और भारत के एक कार्य–दल की भी स्थापना की गई। इन देशों की संयुक्त सहयोग समिति ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में (विशेष रूप से जैव प्रौद्योगिकी और सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी.) में) भारत की विशेषज्ञता की पहचान की। इसके अतिरिक्त खाद्य प्रसंस्करण, स्वास्थ्यरक्षा, कृषि, इंजीनियरींग, इलेक्ट्रॉनिकी, संचार और सेवा क्षेत्र में सहयोग के लिए भी प्रस्ताव पेश किए गए।

'आसियान–भारत सहयोग समिति की बैठक ने व्यापार, पूँजी निवेश, पर्यटन, कंप्यूटर प्रौद्योगिकी, सौर ऊर्जा और पर्यावरण सुरक्षा के क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ाने के लिए "भारत–आसियान निधि ' स्थापित करने का निर्णय किया। यह निधि आसियान सचिवालय के अधिकार में रखी गई। इसकी व्यवस्था संयुक्त प्रबंध समिति द्वारा की जाती थी। संयुक्त सहयोग समिति इस बात के लिए सहमत थी कि एक आसियान–नई दिल्ली समिति गठित की जाए जिसमें आसियान देशों के राजनयिक मिशनों के अध्यक्ष शामिल होंगे। भारत के तत्कालीन विदेश सचिव जे.एन.दीक्षित ने एक छात्रवृत्ति–योजना घोषित की जिसके अंतर्गत प्रत्येक देश विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में छह माह की छह डॉक्टर डिग्री के बाद की फैलोशिप के प्रस्ताव भेज सकता है। भारत और आसियान क्षेत्र ने उच्च योग्यता प्राप्त प्रतिष्ठित विद्वानों की भाषणमालाएँ शुरू कीं जिसके अंतर्गत आसियान के प्रमुख नेताओं और बुद्धिजीवियों द्वारा भारत में तथा भारतीय नेताओं और बुद्धिजीवियों द्वारा आसियान देशों में भाषण दिए गए। यह योजना विदेश नीति और आसियान देशों तथा वार्ता के सहभागियों के बीच विश्वास और आपसी समझ बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई।

10.8 व्यापार और निवेश

आसियान के साथ सहयोग में मुख्य बल आर्थिक पक्ष पर है। भारत की आबादी एक अरब से अधिक है जिसका प्रमुख हिस्सा मध्यम वर्ग का है। चूंकि कई दशकों से भारत का विश्वास समाजवादी विचारधारा और राष्ट्रीयकरण में रहा है, इसलिए इसके आसियान देशों के साथ सीमित संबंध रहे हैं। 1991–92 में जब भारत ने उदारीकरण की नीति को अपनाया तब आसियान देशों को भारत से केवल छह प्रतिशत का निर्यात होता था जो आसियान के विश्व–व्यापार के एक प्रतिशत से भी कम थी। शीत युद्ध काल के बाद स्थिति में परिवर्तन आना शुरू हुआ। सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी), सॉफ्टवेयर, लघु और मध्यम उद्यम तथा ढाँचागत विकास, विशेष रूप से विद्युत उत्पादन, परिवहन और निर्माण के क्षेत्रों में भारत की विशेषज्ञता की सराहना हुई। दक्षिण–पूर्व एशिया की क्षेत्रीय सीमाओं के कुछ क्षेत्रों को वृद्धि क्षेत्र के अंतर्गत योजना में शामिल कर लिया गया। इनमें अंडमान और भारत के उत्तर–पूर्वी भाग भी सम्मिलित थे। यद्यपि अभी तक इन प्रस्तावों को कार्यान्वित नहीं किया जा सका है, लेकिन भविष्य में सहयोग की संभावनाओं को कार्यक्षम बनाया जा रहा है।

भारत और आसियान के बीच व्यापार की कुल बिक्री से और बढ़ते हुए निवेश से आपसी विश्वास की झलक मिलती है तथा घनिष्ठ सहभागिता की और अधिक गुंजाइश दिखाई देती है। थाईलैंड के साथ भारत का व्यापार प्रति वर्ष एक अरब डॉलर तक पहुँच गया है। भारत थाईलैंड को मणि, रत्न, हीरे, कपास और कपड़ा, यूरिया और उर्वरक आदि का निर्यात करता है तथा थाईलैंड से दालों (उड़द और मूंग), रबर, कृत्रिम रेशों और अकार्बनिक रसायनों का आयात करता है।

1994 में भारत और मलेशिया के बीच 77.2 करोड़ डॉलर का द्विपक्षीय व्यापार था, जो अब बढ़कर एक अरब डॉलर से अधिक हो गया है। भारत मलेशिया से पाम ऑयल, पेट्रोल, अपरिष्कृत रबर और गैर–लौह धातुओं का आयात करता है तथा इंजीनियरी सामान, भवन निर्माण सामग्री, कपड़े, धागे, रसायन, औषध निर्माण प्रौद्योगिकी, शीरे, फलों और सब्ज़ियों का निर्यात करता है।

सिंगापुर के साथ भारत का व्यापार जो पहले 4.4 करोड़ डॉलर था, वह 1992 में बढ़कर 1.5 अरब डॉलर हो गया जिसकी वार्षिक वृद्धि दर 10 प्रतिशत है। भारत सिंगापुर से इंजीनियरी सामान, तेल (निकालने में काम आने वाली) रिगे, पाम तेल, कार्बनिक रसायन, शीशे और संचार के उपकरणों का आयात करता है और कपड़ा, मसाले, चारा, अकार्बनिक रसायन, जूट, फलों और सब्जियों का निर्यात करता है। इंडोनेशिया, फिलीपीन्स, वियतनाम, लाओस और कंबोडिया के व्यापार संबंधी आँकड़ों में भी वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई देती है। भारत और बर्मा के बीच तामू–मोरेह सीमा के खुल जाने के बाद से बर्मा भी भारत का एक उभरता हुआ प्रमुख व्यापारिक सहभागी बन रहा है। भारत बर्मा के सैनिक शासन के साथ रचनात्मक सहयोग की नीति पर चल रहा है। भारत बर्मा को आसियान देशों के साथ व्यापार के लिए महत्वपूर्ण प्रवेश–द्वार मानता है। भारत और बर्मा ने 20 मई, 2001 को तामू–कालेग्यो–कलेवा सड़क के रख–रखाव के लिए समझौते (एम.ओ.यू) पर हस्ताक्षर किए। भारत और बर्मा के बीच सहयोग के अन्य क्षेत्रों में शामिल हैं – सित्वे बंदरगाह के उन्नयन से संबंधित बहुविध परिवहन परियोजनाओं को पूरा करना, कालादान नदी में नौचालन की सुविधाओं का विकास करना और बर्मा में कलेवा से भारत–बर्मा सीमा पर मिज़ोरम तक राजमार्ग का विकास करना। भावी सहयोग के क्षेत्रों में सम्मिलित हैं – ऊर्जा से संबंधित परियोजनाएँ जिनमें सौर ऊर्जा, जीवाश्म–ईंधन और जल विद्युत ऊर्जा प्रमुख हैं।

भारत का 1996–97 में बर्मा के साथ व्यापार 77 लाख डॉलर, इंडोनेशिया के साथ 1 अरब 18 करोड़ 6 लाख डॉलर और मलेशिया के साथ 1 अरब 54 करोड़ 4 लाख डॉलर थी। आसियान क्षेत्र को भारत से निर्यात मुख्य रूप से जानवरों का आहार, रूई, चावल, मूंगफली, कृत्रिम रेशा मशीनें और जैव रसायन का था। इस क्षेत्र में मोटर उद्योग के हिस्सों (ऑटो पार्ट्स), इलेक्ट्रॉनिकी के हिस्सों, रेल के उपस्करों, कंप्यूटर और सॉफ्टवेयर, कृत्रिम रेशों के वस्त्रों और कार्बनिक उत्पादों के व्यापार की बहुत संभावनाएँ हैं। इस क्षेत्र में भारत के इस्पात, हर्बल उत्पादों, वस्त्रों और धागे की बहुत माँग है।

हिंद–चीन के देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापार में वृद्धि हो रही है। सन 1997–98 में कंबोडिया के साथ द्विपक्षीय व्यापार 10.3 करोड़ रुपए था। भारत ने मानवीय सहायता के रूप में पाँच लाख रुपए की दवाइयाँ उपहार में दीं और कृषि के

विकास में रुचि प्रदर्शित की। दूसरी ओर, लाओस के साथ द्वि–पक्षीय व्यापार 1996 के 1.3 करोड़ रुपए से बढ़कर 1998 में 2.9 करोड़ रुपए हो गया। कई भारतीय कंपनियों ने लाओस के बाज़ार में अपने उत्पादों की खपत की संभावनाओं का आकलन किया। इन कंपनियों में प्रमुख थीं – किर्लोस्कर, टाटा, बी.एच.ई.एल। किर्लोस्कर ने 1998 में 3 करोड़ डॉलर के सिंचाई के उपयोग के पंपों का निर्यात किया। वियतनाम के साथ द्विपक्षीय व्यापार में 1996–97 के 425.2 करोड़ रुपयों की अपेक्षा 12.5 प्रतिशत की थोड़ी–सी वृद्धि दर्ज की गई। जहाँ तक इंडोनेशिया का संबंध है, द्वि–पक्षीय व्यापार 1996 के 4226.2 करोड़ की तुलना में 4330.3 करोड़ रुपए हुआ। लेकिन फिलीपीन्स के साथ व्यापार में 1998 में पहले की अपेक्षा कमी आई। फिलीपीन्स के साथ भारत का निर्यात पहले के 9 करोड़ डॉलर से 1996–97 में 31.36 प्रतिशत घट गया।

10.9 बिमस्टेक

'बिमस्टेक' अंग्रेज़ी के BIMSTEC का लिप्यंतरित रूप है। BIMSTEC एक परिवर्णी शब्द है जो वस्तुतः बांग्लादेश, इंडिया (भारत), म्याँमार, श्रीलंका और थाईलैंड आर्थिक समूह के अंग्रेज़ी के प्रथम वर्षों से मिलकर बना है। 'बिमस्टेक' वह उप–क्षेत्रीय आर्थिक समूह है, जिसमें बांग्लादेश, भारत (इंडिया), म्याँमार, श्रीलंका और थाईलैंड देश शामिल हैं। यह अपने ढंग का पहला समूह है जिसमें आसियान के दो सहभागी देश, तीन दक्षिण एशियाई देशों के साथ आर्थिक सहयोग के हिस्सेदार हैं। सन 1998 में स्थापना के बाद इस वर्ग ने संचार, ढाँचागत संरचना, ऊर्जा, व्यापार और निवेश, पर्यटन तथा मछलीपालन जैसे सहयोग के महत्वपूर्ण क्षेत्रों की पहचान कर ली थी। इस कार्य के लिए प्रत्येक देश ने समन्वयन की विशिष्ट जिम्मेदारी अपने ऊपर ली है। इसके विचाराधीन प्रमुख परियोजनाएँ हैं – एशियाई संपर्क राजमार्ग, एशियाई रेलवे नेटवर्क और प्राकृतिक गैस पाइप लाइन ग्रिड। बंगाल की खाड़ी के निकटवर्ती देशों से गठित 'बिमस्टेक' समूह का उद्देश्य इस क्षेत्र के विशाल प्राकृतिक और मानव संसाधनों की क्षमता का उपयोग करना

बिमस्टेक आर्थिक सहयोग समूह ने व्यापार, निवेश और आर्थिक सहयोग से संबंधित उच्चस्तरीय विचार–विनिमय को बढ़ावा देने के लिए सदस्य देशों के निजी और सरकारी क्षेत्र की भागीदारी द्वारा एक आर्थिक मंच प्रदान करने का प्रयास किया है। इसमें वस्त्र और कपड़ा उद्योग, औषधियों तथा औषध निर्माण विज्ञान, रत्न और आभूषण आदि का काम, बागवानी (उद्यान विज्ञान), और पुष्प–कृषि के उत्पादों तथा सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विचारों के आदान–प्रदान पर विशेष बल दिया गया है। 'बिमस्टेक' प्रक्रिया में निजी क्षेत्र की भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए एस्केप ने मार्च, 1998 में एक विशेषज्ञ समूह की बैठक आयोजित की। इस बैठक में बिमस्टेक के पाँचों सदस्यदेशों के अस्सी प्रतिभागियों ने भाग लिया। इस बैठक में निजी क्षेत्र से आग्रह किया गया कि वह आर्थिक क्षेत्र में सहयोग को प्रोत्साहित करने के लिए प्रमुख भूमिका निभाए। इस बैठक के अंत में कुछ सामान्य तथा कुछ विशिष्ट सिफारिशें प्रस्तुत की गईं।

'बिमस्टेक' का एक चैम्बर ऑफ कॉमर्स (वाणिज्य मंडल) स्थापित किया गया और यह निश्चय किया गया कि आर्थिक सहयोग की पहलों के कार्यान्वयन के लिए अनुवर्ती कार्रवाई के रूप में 'बिमस्टेक' के आर्थिक और व्यापार मंत्रियों की वार्षिक बैठकें की जाएँगी। 'बिमस्टेक' की एक प्रवर आर्थिक अधिकारियों की समिति की भी स्थापना की गई। विभिन्न क्षेत्रों की जिम्मेदारियों की पहचान की गई। उनसे सहयोग के लिए इन जिम्मेदारियों को पाँच देशों में निम्नलिखित प्रकार से निर्धारित किया गया :

बांग्लादेश इंडिया (भारत) थाईलैंड म्यॉमार

(बर्मा) श्रीलंका : व्यापार और निवेश : प्रौद्योगिकी : परिवहन और संचार

ऊर्जा : पर्यटन और मछली–पालन

यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक मंत्री इस बात से सहमत थे कि 'बिमस्टेक' को मुक्त व्यापार समझौता करने और उसे कार्यान्वित करने का लक्ष्य रखना चाहिए। भविष्य में सहयोग के लिए ऊपर बताए गए पाँच क्षेत्रों में कुछ नए उप–क्षेत्र जोड़ दिए गए। ये उप–क्षेत्र निम्न प्रकार से हैं :

(1) रबर, कॉफी, चाय, नारियल और मसाले जैसी चीजें।

(2) ऑटोमोबाइल (मोटर) उद्योग और उनके हिस्से।

(3) संसाधित आहार (खाद्य पदार्थ)

19 दिसंबर, 1998 में ढाका में हुई 'बिमस्टेक' की मंत्रिमंडलीय बैठक में कहा गया कि हम 'बिमस्टेक' के आर्थिक मंच की स्थापना की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं जो 'बिमस्टेक' के उप–क्षेत्र के अंतर्गत अधिकाधिक आर्थिक सहयोग और प्रगति के लिए कार्य करेगा। हम एक बार फिर अपने संकल्प को दोहराते हैं कि हम अगली मंत्रि–स्तरीय बैठक का संयोजन करने के लिए 'बिमस्टेक' के आर्थिक फोरम को सक्रिय करने के लिए सभी आवश्यक उपाय करेंगे। इसमें आगे कहा गया कि वाणिज्यिक, औद्योगिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अंतक्रिया तथा पर्यटन को प्रोत्साहित करने के लिए परिवहन और संचार के क्षेत्र में संपर्क द्वारा जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जा सकती है उसके प्रति हम सजग हैं। इसलिए हम इस बात को फिर ज़ोर देकर कहते हैं कि हमें रेल, सड़क, बहुमुखी परिवहन व्यवस्था, पोत–चालन और हवाई संपर्क को

विकसित करने की आवश्यकता है। इससे 'बिमस्टेक' की बंगाल की खाड़ी के निकटवर्ती देशों की पहचान की पूरकता की पुष्टि होगी।

दिसंबर, 2001 में म्याँमार में आयोजित. 'बिमस्टेक' की बैठक में सदस्य देशों के चिंतकसमूह में संपर्क को सशक्त बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। वे मेकाँग–गंगा सहयोग के कार्यक्रम के लिए बाहरी वित्त–व्यवस्था की खोज करने पर सहमत हो गए। इस कार्यक्रम में भारत और हिंद–चीन राज्य शामिल थे। ऐसी आशा थी कि सहयोग की कार्यसूची (एजेंडा) की प्रकृति के लचीलेपन के कारण, जिसमें संस्कृति और पर्यटन से लेकर परिवहन और संचार तक के विषय शामिल हैं, तेज़ी से प्रगति हो सकती है। मेकाँग–गंगा सहयोग में भारत के साथ कंबोडिया, लाओस, म्याँमार, वियतनाम और थाईलैंड आदि पाँच देश शामिल हैं। इस विषय में ऐसा प्रयास किया जाएगा कि थाईलैंड को भारत से जोड़ने के लिए एक सड़क बरास्ता म्याँमार निकाली जाए। मेकाँगगंगा सहयोग दल राष्ट्र–पारीय व्यापार के लिए ढाँचागत संरचना के विकास के लिए बहुत कुछ करना चाहता है। इसमें भारत की उत्तर–पूर्वी सीमा, म्याँमार, मेकाँग क्षेत्र और उससे भी आगे का क्षेत्र शामिल हैं। भारत और चीन के बीच में स्थित मेकाँग क्षेत्र भारत की सुरक्षा, शांति और पूर्वी एशियाई देशों के साथ व्यापार के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

पहला भारत–आसियान शिखर सम्मेलन नवंबर, 2002 में फोम पेन्ह में हुआ था। इसमें मेकाँग क्षेत्र के देशों पर ध्यान केंद्रित किया गया था। इस अवसर पर प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने आसियान के साथ समान दृष्टि और विचारों का उल्लेख किया था। भारत ने कंबोडिया को एक करोड़ डॉलर का कर्ज़ दिया और व्यापार, तकनीकी शिक्षा तथा एक हज़ार वर्ष पुराने टाम–प्राम मंदिर के रख–रखाव के क्षेत्र में तीन समझौतों पर हस्ताक्षर किए। भारत ने म्याँमार, लाओस, वियतनाम और कंबोडिया को सीमा–शुल्क के क्षेत्र में और अधिक रियायतें दीं। इसे आसियान देशों के प्रति महत्वपूर्ण सद्भावना का प्रतीक समझा गया।

10.10 सुरक्षा सहयोग

भारत और दक्षिण–पूर्वी एशिया के बीच सुरक्षा संबंधी सहयोग की शुरुआत द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हो गई थी। नेताजी सुभाष चंद्र बोस की आज़ाद हिंद फौज (आई.एन.ए) का दक्षिण–पूर्वी एशियावासयों ने दिल खोलकर समर्थन किया। आई.एन.ए. का मुख्यालय सिंगापुर में स्थित था। भारतीय राष्ट्रीय सेना के स्वयंसेवकों ने लोगों में देशभक्ति और आज़ादी की भावना भरी। उपनिवेश विरोधी संघर्ष में लोगों का समर्थन पाने में इससे बहुत मदद मिलती थी। आज़ाद हिंद फौज ने असम और मेघालय के आसपास के क्षेत्रों को जीत लिया था। लेकिन नेताजी के गायब हो जाने और जापान की पराजय के कारण इसे वापस लौटना पड़ा। यदि आज़ाद हिंद फौज अपने उद्देश्य में कामयाब हो जाती तो भारत के दक्षिण–पूर्व एशिया के साथ सामरिक संबंध और अधिक मज़बूत होते।

जब भारत आज़ाद हुआ तो इसने बर्मा और इंडोनेशिया के साथ रक्षा संबंधी संधियों पर हस्ताक्षर किए। इन्हीं संधियों के कारण इंडोनेशिया और बर्मा की रक्षा सेनाओं को भारत में उच्च प्रशिक्षण दिया गया। लेकिन 1957–58 में बर्मा और इंडोनेशिया के साथ रक्षा संबंधों में रुकावट आ गई। और इसके बाद शीत युद्ध के कारण इन संबंधों को पुनर्जीवित नहीं किया जा सका।

जब आसियान समूह की स्थापना हुई तो इसे साम्यवाद–विरोधी संगठन समझा गया। इसलिए भारत ने स्वयं को आसियान की गतिविधियों से जोड़ना नहीं चाहा। उधर, आसियान देश भी भारत को सुरक्षा के मामलों में शामिल नहीं करना चाहते थे। भारत और आसियान के बीच संबंधों में सुधार शीत युद्ध समाप्त होने के बाद ही हुआ, जब आसियान देशों के साथ संयुक्त अभ्यासों में भाग लेने के लिए भारतीय नौसेना को । आमंत्रित किया गया।

दक्षिण–पूर्व एशिया को अपनी सुरक्षा और स्थिरता के लिए पर्याप्त धमकियों का सामना करना पड़ा है। पहले सुरक्षा को खतरा साम्यवादी तत्वों के द्वारा तोड़–फोड़ से था। लेकिन अब उग्रवाद और आतंकवाद से व्यापक खतरा है। उन्हें बाहरी खतरा उत्तरी क्षेत्र से लगता है। जापान ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान दक्षिण–पूर्व एशिया पर आक्रमण किया था और अब यह खतरा चीन से है।

चीन की मौजूदगी प्रशांत महासागर और हिंद महासागर में है और आसियान देशों की तुलना में इसकी नौसेना अपराजेय है। यदि अमेरिका इस क्षेत्र से चला जाए तो चीन उसके रिक्त स्थान को भरने के लिए तैयार बैठा है। इस प्रयास में चीन ने अपने नौसैनिक अड्डे पेस्काडोरेस (पेंग्शु), प्राटास (डोंग्शा), पैरासेल्स (क्जिशा), स्प्रैटलिस (नान्शा), कोको और हंगाई में बना रखे हैं।

आसियान राज्य चीन से त्रस्त हैं। सुरक्षा परिदृश्य को मज़बूत बनाने के लिए वे चाहते हैं कि इस क्षेत्र में अमेरिका अपने अड्डे बनाए रखे। इस उद्देश्य से मलेशिया ने अमेरिका को लुमुट नौसेना डॉकयार्ड, थाईलैंड ने सत्ताहिप नौसैनिक अड्डा और इसी तरह सिंगापुर, इंडोनेशिया और फिलीपीन्स ने अमेरिका को सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सुविधाएँ प्रदान करने की पेशकश की।

इस संदर्भ में आसियान देश भारत के साथ सहयोग करना बेहतर समझते हैं। मलेशिया, इंडोनेशिया और सिंगापुर भी भारत के साथ सुरक्षा संबंध बनाना चाहते हैं। आरंभ में भारत मलेशिया की रॉयल मलेशियन वायुसेना के पायलटों को मिग–29 विमानों पर प्रशिक्षण देने पर सहमत हो गया। मलेशिया की नौसेना ने भारत की तेज़ गश्ती क्राफ्ट नौकाओं को खरीदने में रुचि प्रदर्शित की। आसियान राज्य भारत की जिन क्षेत्रों में विशेषज्ञता का लाभ उठाना चाहते थे, वे थे – नौसैनिक कमांडो प्रशिक्षण, डाक निगरानी, जलदस्युविरोधी ऑपरेशन, मौसम प्रेक्षण, समुद्रतटीय अन्वेषण और बचाव ऑपरेशन, पत्तनों तथा बंदरगाहों की रक्षा और उथले जल में खनन आदि। भारत ने तटीय प्रेक्षण राडार और एल–70 तोपें भी मुहैया कराने की पेशकश की।

भारत ने कंबोडिया में आसियान देशों के साथ यू.एन.टी.ए.सी. के कार्यकलापों में भाग लिया और इसके बाद दक्षिण–पूर्व एशिया में रक्षा प्रणाली को मज़बूत बनाने के कार्य में भाग लेना भारत द्वारा आसियान देशों का विश्वास जीते में प्रभावी रहा। इसलिए, भारत आसियान क्षेत्रीय मंच (ए.आर.एफ) का सदस्य बन गयो। आसियान क्षेत्रीय मंच का उद्देश्य विश्वासपात्रता बढाना, अवरोधक राजनयिक प्रक्रिया और विवाद सुलझाने की प्रक्रिया का विकास करना था। आसियान क्षेत्रीय मंच के 24 सदस्य हैं जिसमें आसियान की सबसे प्रमुख भूमिका है। इसका प्रमुख उद्देश्य राजनीतिक और सुरक्षा संबंधी समस्याओं का समाधान है। इस मंच की कार्य करने की शैली परामर्श और सर्वसम्मति की है। इस मंच ने क्षेत्रीय सुरक्षा समस्याओं के समाधान के लिए ट्रैक–1 और ट्रैक–2 राजनय को प्रोत्साहित किया। ट्रैक–1 राजनय का इस्तेमाल संस्थानिक स्तर पर किया जाता है, जैसे आसियान क्षेत्रीय मंच, आसियान या प्रत्येक आसियान देश की सरकार के साथ, लेकिन ट्रैक–2 का उद्देश्य क्षेत्र में गैर–सरकारी संगठनों, व्यापारिक वर्गों और सामरिक महत्व की संस्थाओं को सक्रिय करना है। ट्रैक–2 में अवरोधक राजनय को प्रमुखता दी जाती है ताकि युद्ध की प्रवृत्ति पर रोक लगाई जा सके।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, आसियान क्षेत्रीय मंच का प्रमुख उद्देश्य समान हित और चिंता के राजनीतिक तथा सुरक्षा मामलों में रचनात्मक वार्ता और परामर्श को प्रोत्साहित करना था। भारत इस संस्था के साथ एशिया–प्रशांत क्षेत्र में क्षेत्रीय समझ, विश्वास संवर्धन और अवरोधक राजनय को विकसित करने में योगदान करने के लिए संबद्ध हुआ था। भारत म्याँमार के साथ क्षेत्रीय सर्वसम्मति और रचनात्मक समझौते की नीति का समर्थक रहा है। इसने आसियान को अंडमान में संयुक्त सैनिक अभ्यास के लिए आमंत्रित किया और यह सीमा संबंधी समस्याओं के बावजूद चीन को महत्वपूर्ण मानता है।

अब तक आसियान क्षेत्रीय मंच की उपलब्धियाँ प्रभावशाली नहीं रही हैं। रक्षा के मामलों में तथाकथित पारदर्शिता में अभी परिवर्तन होना शेष है। आसियान क्षेत्रीय मंच के बहुत से सदस्य रक्षा मामलों में श्वेत–पत्र प्रकाशित नहीं करते और जो करते भी हैं उनसे कुछ भी प्रकट नहीं होता। इसके साथ ही रक्षा के सरकारी आँकड़े विश्वसनीय नहीं हैं। इससे पूर्व की परंपरागत हथियारों के अंतरण से संबंधित क्षेत्रीय अस्त्र रजिस्टर बनाने की योजना का अस्तित्व केवल कागज़ों पर है। इसने अवैध दवाओं के व्यापार को या अपराधी और विद्रोही समूह की हल्के हथियारों के तीव्र प्रसार को रोकने के लिए कुछ भी नहीं किया। इसके अलावा, यह पूर्वी तिमोर और आतंकवाद में वृद्धि के मामले में कोई पहल करने में असमर्थ रहा।

इस क्षेत्र में आतंकवाद की गंभीर समस्या है और इस आतंकवाद के विविध रूप हैं। एक तो दक्षिण–पूर्व एशिया सबसे बड़ा अफीम और उसके उत्पादों का उत्पादन करने वाला क्षेत्र है। इनके भारत के उत्तर–पूर्वी भाग (जिसमें असम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, नगालैंड, मणिपुर और त्रिपुरा शामिल हैं) से संबंध हैं। इन अवैध रूप से नशीले पदार्थ बेचने वालों का सुव्यवस्थित नेटवर्क है और इनका राजनीतिज्ञों, आतंकवादियों और पुलिस के साथ गठजोड़ है। ये इस क्षेत्र के भीतर और बाहर, दोनों जगह नशीले पदार्थ मुहैया कराते हैं। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने नशीले पदार्थों से जुड़े हुए आतंकवाद की बात को संयुक्त राष्ट्र की आम सभा में यह कहकर विशेष महत्व दिया था कि 'इस नशीले पदार्थ और आतंकवादी गठजोड़ से कोई भी सुरक्षित नहीं है – चाहे वे लैटिन अमेरिका या दक्षिण–पूर्व एशिया के लोग हों जहाँ नशीले पदार्थों का धंधा करने वालों के पास आयातित आधुनिकतम हथियार हैं और जिन्होंने न्यायाधीशों, पत्रकारों, पुलिस अधिकारियों और निरपराध राहगीरों तक की हत्याएँ की हैं।"

एम–16, विभिन्न प्रकार की कलाश्निकोव, ऐ.के–47 और चीनी बंदूकों के लिए कॉक्स बाज़ार एक महत्वपूर्ण बाज़ार है। दक्षिण–पूर्व एशिया में वियतनाम युद्ध और कंबोडिया के गृह युद्ध के दौरान बागियों द्वारा छोड़े हुए हथियार शस्त्र–विक्रेताओं के माध्यम से आसानी से सस्ते में उपलब्ध हो जाते हैं। इस क्षेत्र के बागी, शस्त्र–विक्रेताओं के संपर्क में रहते हैं और अकेह, अंबोन, मिंदनाओ और पश्चिम इरियान में विद्रोही समूह हथियारों की निरंतर आपूर्ति इन शस्त्र व्यापारियों से करते हैं। यह समस्या बहुत पुरानी है और इसका कोई प्रभावी समाधान नहीं हो पा रहा है।

दक्षिण–पूर्वी एशियाई सुरक्षा को तात्कालिक और सबसे महत्वपूर्ण खतरा इस्लामी आतंकवादी गुटों से है। वे दक्षिण–पूर्व एशिया के विभिन्न हिस्सों में फैले हुए हैं और उनके विश्वस्तर पर आतंकवादी संगठनों से संपर्क बने हुए हैं।

अल–कायदा के समर्थक इंडोनेशिया, मलेशिया और फिलीपीन्स में हैं तथा उनके गुप्त अड्डे सिंगापुर, बैंकॉक, जकार्ता और अन्य क्षेत्रों में हैं।

इस्लामी आतंकवादी समूह 'दरुलाह इस्लाया राया' (डी.आई.आर) के लिए प्रयास कर रहे हैं, उनका उःश्य मलय दुनिया का संघ बनाना है। डी.आई.आर. के क्षेत्र हैं – मलेशिया, सिंगापुर, इंडोनेशिया, बर्मा, मिंदनाओ और पटनी। उनके पास प्रशिक्षित उग्रवादी हैं और उन्होंने अत्याधुनिक हथियार जमा कर रखे हैं। वे वर्तमान शासन व्यवस्थाओं का तख्ता पलटना चाहते हैं और उस क्षेत्र में तालिबान की तरह का प्रशासन स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार विभिन्नता में एकता और पंचशील सिद्धांत, जो इंडोनेशिया की शासनव्यवस्था के मार्गदर्शक सिद्धांत थे, से उन्हें खतरा है। आतंकवादी गुटों की माँगों को पूरा करने के लिए बुनेई और मलेशिया लगातार अपनी नीतियों की समीक्षा करते रहते हैं। यद्यपि ब्रुनेई और मलेशिया ने इस्लाम को अपने देशों का राज्य–धर्म घोषित कर रखा है, फिर भी आतंकवादियों को मात्र प्रसन्न रखना पर्याप्त नहीं है।

इंडोनेशिया में 12 अक्तूबर, 2002 को आतंक और खून–खराबे का एक नया इतिहास शुरू हुआ जब जेमाह इस्लामियाह (जे.आई) ने बाली के पर्यटक स्थल को बम से उड़ा दिया। इस घटना के अंतर्राष्ट्रीय संपर्क सूत्र थे। इस बम विस्फोट में 190 लोग मारे गए और 300 घायल हुए। इस घटना से प्रभावित अधिकांश लोग ऑस्ट्रेलिया, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और स्वीडन के थे। इससे भारत भी सतर्क हो गया और भारत विश्व के सबसे पहले देशों में से एक था जिसने इस घटना पर अत्यधिक खेद व्यक्त किया। जकार्ता में अमेरिकी राजदूत राल्फ वॉयस, इंडोनेशियाई–राष्ट्रपति मेघावती से मिला और उससे उग्रवादी अड्डों को समाप्त करने, उन्हें पकड़ने तथा यह दिखाने को कहा कि वे इस विषय में गंभीर हैं। अमेरिका ने ज़ोर देकर कहा कि बाली के बम विस्फोट के बाद से इंडोनेशिया आतंकवादियों का स्वर्ग बना हुआ है और अमेरिका ने अपने दूतावास से संबंधित 350 अमेरिकियों को देश छोड़ने का आदेश दिया। जुलाई, 2003 में जकार्ता के एक पाँच–सितारा होटल में आतंकवादियों ने हमला किया। इसमें एक कार बम विस्फोट में बहुत निर्दोष लोग मारे गए। अमेरिका ने बाली में हुए बम विस्फोट की निंदा की और उसे आतंक का घृणित कार्य कहा। अबूबकर बशीर को इस अपराध का प्रमुख नेता कहा और जेमाह इस्लामियाह को आतंकवादी संगठन घोषित किया। यह घृणित अपराध जेमाह इस्लामियाह के सदस्यों के सहयोग के लिए धन एकत्र करने के लिए किया गया था। जेमाह इस्लामिया के सदस्यों के अमेरिका प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

आतंकवादी गुटों के अमानवीय व्यवहार के कारण उन्हें नापसंद किया जाता है। वे अपने विरोधियों के विरुद्ध जिहाद का प्रचार कर रहे हैं और अपने उन मुस्लिम साथियों की हत्या कर रहे हैं जो उनके विरोध में अपनी राय व्यक्त करते हैं। वे प्रशासन के लिए शरियत कानूनों और इस्लामी लोकाचार की बात करते हैं, लेकिन ये धार्मिक प्रकृति के हैं।

भारत भी कश्मीर में इस्लामी आतंकवाद के खतरे का सामना कर रहा है। दो लाख से अधिक कश्मीरी पंडितों को अपने घरों से निकाल कर बाहर कर दिया है और उनकी ज़मीन–जायदाद पर कब्जा कर लिया है। आतंकवादी नियमित रूप से घाटी में निर्दोष लोगों की हत्या कर रहे हैं और पाकिस्तान तथा अन्य इस्लामी देशों के जबरदस्त समर्थन से आतंकवादी गुट घाटी में अव्यवस्था फैला रहे हैं। भारत सरकार विवाद को हल करने के हर संभव प्रयास कर रही है लेकिन खून–खराबा और विवाद पहले की तरह बना हुआ है।

इंडोनेशिया के अनुभवों से पता चलता है कि आतंकवाद एक धर्म के नीचे भी पनपता है। इंडोनेशिया में इस्लाम धर्म को सब प्रकार का महत्व दिया गया है, लेकिन इस्लामी आतंकवादी संगठन इस तथ्य को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। वे दारुल इस्लाम या इस्लामिक राया या अल–कायदा की बात करते हैं। इस प्रकार, भारत और इंडोनेशियां एक ही प्रकार की समस्याओं का सामना कर रहे हैं और उनके पास विवाद के हल के लिए और शांति स्थापित करने के समान विचार हैं। आसियान के अन्य सहभागी देशों ने इंडोनेशिया की राजनीतिक घटनाओं, विशेष रूप से बाली के नरसंहार के बाद अत्यधिक चिंता व्यक्त की है। इस विषय में उन सभी की एक राय है कि आतंकवाद से लड़ने के लिए भारत से जितना भी सहयोग मिल सके, उसे लेना चाहिए।

10.11 सारांश

दक्षिण–पूर्व एशिया के साथ भारत के घनिष्ठ संबंध हैं और ये एक–दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। दक्षिण–पूर्व एशिया पर भारत का प्रभाव इतना अधिक है कि कुछ भारतीय उसे भारत का क्षेत्र मानने की गलती करते हैं। शीत युद्ध के दौरान दक्षिण–पूर्व एशिया के साथ भारत के संबंध बिगड़ गए थे। इसके तीन कारण थे। एक तो यह कि भारत अमेरिका की साम्यवाद को बढ़ने से रोकने की नीति का और सिएटो के निर्माण का विरोधी था। दूसरे, इसने वियतनाम में साम्यवादी शक्तियों के साथ एकात्मकता व्यक्त की। इसने 1972 में उत्तरी वियतनाम के साथ अपने संबंधों के स्तर को ऊँचा कर दिया था और आपस में राजदूतों का आदान–प्रदान किया था। लेकिन दक्षिणी वियतनाम को वही विशेषाधिकार नहीं दिए। एक अन्य बात जो संबंधों में बाधक बनी, वह 1979 में कंबोडिया में वियतनामी प्रशासन द्वारा स्थापित सरकार को राजनयिक मान्यता देना था। आसियान भारत के इस निर्णय से अप्रसन्न था।

तीसरे, भारत के सोवियत संघ और वियतनाम के साथ संबंध अच्छे हो गए, जिसे अमेरिकियों और एशिया–प्रशांत के अमेरिकी पक्ष के नेताओं ने पसंद नहीं किया। यह भारतविरोधी वातावरण शीत युद्ध के समाप्त होने के बाद ही बदला।

1992 में भारत आसियान का क्षेत्रीय सहभागी बन गया और उसके बाद 1995 में वार्ता सहभागी बनी। इसके बाद ही संबंधों में सुधार होने लगा। सहयोग के लिए जिन आधारभूत क्षेत्रों की पहचान की गई, वे थे – व्यापार, पूँजी निवेश, पर्यटन, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी), जैव प्रौद्योगिकी और मानव संसाधन।

भारत आसियान क्षेत्रीय मंच (फोरम) का सदस्य है। इस प्रकार, भारत और आसियान सुरक्षा के मामलों में सहयोग कर रहे हैं। भारत, आसियान की उत्तर मंत्रि–स्तरीय बैठकों और आसियान क्षेत्रीय मंच की बैठकों में भाग लेता है और इसने विश्वास बढ़ाने तथा शांति स्थापित करने में योगदान किया है। सन 1998 में जब पोखरण–II में परमाणु परीक्षण किया गया तो ऑस्ट्रेलिया, जापान और अमेरिका ने अत्यधिक क्रोध व्यक्त किया लेकिन कुछ आसियान देशों ने भारत के परमाणु शक्ति बनने की सराहना की।

आतंकवाद के खतरे के प्रति भारत और आसियान के समान विचार हैं। उनका विश्वास है कि आतंकवादी अमानवीय हैं जिनमें धर्म या मानवीय नैतिकता के प्रति सम्मान की भावना नहीं है। आसियान देशों ने कश्मीर में और उत्तर–पूर्व के सात राज्यों में भारत की समस्या को अधिक अच्छी तरह से समझा है। शीत युद्ध के दौरान जिस तरह इन देशों ने भारत का विरोध किया था, अब ये भारत के विरुद्ध किसी विवाद का समर्थन नहीं कर रहे हैं।

अंत में, भारत द्वारा दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों के साथ अच्छे पड़ोसियों जैसे संबंध विकसित करने के कारण उसे आर्थिक और सामरिक दृष्टि से लाभ मिल रहा है। इसे भारत की संसद का और इस क्षेत्र के सभी देशों का समर्थन प्राप्त है। इससे एशियाप्रशांत क्षेत्र लोकतंत्र, मुक्त व्यापार, और भूमंडलीकरण का एक महत्वपूर्ण केंद्र बन कर उभर सकेगा।

10.12 अभ्यास

1. दक्षिण–पूर्व एशिया और इसके भारत के साथ भू–राजनीतिक संबंधों को परिभाषित कीजिए।
2. शीत युद्ध के दौरान भारत–आसियान संबधों को बढ़ावा देने में भारत क्यों असफल रहा?
3. आसियान के साथ भारत की वार्ता सहभागिता की उपलब्धियों के बारे में अपने विचार लिखिए।
4. आसियान क्षेत्रीय मंच के साथ भारत के संबंधों के संदर्भ में दक्षिण–पूर्व एशिया के साथ भारत के सुरक्षा संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
5. 'बिमस्टेक' के अंतर्गत सहयोग के परिदृश्य और इसकी उपलब्धियों का परीक्षण कीजिए।
6. "पूर्व की ओर देखो' की नीति को ज़ोरदार ढंग से लागू करने और भारत पर इसके प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई–11

भारत और केंद्रीय व पश्चिमी एशिया

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 केंद्रीय एशिया : एक पृष्ठभूमि

11.2.1 भौगोलिक स्थिति

11.2.2 अर्थव्यवस्था

11.2.3 राज्य–व्यवस्था और समाज

11.2.4 भू–सामरिक महत्व

11.3 भारत और केंद्रीय एशिया

11.3.1 ऐतिहासिक संबंध

11.3.2 भारत के सुरक्षा सरोकार

11.3.3 द्विपक्षीय संपर्क और दौरा

11.3.4 आर्थिक सहयोग

(i) ऊर्जा

(ii) फार्मस्यूटिकल्स और स्वास्थ्य देखभाल

(iii) सहयोग के अन्य क्षेत्र

(iv) आर्थिक सहयोग में रूकावटें

11.4 पश्चिम एशिया : एक पृष्ठभूमि

11.4.1 इतिहास

11.4.2 राजनीति और समाज

11.4.3 भू–सामरिक नीतिक स्थिति

11.5 भारत और पश्चिम एशिया

11.5.1 भारत के आर्थिक और सुरक्षा सरोकार

(i) तेल आपूर्तियाँ

(ii) धन–प्रेषण

(iii) धार्मिक उग्रवाद

(iv) वाणिज्यिक संपर्क और व्यापार मार्ग

11.5.2 भारतीय नीति का उद्भव

(i) फिलिस्तीनी मुद्दा

(ii) इज़राइल

(iii) इराक संकट

(iv) ईरान

(v) खाड़ी सहयोग परिषद्

11.6 सारांश

11.7 अभ्यास

11.1 प्रस्तावना

आज के विश्व में केंद्रीय एशिया और पश्चिम एशिया महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इन दोनों क्षेत्रों में विश्व के दो–तिहाई से भी अधिक प्रमाणित तेल भंडार और प्राकृतिक गैस प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है जो आधुनिक औद्योगिक समाज के कामकाज के लिए महत्वपूर्ण है। भारत की तेल खपत का लगभग दो–तिहाई तेल इसी क्षेत्र से आयात होता है और इसका आधे से भी ज्यादा इसी क्षेत्र से (मुख्यतः फारस की खाड़ी) से आता है। इस तरह हमारी ऊर्जा आपूर्तियों के लिए यह क्षेत्र निर्णायक है। भौगोलिक रूप से दोनों क्षेत्र एशिया प्रमुख भू–भाग को यूरोप और अफ्रीका से जोड़ते हैं और प्रमुख व्यापार मार्ग इन्हीं क्षेत्रों से जुड़े हुए हैं। ऐतिहासिक रूप से, ये उन लोगों और संस्कृतियों के लिए प्रवेश द्वार रहे हैं जिन्होंने हमारी सभ्यता को काफी गहराई तक प्रभावित किया है और इसमें चार चांद लगाए हैं। आज, यह समग्र क्षेत्र धार्मिक उग्रवाद और आतंकवाद को बढ़ाने के लिए काफी संवेदनशील माने जाते हैं। भारत की 13 करोड़ (130 मिलियन) मुस्लिम आबादी और जम्मू–कश्मीर में आगे बढ़ रहे आतंकवाद के मद्देनज़र भारत में इसके काफी गंभीर प्रभाव पड़े हैं। इन देशों में आतंकवाद को बढ़ावा देने के पाकिस्तानी प्रयास भारत की चिंताओं को और बढ़ा रहे हैं। ये दोनों क्षेत्र अपनी भौगोलिक निकटता और ऐतिहासिक सहलग्नता के कारण अक्सर भारत के प्रवर्धित पड़ोसी माने जाते हैं। कई सामान्यताओं के बावजूद केंद्रीय एशिया और पश्चिम एशिया दोनों अलग–अलग क्षेत्र हैं। और दोनों के साथ पृथक रूप से व्यवहार करना चाहिए। इस इकाई में कई महत्वपूर्ण पहलुओं के संदर्भ में इन दोनों क्षेत्रों के साथ भारत के संबंधों की चर्चा की गई है।

11.2 केंद्रीय एशिया : एक पृष्ठभूमि

11.2.1 भौगोलिक स्थिति

केंद्रीय एशिया के अंतर्गत पाँच गणराज्य आते हैं। ये हैं – कज़ाखिस्तान, किर्गीज़स्तान, तज़ाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और उज़बेकिस्तान (इस इकाई में इन्हीं पर मुख्य रूप से चर्चा की जाएगी)। हालांकि भौगोलिक निकटता और जातीय/सांस्कृतिक सादृश्य (सजातीयताएँ) कुछ लोगों को अफगानिस्तान, मंगोलिया और तिब्बत के साथ चीन के ज़िंगजियांग प्रांतों को भी केंद्रीय एशिया में शामिल करने के लिए प्रेरित करते हैं। ऊपर बताए गए पाँचों राज्य 1991 में सोवियत के विघटन के परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय पटल पर स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में उभरे हैं। ये लगभग चार मिलियन वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में फैले हुए हैं, जो भारत के क्षेत्र से काफी बड़ा है। लेकिन इन सभी को मिलाकर कुल आबादी मात्र 5 करोड़ (55 मिलियन) है।

11.2.2 अर्थव्यवस्था

तेल और प्राकृतिक गैस के अलावा यह क्षेत्र कपास, ऊन, माँस, जानवरों की खाल और चमडे की वस्तुओं जैसे कृषि उत्पादों का प्रमुख उत्पादक एवं निर्यातक है। यहाँ यूरेनियम, सोना, चांदी, खनिज, लौह, कोयला, तांबा, जिंक, सीसा और मैगनीशियम जैसे खनिज पदार्थों के पर्याप्त भंडार हैं। सोवियत संघ के हिस्से के रूप में यह क्षेत्र प्रभावोत्पादक सामाजिक–आर्थिक प्रगति का गवाह रहा है। लेकिन तब आर्थिक प्रणाली केंद्रीकृत थी और रूस की मुख्य भूमि से घनिष्ठ रूप से संबद्ध थी। इन संबंधों के विच्छेद और अनुभवी एवं प्रशिक्षित प्रबंधकों, इंजीनियरों, तकनीशियनों और अन्य व्यावसायिकों के प्रवास से (जो मुख्यतः रूसी मूल के थे) कई समस्याएँ पैदा हुई। इन सभी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ संक्रमण के दौर से गुज़र रही हैं और ये उदारीकरण एवं निजीकरण की कठिन प्रक्रिया से गुजर रही है। ये देश विदेशों की कुशल मानव–शक्ति, प्रौद्योगिकी और निवेश की भागीदारी का अपने देश में स्वागत करते हैं।

11.2.3 राज्य–व्यवस्था और समाज

इन सभी देशों की राजनीतिक व्यवस्था में कमजोर विधानमंडल और न्याय–तंत्र वाली मजबूत अध्यक्षता का आधिपत्य है। प्रैस और राजनीतिक विपक्ष अधिकांशतः अप्रभावी है। लोकतंत्र को अभी अपनी जड़ें स्थापित करनी हैं। पाँचों राज्य राष्ट्रीय अस्मिता की समस्या से जूझ रहे हैं। धर्म या भाषा के आधार पर नई अस्मिताएँ सृजित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। यह क्षेत्र इस्लाम के सामान्य पुनर्जागरण का गवाह रहा है। तजाकिस्तान के अलावा, अन्य सभी राज्यों में तुर्की भाषा बोली जाती है। लेकिन इन सर्व–इस्लामिक और सर्व–तुर्की आंदोलनों में रूकावटें खड़ी की जा रही हैं क्योंकि वर्तमान नेतृत्व विद्यमान सीमाओं और सोवियत–काल के दौरान अर्जित आधुनिकता को बनाए रखना चाहता है। केंद्रीय एशिया के देशों में सौ से भी अधिक वर्षों तक जारवादी रूसी शासन और तत्पश्चात सोवियत शासन रहा। प्रत्येक देश की सर्वोपरि प्राथमिकता नव–अर्जित स्वतंत्रता और प्रादेशिक सीमाओं को बनाए रखना है।

11.2.4 भू–सामरिक महत्व

इसकी भू–सामरिक स्थिति रूस, चीन, दक्षिण एशिया और यूरोप के चौराहे पर होने और इसके हाइड्रोकार्बन एवं अन्य खनिज संसाधनों के कारण यह प्रदेश महत्वपूर्ण विश्वव्यापी और क्षेत्रीय शक्तियों के बीच प्रभुत्व (प्रभाव) के लिए गहन प्रतिद्वंद्विता का गवाह रहा है। ये विश्वव्यापीव क्षेत्रीय शक्तियाँ हैं संयुक्त राज्य, रूस, चीन, तुर्की, ईरान, भारत और

पाकिस्तान। यह आमतौर पर नया महान खेल कहलाता है। समुद्र का मार्ग न होने के कारण ये राज्य अपने पड़ोसी राज्यों – विशेष रूप से रूस से ज्यादा भयभीत रहते हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमान अधिकांश व्यापार और आवागमन मार्ग और तेल की पाइपलाइनें रूस से होकर गुजरती हैं। रूस पर अपनी निर्भरता को कम करने के लिए वैकल्पिक आवागमन मार्गों की खोज उन्हें अपने अन्य पड़ोसी राज्यों की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती हैं। आर्थिक और प्रौद्योगिकीय सहायता की जरूरत के अलावा, इन पड़ोसी देशों के प्रभाव को कम करने की इच्छा के कारण ये राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी शक्तियों का स्वागत कर के मैत्री करना चाहते हैं।

11.3 भारत और केंद्रीय एशिया

11.3.1 ऐतिहासिक संबंध

भारत के केंद्रीय एशिया के साथ संपर्क सिंधुघाटी की सभ्यता से रहे हैं जिसके तार तुर्कमेनिस्तान की प्राचीन सभ्यता से जुड़े हैं। इतिहासकारों के एक वर्ग के अनुसार आर्यों ने भारत में केंद्रीय एशिया से प्रवेश किया था। इस्लाम के आगमन से पूर्व इस क्षेत्र में बौद्ध पंथ का आधिपत्य था और इस्लाम के आगमन के बाद सूफी परंपरा का प्रभाव देखा जा सकता है जिसने केंद्रीय एशिया में अपनी जड़ें जमाई और फिर वापस भारत में व्याप्त हुआ। चीन और यूरोपीय बाजारों को जोड़ने वाला प्राचीन सिल्क रूट इसी प्रदेश से ही गुजरता था। भारत भी इस व्यापार–मार्ग से जुड़ा हुआ था। यूनानी, शक, कुषाण, हूण और मुगलों सहित भारत के कई शासक राजवंश केंद्रीय एशिया से या वहाँ के मार्ग से होते हुए आए। स्थापत्य कला, संगीत, पाक कला और साहित्य जैसे क्षेत्रों में केंद्रीय एशियाई प्रभाव देखा जा सकता है। लोगों का यह निरंतर प्रवाह 19वीं शताब्दी में तब रूका जब अंग्रेजों ने भारत को अपना उपनिवेश बना लिया और रूस ने केंद्रीय एशिया पर विजय हासिल कर ली। दोनों साम्राज्यों के बीच की प्रतिद्वंद्विता "सामान्य खेल" कहलाती है। 1917 की रूसी क्रांति और 1947 में भारत की स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद ये संपर्क आंशिक रूप से दोबारा हुए। सोवियत संघ ने इस संपर्क में व्यापारिक और सांस्कृतिक संपर्क बनाने के लिए बहुत कम देशों की अनुमति दी जिनमें से भारत भी एक था। भारत के वाणिज्य दूतावास ताशंकद और अल्माटी में खुले – जो क्रमशः तुर्कमेनिस्तान और कज़ाकिस्तान की राजधानियाँ हैं। भारतीय फिल्में और संगीत समस्त केंद्रीय एशिया में अत्यधिक लोकप्रिय थे। भारत के प्रति इस प्रदेश के लोगों में पर्याप्त सद्भावना है जो केंद्रीय एशिया और लेखकों के भाषणों एवं लेखों में प्रतिबिंबित होती है। इन राज्यों के साथ संबंधों में सांस्कृतिक पूँजी भारत के लिए एक प्राकृतिक लाभ है।

11.3.2 भारत के सुरक्षा सरोकार

अमेरिका पर 11 सितंबर 2001 को हुए आतंकवादी हमले के बाद धार्मिक उग्रवाद और विश्व–व्यापी आतंकवाद के बारे में अंतर्राष्ट्रीय चिन्ताएँ बढ़ रही हैं। केंद्रीय एशिया और उसके आसपास के देश भारत में कश्मीर, रूस में चेचेन्या, चीन में ज़िंगजियांग और फगाना घाटी में उज़बेकिस्तान एवं किर्गीज़स्तान इससे काफी प्रभावित हैं। तज़ाकिस्तान ने सरकार और इस्लामिक आतंकवादियों के बीच लम्बे समय तक चले गृह युद्ध को झेला और उज़बेक राष्ट्रपति इस्लाम कारिमोव फरवरी 1999 में हुए आक्रामक हमले में बालबाल बचे। तालिबान के अधीन अफगानिस्तान ने ओसामा–बिन–लादेन के अल–कायदा की मदद की और पाकिस्तान को इन इस्लामिक आतंकवादियों के लिए एक सुरक्षित आश्रय स्थल और प्रशिक्षण स्थल माना गया। इस प्रकार केंद्रीय एशियाई राज्य आतंकवाद के विरुद्ध इस अमेरिकी युद्ध में तत्परता से कूदे। उज़बेकिस्तान और किर्गीस्तान ने फौजी संचालन अड्डे प्रदान किए और कज़ाकिस्तान ने अमेरिका को अन्य सुविधाएँ दीं। तालिबान को बुरी तरह पराजित किया जा चुका है लेकिन युद्ध समाप्त होने के आसार अभी नजर नहीं आते। अभी भी ऐसी सूचनाएँ मिल रही हैं जिनसे पता चलता है कि अफगानिस्तान और पाकिस्तान के कुछ क्षेत्रों में उनकी पकड़ अभी भी मज़बूत है और वे पुनःसंगठित होने का प्रयास कर रहे हैं। धार्मिक कट्टरपंथी और सीमा–पार आतंकवाद के अलावा नशीले पदार्थों और हथियारों की अवैध तस्करी जैसी अन्य समस्याएँ हैं जो भारत और केंद्रीय एशिया के साथ–साथ अन्य पड़ोसी देशों को भी प्रभावित कर रही हैं। भारत ने अमेरिका, रूस, चीन, कजाकिस्तान और तज़ाकिस्तान सहित कई अन्य देशों के साथ आतंकवाद पर एक संयुक्त कार्य समूह गठित किया है। भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने "एशिया में अंतःक्रिया और विश्वास निर्माण उपायों पर सम्मेलन" की शिखर बैठक में भाग लेने के लिए जून 2002 में कज़ाकिस्तान का दौरा किया। आतंकवाद का उन्मूलन और सभ्यता के बीच वार्ता संवर्धन" घोषणा पर हस्ताक्षर करना भारत के लिए मुख्य लाभ रहा।

11.3.3 द्विपक्षीय संपर्क और दौरे

केंद्रीय एशियाई गणराज्यों के प्रभुसत्ता–संपन्न राज्य बनने के एक महीने के भीतर वहाँ के नेताओं ने भारत का दौरा किया। उज़बेक और कज़ाख के राष्ट्रपतियों का विदेश में यह प्रथम दौरा था। वस्तुतः उज़बेकिस्तान के राष्ट्रपति कारिमोव स्वतंत्रता की औपचारिक घोषणा से पूर्व 1991 में और दुबारा जनवरी 1994 और मई 2000 में भारत आए थे। कज़ाखिस्तान के राष्ट्रपति नज़रबेव फरवरी 1992 में, दुबारा दिसंबर 1992 में और फिर फरवरी 2002 में भारत आए थे। किर्गिज़ के प्रधानमंत्री एकेव ने मार्च 1992 में और अप्रैल 1999 में नई दिल्ली का दौरा किया। तुर्कमेनिस्तान के राष्ट्रपति

नियोज़ोव अप्रैल 1992 और फरवरी 1997 में भारत में थे। गृह युद्ध के कारण तज़ाकिस्तान के प्रधानमंत्री फरवरी 1993 में ही भारत में आ सके, इसके पश्चात् तज़ाक प्रधानमंत्री रखमानोव दिसंबर 1995 और मई 2001 में भारत आए। इसके बाद भारत के प्रधानमंत्री नरसिंह राव ने मई 1993 में उज़बेकिस्तान और कज़ाखिस्तान का और सितंबर 1995 में किर्गीज़स्तान का दौरा किया। दोनों ओर से अधिकारियों, व्यवसायों, सांस्कृतिक प्रतिनिधि–मंडलों, वैज्ञानिकों एवं शिक्षाविदों ने कई दौरे किए।

11.3.4 आर्थिक सहयोग

भारत और केंद्रीय एशिया दोनों संसाधनों, मानव–शक्ति और बाजार के संदर्भ में आर्थिक रूप से एक–दूसरे के पूरक हैं। भारत केंद्रीय एशिया में मुख्य रूप से औषधियाँ और फार्मास्युटिकल, चाय, मशीनरी और यंत्रों व (सिले–सिलाए) कपड़ों का निर्यात करता है। इस प्रदेश से आयात होने वाली मुख्य वस्तुएँ हैं – लोहा व स्टील, चाँदी व सोना, अलौह धातुएँ और रेशे। भारत बैंकिंग, बीमा, भवन निर्माण, तकनीकी शिक्षा और प्रबंधन जैसे क्षेत्रों में अपनी कुशल मानव–शक्ति और विशेषज्ञता प्रदान कर सकता है।

सहयोग के प्रमुख क्षेत्र इस प्रकार हैं :

(i) ऊर्जा : भारत विश्व में छठे सबसे बड़े ऊर्जा उपभोक्ता के रूप में उभरा और एक अध्ययन के अनुसार इसकी ऊर्जा खपत प्रति वर्ष 6 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। भारत अपनी पेट्रोलियम ज़रूरतों का लगभग दो–तिहाई आयात करता है। केंद्रीय एशिया और कैस्पियन प्रदेश तेल एवं प्राकृतिक गैस की आपूर्ति के वैकल्पिक स्रोत के रूप में उभर रहे हैं। केंद्रीय एशिया तेल और गैस भंडार में मुख्य रूप से कज़ाखिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और उज़बेकिस्तान में हैं। भारतीय तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग कज़ाखिस्तान में कैस्पियन सागर क्षेत्र में दरखान और कुरमानगाज़ी में तेल के संभावित क्षेत्रों की खोज करने में सहभागी होने की तैयारी कर रहा है। भारत एसीबेकगोला और कोज़ासाई प्राकृतिक गैस क्षेत्रों में उपस्थिति के लिए बोली भी लगाएगा। तुर्कमेनिस्तान (जहाँ गैस के प्रचुर भंडार हैं), पाकिस्तान के रास्ते भारत में गैस पाइपलाइन बिछाने का इच्छुक किर्गीस्तान और तज़ाकिस्तान में विशाल हाइडल संसाधन है। तज़ाकिस्तान में भूभाग के प्रत्येक वर्ग किलोमीटर में 2 मिलियन के.डब्ल्यू ऑवसर तक हाइडल संसाधन हैं, जो एक बहुत बड़ा आँकड़ा है। किर्गीस्तान सरकार के पास छोटे और मध्यम आकार के हाइडल पॉवर स्टेशन विकसित करने के लिए सतत कार्यक्रम हैं। इस प्रयास के लिए वह, भारत को एक वित्त और प्रौद्योगिकी के भावी स्रोत के साथ–साथ हाइडल ऊर्जा के आपूर्ति के लिए सबसे बड़े बाज़ार के रूप में देखता है। आने वाले समय में भारत ऊर्जा के सबसे बड़े उपभोक्ताओं में से एक होगा। इस संदर्भ में एशियाई ऊर्जा समुदाय सृजित करने का विचार उभरा जिसका लक्ष्य तेल, गैस और ऊर्जा संसाधनों के प्रमुख उत्पादकों और उपभोक्ताओं को इकट्ठा करना है।

(ii) फार्मास्युटिकल्स और स्वास्थ्य देखभाल : भारत और केंद्रीय एशिया के बीच सहयोग का दूसरा प्रमुख क्षेत्र है – फार्मास्युटिकल्स और स्वास्थ्य देखभाल। मुख्य रूप से भारत की निपुणता और लागत लाभ के कारण भारत के इस क्षेत्र में विश्व बाजार में प्रतिस्पर्धात्मक लाभ है। जो केंद्रीय एशिया में फार्मास्युटिकल उत्पादों का निर्यात कर रही हैं कुछ भारतीय कम्पनियाँ हैं – कलैरिस लाइफ साइंस, रैनबैक्सी, डॉ. रेड्डी लैब्स, ल्यूपिन लैबोरेट्रीज़, यूनीक लैबोरट्रीज़ और अरविन्दो फार्मा। इनमें से कुछ कम्पनियाँ केंद्रीय एशिया में ही अपनी विनिर्माण इकाइयाँ स्थापित करने की योजना बना रही है। कज़ाख–भारत की फार्मास्युटिकल फैक्टरी का संयुक्त उद्यम कज़ाखिस्तान फार्मा अल्माटी में पूर्ण होने की अवस्था में है।

(iii) सहयोग के अन्य क्षेत्र : सूचना प्रौद्योगिकी (आई टी) और तकनीकी प्रशिक्षण ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें भारत केंद्रीय एशियाई राज्यों में काफी योगदान दे सकता है। इस संबंध में उज़बेकिस्तान, कज़ाखिस्तान और किर्गीज़स्तान के साथ पहले ही कई समझौते हो। चुके हैं। भारत कज़ाखिस्तान में सॉफ्टवेयर प्रौद्योगिकी पार्क का निर्माण कर रहा है। आई.टी. शिक्षा के क्षेत्र में सहयोग के लिए किरगिस्तान और भारतीय कम्पनी एडुराईट टेक्नोलॉजीस के बीच ज्ञापन समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। आई.टी.ई.सी. कार्यक्रम के अंतर्गत भारत ने चुनिंदा भारतीय संस्थानों में सभी केंद्रीय एशियाई देशों के अभ्यर्थियों के प्रशिक्षण के लिए स्लॉट नियत किए हैं।

पर्यटन, अंतरिक्ष–प्रौद्योगिकी, रक्षा सहयोग, खाद्य एवं कपास प्रसंस्करण (प्रोसेसिंग), पर्यावरण, आपदा–प्रबंधन और टेलिकॉम सहयोग के उभरने वाले अन्य क्षेत्र हैं।

(iv) आर्थिक सहयोग में रूकावटें : पर्याप्त संभावना के बावजूद, दोनों क्षेत्रों के बीच व्यापार और निवेश का वास्तविक स्तर बहुत ही कम है। केंद्रीय एशिया को भारतीय निर्यात इसके कुल निर्यात के 2 प्रतिशत से भी कम है जबकि आयात औसत आधार पर कुल भारतीय आयात का केवल 1.5 प्रतिशत है। भारत और केंद्रीय एशिया के बीच आर्थिक सहयोग की राह में मुख्य रूकावट दुर्लभ मुद्रा की अनुपलब्धता और परिवर्तन सुविधा सेवाओं का अभाव है। मुद्रा की कमी को नियंत्रित करने के लिए भारत ने प्रत्येक केंद्रीय एशियाई राज्य में अपने क्रेडिटो को बढ़ा दिया है। लेकिन या तो इसका पूरी तरह से उपयोग नहीं किया जाता है या फिर इसे अपर्याप्त माना जाता है। समुचित सूचना चैनलों और क्रियाविधियों

के अभाव में यह सहयोग को आगे बढ़ाने में प्रमुख अवरोधों में से एक है। हालांकि सीधा रेल, सड़क या समुद्री संपर्क न होना केंद्रीय एशिया के साथ भारतीय संबंधों में सबसे महत्वपूर्ण बाधा है। वर्तमान मार्ग (जो कृष्ण सागर "काला सागर से होकर जाता है) महँगा है और उसमें काफी समय लगता है, भले ही यह विश्वसनीय और समय की कसौटी पर जाँचा–परखा है। भारत के लिए सबसे छोटा एवं कम खर्चीला रास्ता ईरान, होगा। ईरान में सड़क और रेलवे का नेटवर्क बहुत ही अच्छा है जो तुर्कमेनिस्तान के रास्ते केंद्रीय एशिया से सीधे जुड़ा हुआ है। भारत ने फरवरी 1997 में इन दोनों के साथ समझौते पर हस्ताक्षर किए ताकि भारतीय बंदरगाहों से ईरान के बंदर अब्बास तक और फिर संड़क एवं रेल द्वारा केंद्रीय एशिया क्षेत्रों में सामान की आवाजाही हो सके। यह रास्ता पहले से ही चालू है। इस दौरान कुछ एक समस्याएँ पैदा हुई हैं, जिनका समय के साथ समाधान होने की भी संभावना है। आवागमन के अन्य रास्ते पर इन दिनों चर्चा हो रही है। वह मार्ग है – चीन के ज़िंगजियांग प्रांत से होते हुए भारत में लद्दाख से किर्गीज़स्तान तक का रास्ता। लेकिन भारत में अभी तक लद्दाख से ज़िंगजियांग तक सड़क संपर्क नहीं है।

निष्कर्ष के तौर पर यही कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संबंध (जो सामान्य सुरक्षा सरोकारों से जुड़े हुए हैं) तथा आर्थिक सहयोग की पर्याप्त संभावना होने के बावजूद भारत, केंद्रीय एशिया में अपनी उपस्थिति महसूस कराने के योग्य नहीं हो सका है।

11.4 पश्चिम एशिया : एक पृष्ठभूमि

11.4.1 इतिहास

आज, पश्चिम एशिया विश्व में सबसे परिवर्तनशील और संघर्ष–संभावित क्षेत्र है। अतीत में यह तीन महान धर्मों (यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म) और मानव–इतिहास की कुछ महानतम सभ्यताओं के उद्‌भव का साक्षी रहा है। इस क्षेत्र ने प्राचीन काल और मध्यकाल में अब्बासिड और ओटोमैन साम्राज्यों में बेबीलोनियाई और ईरानी साम्राज्यों के अधीन उपलब्धि के उच्च उतार–चढ़ाव देखे। उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ओटोमैन सत्ता के पतन से ब्रिटिश प्रभाव में वृद्धि हुई जिसने भारत के बचाव में इसे पश्चिमी बाजू (पार्श्व)'' माना। हालांकि, ईरान में 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में तेल की खोज से और उसके बाद फारस की खाड़ी के आसपास अधिक प्रचुर भंडारों के पता लगने से यह प्रदेश प्राचीन व विकासशील महान शक्तियों के लिए रुचि का केंद्र बन गया।

11.4.2 राजनीति और समाज

पश्चिम एशिया में इस्लाम धर्म के अनुयायियों की बहुलता के बावजूद इस प्रदेश में उल्लेखनीय सांप्रदायवादी और जाति नृसांस्कृतिक विविधता है। इस क्षेत्र में चार अलग–अलग मानव जाति संस्कृतियों का अस्तित्व है। ये हैं – तुर्की, फारसी, अरबी और इज़राइली। तुर्क और फारसी क्रमशः तुर्की और ईरान राज्यों में है। अरबी लोग पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के 20 से भी ज्यादा राज्यों में व्याप्त हैं। इज़राइल यहूदी राज्य है जो 1948 में सत्ता में आया। जहाँ इराक और बेहरीन (जहाँ सुन्नी शासन के अधीन शिया बहुसंख्यक हैं) को छोड़कर अरब के सभी राज्यों में सुन्नियों का प्राधान्य है वहीं ईरान में शिया का प्रभुत्व है। इन विभाजनों ने प्रदेश में तनाव और संघर्षों को जन्म दिया। अरब के लोगों में ही परस्पर अंदरुनी दुश्मनियाँ हैं। दूसरे विश्व युद्ध के बाद, नासिर के मिस्र, बाथिस्ट सीरिया और इराक के नेतृत्व में धर्म–निरपेक्ष, उपनिवेशवादविरोधी और सोवियत–समर्थक शक्तियों का अरब राजनीति पर प्रभुत्व था।

नासिर की 1967 में अरब–इजराइली युद्ध में पराजय और 1973 में तेल की कीमतों में तेज़ी ने तेल की प्रचुरता वाले उन रूढ़िवादी खाड़ी राजतंत्रों की स्थिति को मज़बूत बनाया जिनकी दक्षिण के साथ घनिष्ठ मैत्री थी।

इस क्षेत्र में मुख्य संघर्ष अरब–फिलिस्तिनियों की स्वतंत्र राज्य की माँग के प्रश्न पर है। इज़राइल इसके विरुद्ध है क्योंकि वह इन्हें आतंकवाद का दोषी ठहराता है। आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि अमेरिका इज़राइल के प्रति सहानुभूति रखता है। 1967 और 1973 के युद्धों में अरब की हार और इज़राइल–फिलिस्तीनी वार्ताओं की असफलता का मूल कारण अधिकांश लोग प्रदेश में आतंकवाद और धार्मिक उग्रवाद का बढ़ना मानते हैं। बढ़ती हुई आबादी, सामाजिक–आर्थिक गतिहीनता और अधिकांश राज्यों में लोकप्रिय सहभागिता के लिए क्रियाविधि का अभाव, कुछ अन्य कारक हैं जिनके कारण अलगाव की स्थिति बन गई है। इस क्षेत्र में प्रबल अमेरिका की प्रबल उपस्थिति से (विशेष रूप से मुस्लिम पवित्र स्थानों में) यहाँ के लोगों में गहरा रोष है। इस रोष ने अमेरिका को सऊदी अरब से अपनी सेनाएँ वापिस बुलाने के लिए प्रेरित किया।

11.4.3 भू–सामाजिक स्थिति

इस क्षेत्र में 1971 में ब्रिटिश की वापसी के बाद अमेरिका ने अपनी उपस्थिति को बढ़ा लिया है। शुरू में अमेरिका ने पश्चिमी हित संरक्षक के रूप में शाह के अधीन ईरान निर्मित करने का प्रयास किया। ईरान में 1979 में इस्लामिक क्रांति के फलस्वरूप पश्चिमी विरोधी शासन सुदृढ़ता से सत्ता में आया। इसे पश्चिमी खाड़ी राजतंत्र–समर्थक के लिए एक विकट चेतावनी माना गया। इस कारण और इसी वर्ष के दौरान अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप से अमेरिका को इस

क्षेत्र में अपनी भौतिक उपस्थिति बढ़ाने का बहाना मिला। "कार्टर सिद्धांत के अंतर्गत अमेरिका ने सैन्य हस्तक्षेप के अधिकार का दावा प्रस्तुत किया। इस उद्देश्य को लिए रेपिड डिप्लॉएमेंट फोर्स और केंद्रीय कमांड को मज़बूत बनाया गया। शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ विघटन के कारण इस क्षेत्र में अमेरिका का पूर्व–प्रभुत्व तो था ही, अब पूरी तरह से प्रभुत्व हो गया। यह 1991 में साफ तौर पर कुवैत संकट के दौरान नज़र आया। अमेरिका के नेतृत्व वाली सेनाओं ने न केवल सैन्य रूप से इराक को पराजित किया और उन्हें कुवैत से बाहर कर दिया बल्कि इसे सख्ती से संयुक्त राष्ट्र के द्वारा आदेश प्राप्त आर्थिक प्रतिबंधों के अधीन रखा। तब से इस क्षेत्र में ईरान और इराक पश्चिमी हित के लिए मुख्य खतरे माने जाते हैं। यह द्वितीय खाड़ी युद्ध में अपनी पराकाष्ठा पर था और सत्ता परिवर्तन के लिए अमेरिकी–ब्रिटिश सैनिक कार्रवाई के फलस्वरूप मार्च–अप्रैल 2003 में सद्दाम के शासन को उखाड़ फेंका गया।

11.5 भारत और पश्चिम एशिया

भौगोलिक निकटता और ऐतिहासिक सांस्कृतिक संबंधों के साथ–साथ वर्तमान सुरक्षा सरोकारों और आर्थिक हितों के कारण भारत के लिए पश्चिम एशिया का महत्व है।

11.5.1 भारत के आर्थिक और सुरक्षा सरोकार

(i) तेल आपूर्तियाँ : भारत के इस क्षेत्र से अत्यधिक आयात के मद्देनज़र भारत के आर्थिक पहलू के लिए उचित कीमतों पर तेल की निरंतर आपूर्ति महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में अरब–इज़राइल युद्ध, ईरान–इराक युद्ध और कुवैत संकट जैसे किसी भी प्रकार का परस्पर विरोध से तेल–आपूर्ति में बाधा और/या कीमत में वृद्धि की संभावना हो सकती है, जो भारतीय अर्थव्यवस्था पर अतिरिक्त बोझ होगा।

(ii) धन–प्रेषण : खाड़ी क्षेत्र में 30 लाख 50 हजार (3.5 मिलियन) से भी अधिक भारतीय प्रवासी कामगार हैं। उनका वार्षिक धन–प्रेषण कुछ थोड़े से बिलियन डॉलरं राशि के बराबर है और यह देश के लिए सर्वाधिक विदेशी मुद्रा कमाने वालों में से है। उनका हित भारत के लिए मुख्य सरोकार है। इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार का तनाव या इन देशों के साथ भारत के संबंधों के इन प्रवासी कामगारों और भारतीय अर्थव्यवस्था पर भी प्रतिकूल परिणाम हो सकते हैं।

(iii) धार्मिक उग्रवाद : भारत में अत्यधिक स्वदेशी मुस्लिम आबादी और कश्मीर में आतंकवाद के मद्देनज़र इस क्षेत्र में रूढिवादी धार्मिक तत्वों का प्रभुत्व भारत के लिए गंभीर चेतावनी हो सकती है। सर्व–इस्लामवाद के नारे तले पाकिस्तान स्थिति का शोषण करने का प्रयास करता है। कश्मीर मुद्दे पर इस्लामिक संगठन सम्मेलन ओ.आई.सी. द्वारा पाकिस्तान के प्रति दिखाई गई सहानुभूति इसका प्रमाण है।

(iv) वाणिज्यिक संपर्क और व्यापार मार्ग : भारत का पश्चिम एशिया के साथ व्यापार काफी अच्छा है। भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण ने इन वाणिज्यिक संपर्कों को और मज़बूती प्रदान की है। इस क्षेत्र में हमारा आयात 20 प्रतिशत से भी अधिक है वह भी मुख्यतः हाइड्रोकार्बनों का और हमारा निर्यात 10 प्रतिशत है जिसमें गेहूँ, कपड़ा, बासमती को छोड़ अन्य चावल, और इंजीनियरी एवं विनिर्मित वस्तुएँ शामिल है। भारतीय निर्माण कम्पनियों को इस क्षेत्र से कुछ ठेके मिले हैं और इराक में पुनःनिर्माण के मद्देनजर यहाँ प्रचुर अवसर हैं। फारस की खाड़ी और स्वेज़ नहर ऐसे मुख्य जलमार्ग हैं जिनके रास्ते भारत का अधिकांश व्यापार किया जाता है। इस तरह देश के लिए इन मार्गों की सुरक्षा महत्वपूर्ण है। हवाई यात्रा और परिवहन के युग में पश्चिम की ओर जाने वाली विमान सेवा के संदर्भ में पश्चिम एशिया भारत की अभिन्न कड़ी बन चुका है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं केंद्रीय एशिया के साथ हमारे आपसी–संपर्क में ईरान आवागमन के एक महत्वपूर्ण मार्ग के रूप में उभर रहा है।

11.5.2 भारतीय नीति का उद्भव

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने गुटनिरपेक्ष नीति के अंतर्गत पश्चिम एशिया के उन देशों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया है जो विरोधी (प्रतिद्वंद्वी) सैनिक गुट में शामिल होने के लिए शीत युद्ध दबाव का प्रतिरोध कर रहे थे। इसके परिणामस्वरूप भारत के, नासिर के मिस्र और इराक के बाथियों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित हो पाए। उधर पाकिस्तान, इंग्लैंड, तुर्की, ईरान और इराक अमेरिका समर्थित 1955 के बगदाद समझौते (1955 की क्रांति के बाद इराक के हट जाने के बाद जिसे सेंटो नाम दिया गया) के सदस्य बन गए। भारत द्वारा फिलिस्तीन को निरंतर समर्थन प्रदान किए जाने के कारण, अरब राज्यों में भारत के प्रति एक अनुकूल छवि बनी। इसके साथ ऐतिहासिक संबंध और प्रबल वाणिज्यिक संपर्कों ने भारत को इस क्षेत्र के लगभग सभी देशों के साथ अच्छे संबंध बनाने में मदद की।

(i) फिलिस्तीनी मुद्दा : भारत ने इज़राइल के साथ–साथ फिलस्तीन को जीवनक्षम राज्य के सृजन के लिए नैतिक और राजनीतिक समर्थन को बढ़ाया। भारत का दृष्टिकोण है कि फिलिस्तीन के प्रश्न का मूल अरब–इज़राइली संघर्ष है। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन (पी.एल.ओ.) को 'फिलिस्तीनी लोगों के एकमात्र वैध प्रतिनिधि ' के रूप में मान्यता देने वाला भारत पहला गैर–अरब देश बना। भारत ने जनवरी 1975 में नई दिल्ली में फिलिस्तीन को अपना कार्यालय खोलने की अनुमति प्रदान की। नई दिल्ली में पी.एल.ओ. कार्यालय को मार्च 1980 में पूर्ण राजनयिक पहचान के लिए मंजूरी मिली।

भारत ने नवंबर 1988 में फिलिस्तीन राज्य की मान्यता को मंजूरी दी और नई दिल्ली में पी.एल.ओ. कार्यालय ने फिलिस्तीन राज्य के दूतावास के रूप में काम करना शुरू कर दिया। फिलिस्तीनी राष्ट्रीय प्राधिकरण (पी.एन.ए.) की संस्थापना के एकदम बाद भारत ने पी.एन.ए. के साथ प्रभावशाली समन्वय सुनिश्चित करने के लिए 25 जून, 1996 में गाज़ा में अपना प्रतिनिधित्व कार्यालय खोला। 1991 में मेड्रिड सम्मेलन के साथ प्रारंभ हुई मध्य पूर्व शांति प्रक्रिया के शुरुआती दौर से ही भारत ने इसका समर्थन किया। इसने इज़राइलियों और फिलिस्तीनियों के बीच हुए अगले सभी शांति समझौतों का अनुमोदन भी किया। फिलिस्तीनी नेताओं ने भारत के कई दौरे किए। अगस्त 2001 में राष्ट्रपति यासर अराफात नई दिल्ली आए। भारत ने फिलिस्तीन क्षेत्रों में विकास कार्यों के लिए वित्तीय एवं तकनीकी सहायता में वृद्धि की है। आई.सी.एस.एस.आर. योजना के अंतर्गत भारत द्वारा फिलिस्तीनी विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ और आई.टी.ई. सी. कार्यक्रम के अंतर्गत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के लिए छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती है।

(ii) इज़राइल : भले ही भारत 1950 में इज़राइल के यहूदी राज्य को मान्यता प्रदान कर चुका था, लेकिन पूर्ण राजनयिक संबंध उसने 1992 में ही स्थापित किए। तब से अब तक धार्मिक उग्रवाद और विश्व–व्यापी आतंकवाद के आम सरोकारों के मद्देनज़र दोनों देश के बीच संबंध बढ़े हैं। भारत और इज़राइल ने "आसूचना–आदान–प्रदान और "प्रति–विद्रोह" में नज़दीकी "सहयोग" विकसित किया है। भारत, इज़राइली शस्त्रों का प्रमुख खरीदार बन गया है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी और विशेष रूप से शुष्क भूमि कृषि जैसे क्षेत्रों में, भारत–इज़राइल सहयोग की काफी संभावना है। हाल ही में उच्च–स्तरीय द्वि–पक्षीय दौरों में एकदम तेज़ी आई है। 1999 में, राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रजेश मिश्र ने इज़राइल का दौरा किया और वहाँ के प्रधानमंत्री इहुद बराक से मिले। गृह मंत्री लालकृष्ण आडवाणी और उसके बाद विदेश मंत्री जसवंत सिंह अगले वर्ष इज़राइल गए। इज़राइली प्रधानमंत्री ने सितंबर 2003 में भारत का दौरा किया और दोनों देशों ने द्विपक्षीय संबंधों को सुदृढ़ करने और क्षेत्रीय और विश्व–व्यापी सभी स्तरों के आतंकवाद से लड़ने का निर्णय लिया।

(iii) इराक संकट : भारत और इराक ने 1970 और 1980 के दशक में घनिष्ठ राजनीतिक और आर्थिक संबंध स्थापित किए। इसे संयोग ही कहा जा सकता है कि दोनों देशों ने तत्कालीन सोवियत संघ के साथ मैत्री संधियाँ करने का निर्णय लिया। 1971 में भारत ने और 1972 में इराक ने एक समय ऐसा था जब इराक भारत की तेल की 30 प्रतिशत जरूरतों की पूर्ति का स्रोत था और वहाँ कार्य कर रहे 90,000 भारतीयों का घर था। केवल यही एक अरब देश था जिसने कश्मीर मुद्दे पर भारत का निरंतर समर्थन किया। इस देश में भारतीय फर्मों को कुछ सबसे बड़े ठेके भी मिले। 1991 में कुवैत पर इराक के आक्रमण से भारतीय विदेशी नीति के समक्ष एक कठिन विकल्प खड़ा हो गया। इस आक्रमण के कारण तेल के दामों में हुई वृद्धि से भारत के भुगतान संतुलन पर गहरा बोझ पड़ा। भारत शांतिपूर्ण राजनीतिक निपटारे के पक्ष में था लेकिन बाद में उसने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद संकल्प 661 और 678 का समर्थन किया जिसमें इराक की निंदा की गई थी और उसके विरुद्ध बल का प्रयोग करने के लिए प्राधिकृत किया गया था। 1991 के खाड़ी युद्ध के पश्चात् पूरे विश्व में भारत ने दृढतापूर्वक कहा कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा इराक के विरुद्ध लगाए गए 'अविवेकपूर्ण और अन्यायपूर्ण प्रतिबंधों को हटाना चाहिए और वह इराकियों की तकलीफों के प्रति संवेदनशील था। सन 2003 के इराक संकट के दौरान, नई दिल्ली ने अमेरिका की सैनिक कार्रवाई के प्रति चिन्ता व्यक्त की क्योंकि इससे मानव और सामग्री के प्रभावित होने की संभावना थी और तेल की कीमतें भी प्रभावित हो सकती थीं। भारत चाहता था किसी भी प्रकार की सैनिक कार्रवाई संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्राधिकृत होनी चाहिए। इराक के विरुद्ध अमेरिका का न तो भारत ने समर्थन किया और न ही इराक के विरुद्ध उस पर किए गए हमले की खुलकर आलोचना की। इस तरह भारत सरकार ने बीच का रास्ता अपनाया। हालांकि भारतीय संसद के दोनों सदनों ने सर्वसम्मत प्रस्तावों में (अप्रैल 2003) बिना संयुक्त राष्ट्र के प्राधिकार के बिना की जाने वाली सैनिक कार्रवाई पर खेद प्रकट किया।

(iv) ईरान : पश्चिमी एशिया के देशों में से ईरान भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के सबसे नज़दीक है। शाह के शासन काल के दौरान भारत के ईरान के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध थे जो 1979 की इस्लामिक क्रांति के बाद कमजोर पड़ गए। 1990 के दशक के दौरान, भारत और ईरान ने (सुधार–उन्मुख और व्यावहारिक नेतृत्व के अधीन) एक बहुपक्षीय संबंध बनाने के लिए कदम उठाए। इससे दोनों देशों के बीच विभिन्न विश्व–व्यापी और क्षेत्रीय मुद्दों पर बड़ी आम राय उभरी है। संयोगवश भारत का ईरान के संबंध में दृष्टिकोण रूसी स्थिति के अनुरूप है। यह अमेरिका के उस दृष्टिकोण से भिन्न है जो ईरान को "दुष्ट/धूर्त राज्य या बुराई की धुरी" बताता है। ईरान केंद्रीय एशिया (विस्तृत ब्यौरे के लिए देखिए 11.3.4 (पअ)) और यहाँ तक की रूस के साथ व्यापार के लिए भारत के सर्वाधिक उपयुक्त पारगमन (आने–जाने) विकल्प के रूप में उभर रहा है। नई दिल्ली, मॉस्को और तेहरान ने 12 सितंबर 2000 को सेंट पीटर्सबर्ग में "उत्तर–पश्चिम मार्ग (कॉरिडोर) के माध्यम से, ईरान के रास्ते से रूस को भारतीय माल भेजने के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किए। कई अड़चनों को दूर करना अभी बाकी है लेकिन इस मार्ग के एक बार पूरी तरह चालू हो जाने के बाद, इससे केंद्रीय एशिया के साथ–साथ केंद्रीय यूरोप के साथ भी भारतीय व्यापार को आगे बढ़ाया जा सकेगा। ईरान और भारत, दोनों ने एक दूसरे के देशों में नियमित उच्चस्तरीय दौरे किए हैं। भारत के प्रधानमंत्री ने अप्रैल 2001 में तेहरान का और ईरानी राष्ट्रपति ने जनवरी 2003 में दिल्ली का दौरा किया।

(v) खाड़ी सहयोग परिषद (जी सी सी) : खाड़ी सहयोग परिषद का गठन छह खाड़ी राजतंत्रों सऊदी अरब, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात, कतर, बहरीन और ओमान द्वारा मई 1981 में किया गया। यह ईरान में 1979 की इस्लामिक क्रांति द्वारा आई चुनौतियों, ईरान–इराक युद्ध (1980–88) और अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप (1972) की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उभरा। ये राज्य रूढ़िवादी इस्लामिक राजतंत्र हैं और उग्रवादी इस्लामिक समूहों और आतंकवादियों के बढ़ते हुए दबाव के अधीन हैं। इस परिषद ने इन देशों और भारत के बीच एक सामान्य आधार निर्मित किया है। खाड़ी सहयोग परिषद, भारत के दो उच्च व्यापार सहभागियों में से भी हैं। भारतीय रिज़र्व बैंक के अनुसार भारत में होने वाले जी.सी.सी. निर्यात 1987–88 के वित्त वर्ष में 1.5 बिलियन यू.एस. डॉलर से बढ़कर 1999–2000 में लगभग 60 बिलियन यू.एस. डालर हुआ है। भारत से जी.सी.सी. को होने वाला निर्यात जो 1987–88 में 0.5 बिलियन यू.एस. डालर था वह बढ़कर 1990–2000 में 3.0 बिलियन यू.एस. डॉलर हो गया।

11.6 सारांश

केंद्रीय एशिया और पश्चिमी एशिया के भारत के साथ घनिष्ठ भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संपर्क हैं। भारत की इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण राजनैतिक, सामरिक और आर्थिक साझेदारी है। यह क्षेत्र प्रमुख विश्व–व्यापी और क्षेत्रीय शक्तियों के बीच गहन शत्रुता की रणभूमि के रूप में उभरा है। यह धार्मिक उग्रवाद और अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद के उभार का साक्षी है। इनके भारत की सुरक्षा पर गंभीर प्रभाव पड़े हैं। आर्थिक दृष्टि से भारत तेल आयात के लिए इस क्षेत्र पर बहुत ज्यादा निर्भर है। भारतीय प्रवासी कामगारों द्वारा धन–प्रेषण विदेशी मुद्रा का महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इन क्षेत्रों के देशों में उच्च खपत स्तरों और उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के युग में भारत के बढ़ते हुए निर्यात ने भारतीय व्यापार और उद्योग के लिए व्यापक अवसर उत्पन्न किए हैं। इस क्षेत्र में भारत की उपस्थिति और प्रभाव विश्व–व्यापी खिलाड़ी बनने की दिशा में निर्णायक कदम है।

11.7 अभ्यास

1. केंद्रीय एशिया के भू–सामरिक महत्व का वर्णन कीजिए।
2. केंद्रीय एशिया के साथ भारत के ऐतिहासिक संबंधों का वर्णन कीजिए।
3. फिलिस्तीनी मुद्दे पर भारत की नीति के संबंध में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. भारत–इज़राइल के उभरते हुए संबंधों की चर्चा कीजिए।
5. इराक संकट के संदर्भ में भारत की अनुक्रिया पर टिप्पणी लिखिए।
6. केंद्रीय एशिया के साथ भारत के संबंध ईरान के लिए क्यों महत्व रखते हैं?
7. केंद्रीय एशिया में भारत के सुरक्षा सरोकारों पर टिप्पणी कीजिए।
8. भारत और केंद्रीय एशिया के बीच आर्थिक सहयोग के प्रमुख क्षेत्र कौन से हैं?
9. केंद्रीय एशिया के साथ भारत की आर्थिक अन्तःक्रिया में प्रमुख बाधाओं की पहचान कीजिए?
10. पश्चिम एशिया में भारत के मुख्य सुरक्षा और आर्थिक सरोकार क्या हैं।

इकाई–12

भारत, लैटिन अमेरिका और कैरीबियन

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना

12.2 राजनीतिक और राजनयिक प्रयास

12.2.1 भारत–लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई संबंधों के पूर्ववृत्त

12.2.2 सांस्कृतिक आयाम

12.3 भारत–लैटिन अमेरिकी आर्थिक संबंधों का सिंहावलोकन

12.3.1 व्यापार और निवेश संबंधों का विश्लेषण

12.3.2 फोकस एल.ए. सी : अर्थ, कार्यक्षेत्र और मूल्यांकन

12.3.3 अपेक्षित कार्यनीति

12.3.4 भारतीय व्यापार के लिए क्षेत्रीय एकीकरण का निहितार्थ

12.4 सारांश

12.5 शब्दावली

12.6 अभ्यास

12.1 प्रस्तावना

भारत की विदेश नीति निर्धारण में लैटिन अमेरिकी और कैरीबियन क्षेत्र सापेक्षिक रूप में लंबे समय तक कम प्राथमिकता का क्षेत्र रहा है। जबकि वास्तविकता यह है कि (i) भारत के इस क्षेत्र के साथ मैत्री संबंध विकसित करने में कोई बाधक जटिल कारक नहीं है; (ii) इस क्षेत्र में भारत की कलाओं, साहित्य और संस्कृति की बड़ी ख्याति है। दूसरी ओर, लैटिन अमेरिका युद्ध के बाद के वर्षों में अपनी अर्थव्यवस्था को नया आयाम प्रदान करने के लिए पश्चिमी देशों की ओर उन्मुख है। अमेरिका और ब्रिटेन की औपनिवेशिक विरासत और नव–औपनिवेशिक आर्थिक और राजनीतिक हितों का युद्ध के बाद के वर्षों में क्षेत्र के विकास की प्रक्रिया पर प्रभुत्व रहा है। किंतु, समय बीतने के साथ–साथ लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई देशों ने आर्थिक और सामाजिक विकास की अपनी प्रक्रियाओं के संदर्भ में तृतीय विश्व के साथ अपनी पहचान बनाने की कोशिश की है। इसके अलावा, इस क्षेत्र के कई देशों में 1930–80 के दौरान सैनिक और नागरिक शासन रहे हैं। किंतु 1980 के दशक के शुरू के वर्षों में इस क्षेत्र के अधिकांश देशों में लोकतांत्रिक शासन–व्यवस्था की फिर से स्थापना हुई। भारत के साथ, लैटिन अमेरिकी देशों की भी विभिन्न बहु–पक्षीय संस्थाओं और क्षेत्रीय संगठनों में सदस्यता है। इन देशों ने भारत के कई सामाजिक–आर्थिक और औपनिवेशिक अनुभवों को भी प्राप्त किया है। इस क्षेत्र के कुछ प्रमुख देशों ने अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के आर्थिक विकास और प्रक्रियाओं को समान रूप से अपनाया है। इस समय, भारत और लैटिन अमेरिका, दोनों ही अंतर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संगठनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं और अपने–अपने क्षेत्रों में अपने लोगों के कल्याण के संबंध में उनकी रुचियों में समानता है।

12.2 राजनीतिक और राजनयिक प्रयास

भारत–लैटिन अमेरिकी और कैरीबियाई संबंधों के ऐतिहासिक विकास का पता लगाते हुए, हम उन स्पेन/पुर्तगाली नौचालकों को याद कर सकते हैं जो भारतीय धन–दौलत की खोज में भारत आ रहे थे और संयोगवश लैटिन अमेरिका तथा कैरीबियाई तटों पर पहुँच गए थे। वैसे लगभग 500 वर्षों पूर्व दो क्षेत्रों के बीच व्यापार का मार्ग खोलने के लिए यह प्रयास सकारात्मक रहा। वर्षों पूर्व न केवल वस्तुओं का आदान–प्रदान शुरू हुआ बल्कि विचारों का भी आदान–प्रदान हुआ। एक क्षेत्र की आत्म–निर्भर समुदाय व्यवस्था को दूसरे क्षेत्र ने विचारों के आदान–प्रदान के आधार पर ही अपनाया। हालांकि लैटिन अमेरिका ने 19वीं शताब्दी के शुरू में औपनिवेशिक शक्तियों से अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की किंतु लंबे समय तक यह ब्रिटिश और अमेरिकी संरक्षण के आर्थिक संलग्नक बना रहा। वर्ष 1947 में भारत की आजादी से पहले दोनों क्षेत्रों के नेता उपनिवेशवाद के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में 1927 में ब्रुसेल्स में मिले। भारतीय नेशनल कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय दल का प्रतिनिधित्व कर रहे नेहरू भारत तथा लैटिन अमेरिका के एकसमान औपनिवेशिक अनुभवों और एक जैसे हितों से अवगत थे।

12.2.1 भारत–लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई संबंधों के पूर्ववृत

हालांकि इसमें कोई संदेह नहीं कि संक्रमण काल के दौरान भारत ने कुछ ब्रिटिश ज्ञान और प्रस्तावों को बनाए रखा किंतु युद्धोत्तर वर्षों में भारत अपनी विदेश नीति का स्वयं निर्माता बन गया। किंतु विकसित हो रहे विश्व के आर्थिक और राजनीतिक विकासों की तात्कालिकता को ध्यान में रखते हुए शीत युद्ध के बाद के युग में भारत ने विदेश नीति मामलों में अपना दृष्टिकोण स्वयं निर्धारित करना शुरू किया है। जहाँ तक लैटिन अमेरिका का संबंध है, 1961 में नेहरू के इस क्षेत्र में दौरे से आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संबंध विकसित करने के लिए मैत्रीपूर्ण सहयोगात्मक बातचीत शुरू हुई और 1968 में इनका, माया और एज़टेक सभ्यताओं की भूमियों की इंदिरा गांधी की समुद्री यात्रा से दोनों देशों के बीच संबंधों को मज़बूती मिली। इन दौरों के दौरान, लैटिन अमेरिकी और कैरीबियाई क्षेत्र में महत्वपूर्ण राजनीतिक विकास हुए : 1959 में क्यूबा की क्रांति और राष्ट्रवाद का पुनरुत्थान, तीसरे विश्व के देशों में पहचान और साफ्टा, केंद्रीय अमेरिकी सामान्य बाजार और एंडीज़ पर्वत समुदाय (नीचे 12.5 देखें) जैसे विभिन्न आर्थिक एकता परियोजनाओं की शुरुआत। किंतु क्यूबा प्रक्षेपास्त्र (मिसाइल) संक्रमण (1962) के परिणामस्वरूप पश्चिमी गोलार्द्ध में अमेरिकापरक नीतियों को निष्पक्ष करने के लिए लैटिन अमेरिकी देशों ने समुचित नीति विकल्पों को अपनाने की खोज करनी शुरू की। उदाहरण के लिए, 1960 के दशक के शुरू में ब्राज़ील और मैक्सिकों में संकट में इन देशों ने एशिया और अफ्रीका के साथ संबंध विकसित शुरू करने के प्रयास किए। इसके अलावा, 1960 के दशक से कैरीबियाई वि–उपनिवेशवाद की प्रक्रिया शुरू हुई और छोटे गणतंत्रों को तीसरे विश्व के देशों में नई पहचान प्राप्त करने की शुरुआत हुई। 1968 में चिली में अंकटाड–II बैठक जैसे विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर भारत ने भी लैटिन अमेरिका के साथ बातचीत शुरू की।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के संस्थापक–सदस्य के रूप में भारत ने काफी ख्याति अर्जित की और तीसरे विश्व के कई देशों को इस आंदोलन में आकर्षित किया। शुरू में, 1961 में इस आंदोलन के बेलग्रेड में हुए सम्मेलन में केवल क्यूबा एकमात्र सदस्य था। शीत युद्ध तनावों और एशिया तथा अफ्रीका में उपनिवेशवाद से संबंधित मुद्दों से निपटने में अपनी कम संभावनाओं के बावजूद संगठन द्वारा बढ़कर भूमिका निभाने पर नैम ने 1970 के दशक में लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई देशों को काफी आकर्षित किया। नैम ने अपना दायरा बढ़ाया और समस्त विकासशील विश्व द्वारा अनुभव की जा रही संकटकालीन आर्थिक समस्याओं में से कुछ पर प्रतिक्रिया शुरू की। नैम की प्रसिद्धि की इस तथ्य से पुष्टि होती है कि 1983 तक 17 लैटिन अमेरिकी देशों ने पूर्ण सदस्यों और 10 ने पर्यवेक्षकों के रूप में भाग लिया। बल्कि लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई देशों के इकलैट सेला और ओ.एल.ए.डी.ई. जैसी संस्थाओं ने भी नैम के विचार–विमर्शों में रुचि लेनी शुरू की। नैम के बाद के सम्मेलनों में लैटिन अमेरिका की समस्याओं और मुद्दों पर ज्यादा ध्यान देना बढ़ता गया।

1970 के दशक में, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली के वैश्विक आर्थिक संकट, तेल की कीमतों में बढ़ोत्तरी और मंदी की स्थिति ने गै–तेल उत्पादक विकासशील देशों को बुरी तरह से प्रभावित किया। ब्राज़ील जैसे कई लैटिन अमेरिकी देशों ने अभूतपूर्व भुगतान संतुलन संकटों का सामना किया। किंतु, गतिरोध की जाँच के लिए प्रयास जारी रहे। गैर–तेल उत्पादक लैटिन अमेरिकी देशों सहित विकासशील देशों की समस्याओं का समाधान करने का दक्षिण–दक्षिण सहयोग के रूप में एक नया शक्तिशाली परिदृश्य निर्मित हुआ। सहयोग की इस भावना और नैम के प्रयासों से नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की घोषणा और इस पर कार्य योजना के लिए 1974 में संयुक्त राष्ट्र आम सभा के विशेष सत्र में मैक्सिको और वेनेज़ुएला ने अफ्रीका आदि अन्य देशों के साथ प्रस्ताव प्रस्तुत किया। वैसे इस दौरान ताँबा, लौह अयस्क और बॉक्साइट के मामले में जिंस करार (वस्तु समझौते) भी हुए और कुछ लैटिन अमेरिकी निर्माता एवं निर्यातक देशों को उनकी आर्थिक संकट स्थितियों का समाधान करने में अस्थायी सुविधा भी मिली।

बाद में 1979–80 में जब दूसरी बार तेल की कीमतों में बढ़ोत्तरी हुई तो विश्व अर्थव्यवस्था में पश्चिमी देशों में ऊँची ब्याज दरों के साथ अपस्फीतिकारी चरण और संरक्षणवादी शासन ने भारी कर्जदार/ऋणग्रस्त लैटिन अमेरिकी देशों के ऋणों की पुनर्भुगतान क्षमता को बुरी तरह से प्रभावित किया। 1980 के दशक में जबरदस्त ऋण संकट के अतिरिक्त क्षेत्र में अर्जेंटीना में 1983 में, ब्राज़ील में 1985 में और चिली में 1990 में लोकतांत्रिक शासनव्यवस्था कायम हुई। लैटिन अमेरिका के लिए 1980 का दशक नुकसानदेह दशक था किंतु भारत ने इस दशक में प्रतिवर्ष 5.6 प्रतिशत जी.डी.पी. वृद्धि दर को बनाए रखा (जबकि 1950–80 के दौरान यह विकास दर 3.5 प्रतिशत रही)।

1980 के दशक के शुरू में भारत ने बहु–पक्षीय दृष्टिकोण के स्थान पर अर्जेंटीना, ब्राजील और मैक्सिको जैसे प्रमुख लैटिन अमेरिकी देशों के साथ अपने आर्थिक और राजनीतिक संबंधों को मज़बूत करने के लिए चुनिंदा द्विपक्षीय दृष्टिकोण को अपनाया। भारत ने अर्जेंटीना के साथ 1981 में पहला औपचारिक व्यापार समझौता किया। 1983 में अर्जेंटीना में और 1985 में ब्राजील में लोकतांत्रिक शासन की बहाली ने क्षेत्र में चुनी हुई नागरिक सरकारों का मार्ग प्रशस्त किया। ब्राज़ील और भारत, दोनों के आर्थिक विकास के समान अनुभव रहे और उन्होंने दो–तरफा संबंध बनाने के प्रयास किए। हालांकि दोनों देशों ने शुरू में, वर्ष 1968 में (i) व्यापार; और (ii) परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग से

संबंधित मुद्दों पर दो समझौतों पर हस्ताक्षर किए थे किंतु संयुक्त आयोग की स्थापना से इन समझौतों को मज़बूती मिली। संयुक्त आयोग निश्चित समयावधि पर उनकी प्रगति और दोनों देशों के आपसी हितों के अन्य मुद्दों की समीक्षा करता है।

लैटिन अमेरिका में लंबे समय तक प्रतिद्वंद्वी रहे अर्जेंटीना और ब्राज़ील के बीच 1988 में एकता, सहयोग और विकास संधि से व्यापक राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों पर साथ–साथ ध्यान देकर क्षेत्रीय आर्थिक विकास को बढ़ावा देने का प्रयास रहा। इसमें लोकतांत्रिक मूल्यों को सुदृढ़ करना, मानव अधिकारों का सम्मान, सैनिक सामरिक क्षेत्रों (विशेष तौर पर नाभिकीय क्षेत्र) में परस्पर विश्वास स्थापित करने के उपायों सहित दोनों प्रमुख देशों के बीच तनावों के मुद्दों को कम करना जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे शामिल हैं।

1990 के दशक से लोकतंत्रीकरण, एकता और भूमंडलीकरण – ये तीन शक्तियाँ लैटिन अमेरिका को विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत किए हुए हैं। क्यूबा को छोड़कर शेष समूचे क्षेत्र में लोकतंत्र की स्थापना हो चुकी है। क्षेत्र में तेजी से निजीकरण हो रहा है। इस क्षेत्र में देशों का उच्चतम प्रतिशत है जो अपनी राष्ट्रीय दूरसंचार प्रणाली का 70 प्रतिशत निजीकरण कर चुके हैं, जबकि यूरोप के देशों में 55 प्रतिशत एशिया प्रशांत क्षेत्र में यह 46 प्रतिशत और अफ्रीका में यह 28 प्रतिशत ही हुआ है। वेनेजुएला में दूरसंचार क्षेत्र का शत–प्रतिशत निजीकरण हो चुका है। क्षेत्र ने 1997 से लेकर 2001 तक प्रतिवर्ष 67 बिलियन डॉलर एफ.डी.आई आकर्षित किया है।

नई सहस्राब्दी के शुरू में वामपंथी लहर का लैटिन अमेरिका के कई देशों ने साक्षात्कार किया। 2002 में वर्कर्स पार्टी के लूला (स्नसं) का ब्राज़ील के राष्ट्रपति के रूप में चुनाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना थी। इसके बाद इक्वैडॉर में वामपंथी प्रत्याशा लुसिओ गुटिज़ राष्ट्रपति चुने गए। वेनेजुएला के राष्ट्रपति वामपंथी हैं, जबकि चिली के राष्ट्रपति समाजवादी। अर्जेंटीना का अभिजात भी पेरिओनिसतास के साथ वामपंथी की ओर झुकाव है। ये चुनाव परिणाम बाज़ार उदारीकरण से विकर्षण और आय–वितरण, रोज़गार सृजन तथा गरीबी हटाने जैसे सामाजिक मुद्दों पर सरकार के ज्यादा ध्यान देने की मतदाताओं की माँग को दर्शाते हैं। साथ ही, नव–उदारवाद पर कड़े प्रहार और वर्तमान विकास मॉडल को बनाए रखने पर गंभीरता से प्रश्न उठाए जा रहे हैं। ज्यादा बेरोज़गारी, सामाजिक खर्चे में अत्यधिक कटौती और आर्थिक ठहराव ने सामाजिक तनाव की स्थिति बना दी है जिसमें घरेलू शासन और आर्थिक सुधारों को जारी रखना कठिन समस्या बन गई है। वेनेजुएला में 2002 में राजनीतिक अस्थिरता हुई और इससे गंभीर समस्याएँ उत्पन्न हुई क्योंकि इसमें समूचे विपक्ष सहित काफी अधिक संख्या में लोग शामिल हुए। इसलिए कुछ विश्लेषकों का यह मानना है कि यदि बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक को आर्थिक सुधारों का दशक कहा जा सकता है तो इस शताब्दी के पहले दशक को राजनीतिक और सामाजिक सुधारों के दशक की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। किंतु दूसरी ओर, इसके विरोध में यह विचार था कि यह आर्थिक उदारीकरण के कारण है। यह उदारीकरण महाद्वीप को 1980 के दशक की गंभीर अभिघातक स्थिति से स्वयं को उबारने और 1990 के दशक में विकास पथ पर वापस बढ़ने के कारण हुआ। एक उल्लेखनीय उदाहरण प्रमुख लैटिन अमेरिकी देशों द्वारा अत्यधिक एफ.डी.आई. को आकर्षित करना रहा है और क्षेत्र ने 1990 के दशक में समग्र रूप में उच्च निर्यात वृद्धि दर को बनाए रखा है।

पर्यावरण के क्षेत्र में 1992 के रियों सम्मेलन ने सीमित संसाधनों और भविष्य में बनाए रखने वाले विकास की अनिवार्यता को विश्व–समुदाय को याद दिलाया। विकास के प्रश्न पर नई संकल्पनात्मक वैधता क्षेत्रीय और विशेष तौर पर लैटिन अमेरिका पर केंद्रित करने के स्थान पर विश्व–व्यापी दृष्टिकोण से पैदा हुई।

ब्राज़ीलियाई सरकार द्वारा 1998 में परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद विश्व–स्तर पर अर्जेंटीना और ब्राज़ील 'प्राथमिक देश' नहीं रह गए हैं। 12.2.2 सांस्कृतिक आयाम लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई क्षेत्र में भारत की पर्याप्त प्रसिद्धि है। क्षेत्र के कई लैटिनवासियों के दिलो–दिमाग पर भारतीय दर्शन, योग और गांधी की शिक्षाओं की अमिट छाप है। हजारों व्यवसायी, बुद्धिजीवियों और पेशेवरों ने भारतीय अध्यात्मवाद और योग में उत्कृष्टता हासिल की है। उन्होंने भारतीय संस्कृति और मूल्यों के प्रति आदर और श्रद्धा का आधार विकसित किया है। पूरे लैटिन अमेरिका में साईं बाबा, ब्रह्मकुमारियों, हरे कृष्ण और भारत के दर्जनों अन्य धार्मिक गुरुओं के हजारों अनुयायी हैं। इनमें से कुछ अनुयायी समय–समय पर समूहों में और अलग–अलग भी भारत की तीर्थ यात्रा करते रहते हैं। सिर्फ इतना ही नहीं, उन लोगों ने भारत के आयुर्वेदिक और प्राकृतिक उत्पादों में भी रुचि लेनी शुरू कर दी है।

गांधी और उनके अहिंसा के पाठ ने इस क्षेत्र के शिक्षकों, राजनीतिक विरोधी नेताओं और गैर–सरकारी संगठन में रुचि जागृत की है। इन देशों की 500 से अधिक संस्थाओं, स्कूलों, पुस्तकालयों, स्ट्रीटों और स्कवेयरों के नाम भारत और उसके नेताओं के नाम पर रखे गए हैं। क्षेत्र के विभिन्न देशों के महत्वपूर्ण स्थलों पर गांधी जी की मूर्तियों और आदमकद प्रतिमाएँ लगाई हुई हैं। अभी हाल ही में ब्राज़ील की यूनिवर्सिटी ऑफ लॉन्ड्रिना में गांधी जी की मूर्ति का अनावरण किया गया। इस मूर्ति को भारत के भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद (आई.सी. सी.आर) ने विश्वविद्यालय एफ्रो–एशियाई अध्ययन केंद्र को भेंट किया था। संस्थागत स्तर पर, क्षेत्र के 14 देशों के साथ सभी सांस्कृतिक समझौतों और सांस्कृतिक आदान–प्रदान कार्यक्रमों में भारत की भागीदारी है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद (आई.सी.सी.आर)

भारतीय कलाकारों और शिक्षकों को प्रायोजित करता है। कैरीबियाई क्षेत्र के साथ हमारे सांस्कृतिक संबंधो का अन्य महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इनमें कुछ देशों के यहाँ भारतीय मूल के समुदाय भी हैं। उन्हें न केवल अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व है बल्कि वे दीपावली, होली और ईद जैसे त्यौहार बडे हर्षोल्लास से मनाते हैं। विद्यार्थियों, शिक्षकों और तकनीक–विदों के प्रशिक्षण के लिए आई.टी.ई.सी. कार्यक्रम के अंतर्गत तकनीकी सहयोग और भारत में अध्ययन दौरे वे महत्वपूर्ण आयाम हैं जिनसे इन देशों के साथ आपसी संबंध मजबूत होते हैं।

हमारे द्विपक्षीय संबंधो का एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम विदेश कार्यालय स्तर पर द्विपक्षीय परामर्श से संबंधित है। कुछ ही वर्षों में भारत ने इस क्षेत्र के दस देशों के साथ इस विषय पर समझौता ज्ञापन सहयोग पत्र पर हस्ताक्षर किए और कुछ विचाराधीन हैं। द्विपक्षीय संबंधो की नियमित रूप से समीक्षा से दूसरे देश के साथ बेहतर समझ बनी है जिससे आगे चलकर आपसी हित के बहु–पक्षीय मुद्दो पर समन्वय में सुधार हुआ है। विभिन्न सरकारी दौरों और तकनीकी सहयोग, विदेश कार्यालय स्तर परामर्शों के अनुपूरक रहे। आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों में निजी क्षेत्र के स्तर पर बातचीत में बढ़ोतरी हो रही है और द्विपक्षीय संबंधों में मजबूती आ रही है।

1991 में भारत ने आर्थिक सुधारों को व्यापक बनाने के लिए पहल भी की। क्षेत्र में कई अर्थव्यवस्थाओं के उदारीकरण के साथ सार्वजनिक और निजी (सरकारी और गैर सरकारी) दोनों क्षेत्रों के स्तरों पर अंतःक्रिया बढ़ रही है। एक ओर जहाँ भारत ने क्षेत्र के सात देशों के साथ व्यापार और आर्थिक सहयोग के समझौतों पर हस्ताक्षर किए हैं। और कुछ अन्य के साथ व्यापार परिषदें बनाई हैं, वहीं क्षेत्र के निजी क्षेत्र और शीर्ष व्यापार और औद्योगिक इकाइयों के बीच कई समझौतों पर हस्ताक्षर भी किए हैं। इस संबंध में विदेश मंत्रालय की 1999–2000 की वार्षिक रिपोर्ट में दोनों तरफों के बीच आर्थिक संबंधों के पहलुओं पर प्रबल रूप से ध्यान केंद्रित किय गया है। रिपोर्ट में कहा गया है, "लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई क्षेत्र से संबंधित हमारी नीतियों का प्रमुख बल पहले से ही वर्तमान संबंध को मज़बूत एवं विस्तृत करना है तथा इसे और अधिक आर्थिक आधार देना है।"

12.3 भारत–लैटिन अमेरिकी आर्थिक संबंधों को सिंहावलोकन

लैटिन अमेरिकी और कैरीबियाई देशों के साथ भारत के आर्थिक संबंधों में सहसंबद्धव्यापार निवेश, विज्ञान व प्रौद्योगिकी और संस्था के विस्तृत पहलू शामिल हैं जबकि आर्थिक उदारीकरण ने दोनों क्षेत्रों के बीच इन संबद्धताओं को मजबूत बनाने के लिए कई अवसरों का वर्णन किया गया है। विश्व–व्यापी प्रतिस्पर्धा के कारण वे एक दूसरे के लिए बाजार में स्थान बना पाए हैं। इसके आगे, सार्वभौमीकरण के प्रारंभ से व्यापार और निवेश क्षेत्रों में दोनों तरफ से निजी सेक्टरों की भूमिका निरंतर बढ़ रही है। उसे दोनों क्षेत्रों के बीच आर्थिक संपर्को को मजबूती प्रदान करने के लिए भारतीय निर्यात संवर्धन परिषदों (ई.पी.सी), व्यापार और उद्योग निकायों को शामिल करने के विचार से भारत सरकार के वाणिज्य मंत्रालय ने "फोकस–एल.ए.सी" कार्यक्रम जैसी नवप्रवर्तक संस्थागत क्रियाविधि को अपनाकर उसे कार्यान्वित किया गया है। इकाई के इस भाग में हम दो क्षेत्रों के बीच व्यापार–निवेश संबंधों के कार्य–निष्पादन और उसकी प्रगति की संक्षेप में समीक्षा करेंगे।

12.3.1 व्यापार और निवेश संबंधों का विश्लेषण

1990 के दशक में भारत के साथ व्यापार और नई शताब्दी के प्रारंभ में कई रोचक विशेषताओं के साथ कई परेशान करने वाले तथ्य भी प्रस्तुत किए। भारत का लैटिन अमेरिकी और कैरीबियाई देशों के साथ पूरा व्यापार (निर्यात और आयात) 1991–92 में 477.7 मिलियन अमेरिकी डॉलर से बढकर 1994–95 में 1138.60 मिलियन अमेरिकी डॉलर, 1997–98 में 1280.25 मिलियन और 2000–2001 में 1705.8 मिलियन अमेरिकी डॉलर हो गया। इस क्षेत्र में भारत का कुल निर्यात 1991–92 में 124.0 मिलियन से बढ़कर 2000–2001 में 981.8 मिलियन अमेरिकी डॉलर यानी लगभग आठ गुना हो गया। और इसका आयात दुगुने से थोड़ा ज्यादा अर्थात् 1991–92 में 3483 मिलियन की तुलना में 2000–01 में 724.0 मिलियन अमेरिकी डॉलर हो गया। दुर्भाग्यवश, 1990 के दशक में इस क्षेत्र में भारत को जो घाटा हुआ वह व्यापार घाटा वैसा ही बना रहा। नई शताब्दी की शुरुआत में अर्थात् 2000–01 में भारत 257.8 मिलियन अमेरिकी डॉलर के अतिरिक्त व्यापार के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता था।

लैटिन अमेरिकी और कैरीबियन देशों के कुल व्यापार के संदर्भ में देखें तो यह विश्व व्यापार का लगभग 5 प्रतिशत है। क्षेत्र में भारत के आयात का हिस्सा बहुत ही कम रहा है, हालांकि इसका लक्ष्य निकट भविष्य में लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई देशों के कुल आयात के कम से कम 1 प्रतिशत तक पहुँचने का है। भारत के लिए इस लक्ष्य तक पहुँचना कठिन नहीं होगा क्योंकि ब्राजील में भारत के आयात का हिस्सा 2002 में 1.2 प्रतिशत को पार कर गया था।

लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई देशों के साथ भारत के व्यापार की एक अन्य आकर्षक विशेषता उसकी क्षेत्र के चुने हुए देशों के साथ व्यापार के केंद्रीकरण में दृष्टिगत होती है। उदाहरण के लिए अर्जेंटीना, ब्राजील और मैक्सिको भारत के प्रमुख व्यापार साझेदारों में है जिनके क्षेत्र से किए जाने वाले आयात में 90 प्रतिशत से भी अधिक आयात भारत का है और जो क्षेत्र में भारत के निर्यात का लगभग 84 प्रतिशत है। इस क्षेत्र में भारत के व्यापार – अंतराल प्रमुख रूप से

बहुत कम देशों में उसके व्यापार केंद्रीकरण के कारण पैदा होता है, उसके व्यापार को शेष लैटिन अमेरिकी और कैरीबियाई राष्ट्रों में विस्तृत करने का सामर्थ्य 1990 के उत्तरार्द्ध तक अप्रयुक्त रहा। यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि नई शताब्दी में चीन और वैनेजुएला भारत के प्रमुख आपूर्तिकर्ताओं के रूप में उभरे हैं, हालांकि भारत से उनके आयात की नाममात्र वृद्धि ही हुई है।

इन देशों में भारत की निर्यात की जाने वाली सामग्री के बारे में जानना भी महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में भारत से आयात होने वाली वस्तुओं में शामिल हैं – भारी मात्रा में औषधियाँ फार्मास्युटिकल्स और वैक्सीनें, रसायन; मुद्रण, पैकेजिंग, प्लास्टिक और रबड़ उद्योगों के लिए उपकरण और मशीनरी; अस्पताल और मेडिकल उपकरण और आपूर्तिकर्ता; हाथों के औज़ार और मशीन के औज़ार; डीजल इंजन, पंप और बेयरिंग; आटोमोबाइल के पुर्जे और ऑप्टिक फाइबर, इलेक्ट्रॉनिक सामान के पुर्जे, भवन निर्माण मशीन एवं सामग्री; कपड़े, कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर, बिजली का सामान, चमड़े की वस्तुएँ, प्लास्टिक की चीजें हस्तशिल्प, मसाले, सुंगधित तेल और आयुर्वेदिक तथा जड़ी–बूटियों के उत्पाद। इन वस्तुओं के अलावा, हाल ही में किए गए बाज़ार के सर्वेक्षण से पता चलता है कि रक्षा उपकरणों के निर्यात, बॉयलरों, टरबाइनों के नियार्त और टेलीकॉम, रेल मार्ग और जल व मलजल प्रणालियों जैसे विभिन्न प्रकार के निवेश क्षेत्रों के लिए पर्याप्त संभावनाएँ हैं।

लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई देशों से भारत के प्रमुख आयातों में हैं – पेट्रोलियम, खनिज पदार्थ, धातुएँ, कृषि उत्पाद, चमड़ा, स्टील उत्पाद, ऑटो पार्टस, लकड़ी, कागज की लुगदी, कच्ची ऊन, कीमती और अर्द्ध कीमती पत्थर। वेनेजुएला और मैक्सिको ने 2000 से भारत की तेल की आपूर्ति करनी शुरू कर दी है। हाल ही में आयात के लिए पहचानी गई वस्तुओं में से एक वस्तु है वेनेजुएला से बायलर ईंधन के रूप में ऑरिमलशन जो भारत में ऊर्जा उत्पादक केंद्रों और उवर्रक संयंत्रों के प्रयोग के लिए होता है।

निम्नलिखित वस्तुओं के संबंध में भारत को लैटिन अमेरिकी देशों के साथ तीसरे देश के बाजारों में प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। ये वस्तुएँ हैं – गेहूँ (अर्जेंटीना), तम्बाकू (ब्राजील), मसाले (ग्वाटेमाला, ब्राजील और मैक्सिको), काजू (ब्राजील), तेल पदार्थ (अर्जेंटीना और ब्राजील), चीनी (क्यूबा और ब्राजील)। दो क्षेत्रों के बीच इन वस्तुओं के संदर्भ में तीसरे देश के बाजार में एक सामान्य कार्यनीति तैयार करने की जरूरत है।

जहाँ तक निवेश और संयुक्त उद्यमों का संबंध है, वहाँ फार्मास्यूटिकल्स रसायनों, इंजीनियरी उत्पादों, सॉफ्टवेयर, पैट्रोलियम और खनन में संयुक्त उद्यमों के लिए पर्याप्त संभावनाएँ हैं। इन देशों में निवेश करने और संयुक्त उद्यम शुरू करने के लिए बजाज स्कूटर, रेनबैक्सी, राइट्स तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग (ओ.एन.जी.सी एस) प्रसिद्ध नाम है। भारत के अनिवासियों ने मैक्सिको के 55 संयुक्त उद्यमों में 1.6 बिलियन अमेरिकी डॉलर का निवेश किया और इस्पात समूह अग्रणी निवेशक है। अर्जेंटीना और ब्राजील दोनों की फर्मों ने भारत में संयुक्त उद्यम स्थापित किए हैं।

12.3.2 फोकस एल ए.सी : अर्थ, कार्यक्षेत्र और मूल्याकन

वाणिज्य मंत्रालय ने लैटिन अमेरिकी क्षेत्र के लिए 1997 में "फोकस एल.ए.सी' प्रारंभ करके क्षेत्रीय फोकस के लिए पहल की। इस क्षेत्र को चुनने का स्पष्ट कारण यह था कि वे राजनीतिक रूप से स्थिर हो चुके थे और उनकी अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होने लगी थी। भारतीय मूल्यांकन यह था कि इस क्षेत्र में अधिकांश बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ काम कर रही थीं। इस क्षेत्र को उन्होंने ये वस्तुएँ और सेवाएँ भारत जैसे देशों से उत्पाद प्राप्त करके प्रदान की। इस प्रकार उनके व्यापार में भारत का हिस्सा नगण्य था लेकिन काफी हद तक दोनों तरफों की अर्थव्यवस्थाएँ मात्र सम्मानसूचक थीं। फोकस एल.ए. सी के प्रमुख घटक इस प्रकार हैं – देशों के बीच महत्वपूर्ण देशों का पता लगाने और द्विपक्षीय व्यापार समझौतों के विश्लेषण के लिए क्षेत्र के विभिन्न देशों के आयातों और निर्यातों का वृहत विश्लेषण; सम्मेलनों, व्यापार मेलों और प्रतिनिधिमंडलों के दौरों के जरिए भारत में एल.ए.सी बाजारों और भारतीय क्षमताओं और एल.ए.सी बाजारों के संबंध में भारत में सूचना का प्रसार करना; चुने गए प्रत्येक बाजार में भारतीय उपस्थिति को महसूस कराने के लिए वाणिज्य मंत्रालय के साथ विभिन्न ई.पी.सी गतिविधियों का एकीकरण; इसके अलावा, बाजार विकास के लिए अलग फंड, बैंकिंग और ऋण–सीमा के लिए विशेष व्यवस्थाएँ (प्रबंध) और बीमा के लिए श्रेणी निर्धारण; निवेश संवर्धन के लिए व्यावसायिक व्यापार प्रबंधो हेतु देशों का पता लगाना; एल.ए.सी से भारत में खरीदारों को आमंत्रित करना और आयातकों और उनके कर्मचारियों द्वारा एल.ए.सी की भाषा सीखने के लिए सहायता करने जैसे विशेष उपाय भी किए गए।

'फोकस एल.ए.सी'' कार्यक्रम के अंतर्गत लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई देशों में भारतीय निर्यात का कुल हिस्सा 1996–97 के 1.43 प्रतिशत से बढकर 2000–01 में 2.21 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि में इन निर्यातों का मूल्य 478 मीलियन डॉलर से बढकर एक बिलियन डॉलर हो गया। "एल.ए.सी कार्यक्रम के अनुवर्ती के रूप में, इस क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में ई.पी.सी और व्यावसायिक घरानों की सहभागिता ने भारतीय व्यापार योग्य और प्रोद्योगिकीय उन्नतियों पर महत्वपूर्ण सूचना के प्रसार में मदद की। दूरी और भाषाओं की बाधाओं पर नियंत्रण के लिए सहयोजित (सम्मिलित) प्रयास किए गए।

12.3.3 अपेक्षित कार्यनीति

लैटिन अमेरिका के बाजार में 50 करोड़ 80 लाख (508 मिलियन) व्यक्ति हैं, जहाँ सकल घरेलू उत्पाद 1.6 ट्रिलियन डॉलर और प्रति व्यक्ति आय 3300 अमेरिकी डॉलर है। अधिकांश लैटिन अमेरिकी देशों को विश्व बैंक द्वारा "उच्च मध्यम अर्थव्यवस्थाओं वाले देशों की श्रेणी में रखा गया है। लैटिन अमेरिका का बाजार तीव्र गति से विकसित हो रहा है। इसका आयात 1991 के 113 बिलियन डॉलर से बढकर 2002 में 332 बिलियन डॉलर हो गया है। विश्व आयात में इसका हिस्सा 1990 के 3.7 प्रतिशत से बढ़कर 2001 में 6.1 प्रतिशत हो गया। लैटिन अमेरिकी के सात सर्वोच्च देशों के फार्मास्युटिकल बाजार की बिक्री का स्तर बढ़कर 2005 में 29 बिलियन डॉलर तक पहुँचने की आशा है। 2000 में बिक्री का यह स्तर 20 बिलियन डॉलर था। सबसे बड़े बाजार – ब्राजील और मैक्सिको क्षेत्र – में प्रवेश के लिए अलग–अलग मंच प्रदान करते हैं और ये बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए विश्वव्यापी महत्वपूर्ण श्रृंखला का हिस्सा बन चुके हैं। एकीकरण, लैटिन अमेरिकी बाजारों के महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति बन चुका है। सभी देश किसी न किसी व्यापार का गुट हैं और अन्य देशों तथा गुटों के साथ मुक्त व्यापार समझौतों पर हस्ताक्षर कर रहे हैं।

मरकोसुर शीतयुद्धोत्तर युग में नई दक्षिण अमेरिकी उपस्थिति का प्रतीक बना रहा है। मरकोसुर और एंडीज पर्वत के समुदाय, दोनों दिसंबर 2003 तक "दक्षिण अमेरिकी मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने के लिए परस्पर वार्ता कर रहे हैं। पंद्रह सदस्यीय केरीकोम 2005 तक कैरीबियाई एकल बाजार और अर्थव्यवस्था की उपलब्धि के लिए काम कर रहे हैं। अमेरिका और चिली ने दिसंबर 2002 में मुक्त व्यापार समझौते को अंतिम रूप दिया और अमेरिका ने सी.ए.सी.एम. के साथ मुक्त व्यापार समझौते के लिए वार्ताओं हेतु पहल की और 2003 तक जिस पर अंतिम निर्णय लिया जाएगा। मैक्सिको ऐसा देश है जिसने सबसे ज्यादा देशों अर्थात् 32 देशों, के साथ मुक्त व्यापार करने के समझौते किए। बाजार में मैक्सिको की पहुँच 850 मिलियन डॉलर है। इसके अतिरिक्त, अमेरिका प्रायोजित मुक्त व्यापार क्षेत्र पर वार्ता चल रही है। आशा है कि दिसंबर 2003 तक इस पर निर्णय ले लिया जाएगा।

भारत को लैटिन अमेरिका में अपने निर्यातों पर क्षेत्रीय एकीकरण के प्रतिकूल प्रभाव के संबंध में चिंता करने की जरूरत है। इस व्यापार परिवर्तन की क्षतिपूर्ति व्यापार–सृजन करता है जिसने भारत के निर्यात के अवसरों को संवर्धित किया है। अन्तरा–लैटिन अमेरिकी व्यापार 20 प्रतिशत से कम है और यह सत्य है कि क्षेत्रीय एकीकरण के बावजूद बाह्य व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। लैटिन अमेरिका में हमारे द्वारा किए जाने वाले निर्यात में ग्यारह गुना बढ़ोतरी हुई है। यह 1991–92 के 124 मिलियन डॉलर से बढ़कर 2002–02 में यह 1.45 बिलियन डॉलर हो गया है। ब्राजील को किए जाने वाले निर्यात में वृद्धि हुई। ब्राज़ील को 1992 में 12 मिलियन डॉलर निर्यात हुआ जो 2002 में बढ़कर 572 मिलियन डालर हो गया। कोलंबिया के मामले में, हमारा निर्यात 1992 में एक मिलियन डॉलर से बढ़कर 2001 में 73 मिलियन डॉलर हो गया।

भारत का लक्ष्य लैटिन अमेरिका के कुल आयात का एक प्रतिशत हिस्सा प्राप्त करना है। ब्राजील में इस लक्ष्य को 2002 में पहले ही प्राप्त किया जा चुका है। इसका हिस्सा ब्राजील के 47.2 बिलियन डॉलर के कुल आयातों का 1.2 प्रतिशत है। यदि इस लक्ष्य को सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण बाजार में हासिल किए जा सकता है तो यह निश्चित रूप से लैटिन अमेरिका के अन्य देशों में भी संभव है। भारत की सूचना प्रौद्योगिकी में उपलब्धियों से भारत की छवि की संवृद्धि और लैटिन अमेरिका में भारतीय फार्मास्युटिकल के सफल प्रवेश ने अन्य उत्पादों के विपणन के कार्य को आसान बना दिया है। लैटिन अमेरिका के लिए भारतीय निर्यातकों की विपणन कार्य–नीति चार स्तरीय (दिशा वाली) होनी चाहिए। ये हैं : (i) मरकोसुर, (ii) एंडीज पर्वत समुदाय, (iii) मैक्सिको (iv) केंद्रीय अमेरिका और कैरीबियाई देश। भारतीय निर्यातकों को मैक्सिको पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है। क्योंकि यह लैटिन अमेरिका का सबसे बड़ा व्यापारी देश है। इसने 2001 में कुल 170 बिलियन डॉलर का आयात किया। भारतीय निर्यातकों को चीनी के निर्यातकों से प्रेरणा लेनी चाहिए जो इस समय लैटिन अमेरिका में दस बिलियन डॉलर का निर्यात कर रहे हैं और जिनका निवेश एक बिलियन अमेरिकी डॉलर से भी अधिक है। उन्होंने छोटा बाज़ार माने जाने वाले लैटिन अमेरिकी देश ऊरुग्वे में 2000 में 243 मिलियन डॉलर का और 2002 में मैक्सिको में 6.2 बिलियन डालर का निर्यात किया। भारत सरकार को ब्राजील और मैक्सिको जैसे मुख्य देशों और उनके साथ–साथ मरकोसुर और एंडीज़ पर्वत समुदाय के साथ अधिमान्य व्यापार समझौतों का अनुसरण करना चाहिए।

12.3.4 भारतीय व्यापार के लिए क्षेत्रीय एकीकरण का निहितार्थ

भारतीय निर्यातक, व्यापार खंडों/मुक्त व्यापार समझौतों के भीतर आपूर्तिकर्ता देशों से व्यापार करने वाले निर्यातकों की तुलना में नुकसान में हैं। उदाहरण के लिए, ब्राजील में ऊरुग्वे के चावल के मुकाबले भारतीय चावल के निर्यात में स्पर्धा कम हो गई है। क्योंकि ऊरुग्वे का चावल शुल्क–मुक्त है। भारत सरकार ने हाल ही में कोलंबिया और वेनेजुएला के साथ मुक्त व्यापार समझौते के लिए वार्ताएँ प्रारंभ की हैं और भविष्य में चिली, मैक्सिको और ऊरुग्वे के साथ अधिमान्य

व्यापार व्यवस्थाओं के लिए वार्ता करने की योजना है। इसके अलावा, मरकोसूर और एंडीज पर्वत समुदाय के साथ संस्थागत सहयोग समझौते विचाराधीन हैं।

12.4 सारांश

वैश्वीकरण के वर्तमान अवस्था में विदेशी नीति निर्माण पर सिद्धांतवाद की बजाए व्यावहारिकतावाद का ज्यादा प्रभाव है। लैटिन अमेरिकी क्षेत्र को भारत द्वारा कम वरीयता दिए जाने से उसके राजनीतिक और आर्थिक, दोनों क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। हालांकि 1990 से दोनों क्षेत्रों के पारस्परिक लाभ के लिए इन संबंधों को सुदृढ़ करने हेतु पर्याप्त प्रयास किए गए हैं। भारतीय विदेशी नीति में भारत–लैटिन अमेरिकी और कैरीबियाई देशों के साथ संबंध बेहतर बनाने के लिए संस्थागत क्रियाविधियों को मज़बूत कर आपसी बातचीत के स्तर को बढ़ाने को प्राथमिकता दी गई है। जबकि बहु–पक्षीय दृष्टिकोण का स्थान द्वि–पक्षीयता ने ले लिया है। ऐसे में बेहतर यह होगा कि भावी कार्यनीति के रूप में मध्यम स्तर के देशों पर ज्यादा ध्यान केंद्रित किया जाए।

12.5 शब्दावली

- ई.ए.एल.ए.सी. : लैटिन अमेरिका और कैरीबियाई आर्थिक आयोग
- एल.ए.एफ.टी.ए. : लैटिन अमेरिकी मुक्त व्यापार क्षेत्र
- सी.ए.आर.आई.एफ.टी.ए. : कैरीबियाई मुक्त व्यापार क्षेत्र
- सी.ए.सी.एम. : केंद्रीय अमेरिकी सामान्य बाजार
- एस.ई.एल.ए. : लैटिन अमेरिकी आर्थिक व्यवस्था
- ओ.एल.ए.डी.ई. : लैटिन अमेरिकी ऊर्जा विकास
- बी.ओ.पी. : भुगतानों का संतुलन
- एम.ओ.यू. : ज्ञापन समझौता
- एम.ए.सी. : बहुराष्ट्रीय निगम
- जी–3 : भारत, दक्षिण अफ्रीका और ब्राजील
- जी–77 : विकासशील देशों का समूह

12.6 अभ्यास

1. युद्धोत्तर वर्षों में भारत–लैटिन अमेरिकी और करीबियाई देशों के संबंधों के पूर्ववृत्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. भारत और लैटिन अमेरिका के बीच संबंध में आर्थिक कारकों के महत्व का वर्णन कीजिए।
3. लैटिन अमेरिका के मध्यम स्तर के देशों के साथ भारत के संबंधों को विकसित करने के लिए अपेक्षित कार्यनीति का विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई–13

भारत और अफ्रीका संबंध

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 भारत–अफ्रीका संबंधों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

13.2.1 दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी की भूमिका

13.2.2 विश्व–भर के देशों की स्वाधीनता के लिए चिंता

13.2.3 मानवीय पक्षों का दृढीकरण : 1947–64

13.2.4 गुटनिरपेक्ष आंदोलन और भारत–अफ्रीका संबंध

13.3 नई सहस्राब्दि में भारत–अफ्रीका के बीच आर्थिक सहयोग

13.3.1 अफ्रीका और भारत के बीच व्यापार की वस्तुएँ

13.3.2 अफ्रीका से भारत को आयात

13.4 भारत और दक्षिण अफ्रीका के बीच संबंध

13.4.1 सहयोग के क्षेत्र

13.4.1.1 आर्थिक सहयोग

13.4.1.2 रक्षा के क्षेत्र में सहयोग

13.4.2 दोनों देशों के बीच यात्राओं का आदान–प्रदान

13.4.3 शांति स्थापना ऑपरेशनों का प्रशिक्षण

13.4.4 हिंद महासागर क्षेत्र में सहयोग

13.4.5 मतभेद के क्षेत्र

13.5 सारांश

13.6 अभ्यास

13.1 प्रस्तावना

भारत में अफ्रीका के प्रति हमेशा सहानुभूति की भावना रही है। यह भावना वहाँ के लोगों के स्वप्नों और आकांक्षाओं के प्रति है। भारत के लोगों में इस आदि मानव सभ्यता के उद्गम स्थल के प्रति अत्यधिक सम्मानजनक भावना है जिस बात को प्रायः भुला दिया जाता है। उपनिवेशवाद और रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष में तथा अफ्रीका के गरीबी और बीमारी के विरुद्ध संघर्ष में भारत के लोगों की सहभागी बनने की इच्छा रही है। भारत और अफ्रीकी देशों का एक–जैसा ऐतिहासिक अनुभव रहा है। दोनों के समान लक्ष्य और भविष्य के प्रति एक–सा दृष्टिकोण रहा है। दोनों ने ही समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष किया है। दोनों को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कष्ट सहने पड़े हैं और दोनों ने ही समान कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की है। अब भारत और अफ्रीका दोनों ने ही आर्थिक स्वतंत्रता की यात्रा पर साथ–साथ कदम बढ़ाने का निश्चय किया है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी भारत और अफ्रीका दोनों ही देशों के नई विश्व–व्यवस्था के निर्माण में समान हित हैं। दोनों ही ऐसी विश्व–व्यवस्था के पक्ष में हैं जो विकासशील देशों की आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील हो।

अफ्रीका महाद्वीप में विश्व के भू–क्षेत्र का 20 प्रतिशत भाग रहता है। इसमें 54 स्वतंत्र राष्ट्र हैं और इसकी आबादी 51 करोड़ है। कई दशकों से यह महाद्वीप भारत की विदेश नीति का मुख्य विषय रहा है। अफ्रीका भारत के बहुत–से प्रवासी भारतीयों का स्वगृह है।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन में अफ्रीकी देशों की सदस्य संख्या लगभग आधी है और संयुक्त राष्ट्र संघ में इनकी संख्या एक–तिहाई के आसपास है। इस महाद्वीप में बहुत बड़ी संख्या में मानव संसाधन, विशाल प्राकृतिक संसाधन और पर्याप्त आर्थिक संभावनाएँ विद्यमान हैं। इसका भारत की विदेश नीति और राजनय में (विशेष तौर पर दक्षिण–दक्षिण सहयोग के संदर्भ में) महत्वपूर्ण स्थान है। भारत और अफ्रीका के बीच विभिन्न स्तरों पर शताब्दियों पुरानी सहयोग की परंपरा है। अफ्रीका हिंद महासागर के पार भारत का निकटतम पड़ोसी है। इसलिए ईस्वी सन से पूर्व भी इसने

भारतीय अप्रवासियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। पिछले कुछ दशकों से भारत और अफ्रीका उपनिवेशवाद, रंगभेद और जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष में निकट सहयोगी रहे हैं। ये दोनों ही देश गुटनिरपेक्ष आंदोलन के विकास और विस्तार में विशिष्ट सहभागी रहे हैं।

इन दोनों क्षेत्रों को एक–जैसे सामाजिक–राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन के दौर से गुज़रना पड़ा है। इसमें इन दोनों देशों की अर्थव्यवस्था का उदारीकरण भी शामिल है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन, राष्ट्रमंडल, जी–15 और हाल ही में निर्मित हिंद महासागर तटवर्ती पहल के संदर्भ में और अन्य अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भारत तथा अफ्रीका का दृष्टिकोण एकसमान है। यह क्षेत्र शांति, गुटनिरपेक्षता और आर्थिक न्याय के क्षेत्र में समान रूप से वचनबद्ध है।

13.2 भारत–अफ्रीका संबंधों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अफ्रीका के देशों के साथ भारत के संबंध वैदिक काल से हैं। शास्त्रों में उल्लिखित मिस्र की विचारधारा और वैदिक विचारधारा में सादृश्य इस बात के साक्षी हैं। मिस्र के लोगों और हिंदुओं ने वर्णाश्रम व्यवस्था (कार्य की प्रकृति के सिद्धांत के आधार पर जाति का विभाजन) को स्वीकार किया। यह विभाजन विद्वान (ब्राह्मण), योद्धा (क्षत्रिय), व्यापारी (वैश्य) और कृषक के रूप में था। यहाँ तक कि गंगा और नील नदियों के तटों पर जो धार्मिक चिह्न प्राप्त हुए वे भी समान थे। दोनों ही देशों में कमल का फूल सूर्य का प्रतीक था। दोनों ही देशों में आत्मा की अमरता के भी प्रतीक मिले हैं।

ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में भारत और मिस्र के बीच नियमित व्यापारिक संबंध थे। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में मिस्र में ममियों को लपेटने के लिए अबीसिनियाई और सोमाली व्यापारी आबनूस की लकड़ी, कपास और रेशमी कंपड़ा भारत से ले जाते थे। 100 ई. में ईसाईयत का उत्तरी अफ्रीका में आगमन हुआ। 1503–08 ई. के दौरान गुजरात और बंगाल के कुछ भागों में बरबर और इथियोपिया को कपास के सामान तथा रेशमी वस्त्रादि का निर्यात होता था।

सन 1657 में ऐबीसीनिया के राजा द्वारा भेजे गए दूत का भारत के राजा औरंगजेब ने स्वागत किया। सन 1692–93 के दौरान इथियोपिया और भारत के बीच व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। सन 1860 में भारत सरकार ने गुलाम रखना या गुलामों का व्यापार करना अपराध घोषित कर दिया। भारत से करार द्वारा मज़दूरों को गन्ने के रोपण के लिए नेटाल लाया गया था। सन 1880 में भारत और जंज़ीबार के बीच तार की लाइनें पूरी की गईं। सन 1882 में भारतीय नौसेना ने स्वेज नहर से बाधाओं को हटाने के लिए अंतःसमुद्री संक्रियाएँ कीं।

सन 1893 के अप्रैल माह में मोहनदास कर्मचंद गांधी जी अपने एक मुवक्किल के रुपयों के लेन–देन के मामले में उसके प्रतिनिधि के रूप में दक्षिण अफ्रीका गए। परंतु वहाँ उन्हें जातीय भेदभाव के कारण अपमान सहना पड़ा। इसलिए गांधी जी ने वहीं रहकर अपने देशवासी भाइयों के अधिकारों की रक्षा करने का निर्णय किया। गांधी जी ने नेटाल में रहने वाले भारतीयों का मामला हाथ में लिया और वहाँ नेटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना की। सन 1895 में केन्या–यूगांडा रेल लाइन का निर्माण कार्य आरंभ हुआ। इस रेल लाइन के आरंभ होने से भारतीयों के आप्रवास को बढ़ावा मिला। इनमें से कुछ भारतीयों ने कहीं दुकानें खोल लीं तो कुछ निर्माण कार्यों में श्रमिक बन गए।

सन 1906 में ट्रांसवाल में प्रेस कानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया। सन 1907 में गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों के हनन के विरोध में सत्याग्रह आंदोलन किया। 1909 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष, गोपाल कृष्ण गोखले ने दक्षिण अफ्रीका में शांतिपूर्ण सत्याग्रह की सहायता के लिए एक राहत कोष शुरू किया। 1912 में गोखले ने दक्षिण अफ्रीका में जाँच के लिए व्यक्तिगत स्तर पर वहाँ की यात्रा की। इसी अवधि में बंबई (मुंबई) में करारबंद मज़दूरों की भर्ती करने वाली एक एजेंसी को बंद करवा दिया गया। सन 1914 में गांधी जी–स्मट्स समझौता संपन्न हुआ।

सन 1926 में साउथ अफ्रीकन नैशनल कांग्रेस और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बीच एक गोलमेज सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में केपटाउन समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। इसमें भारतीयों को समान नागरिक स्वीकार किया गया। सन 1932 में कुँवर महाराज सिंह को दक्षिण अफ्रीका में भारत सरकार का एजेंट नियुक्त किया गया।

स्वतंत्र भारत की अफ्रीका संबंध नीति के बीज उस समय में खोजे जा सकते हैं जब दक्षिण अफ्रीका की गोरों की खानों और गन्ना रोपण क्षेत्र के लिए करारबद्ध मज़दूरों की भर्ती का काम शुरू किया गया था। सुविधा के लिए इन्हें चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है:

1. दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी की भूमिका
2. विश्व–भर के देशों की स्वाधीनता के लिए चिंता
3. मानवीय पक्षों का दृढीकरण : 1947–64 4 गुटनिरपेक्ष आंदोलन और भारत–अफ्रीका संबंध

13.2.1 दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी की भूमिका

भारत से सर्वप्रथम करारबद्ध श्रमिक 1860 में नेटाल आए। इसी से अफ्रीका के दक्षिणी और पूर्वी समुद्र तट के भीतरी क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर भारतीयों के आवास की शुरुआत हुई। ये भारतीय वहाँ ऐसी आप्रवास व्यवस्थाओं के अंतर्गत गए

थे जो ब्रिटिश भारत सरकार और ब्रिटिश दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीकी कॉलोनियों के बीच विभिन्न समझौतों पर आधारित थीं। भारतीय आप्रवास और जातीय आधार पर विकसित सामाजिक व्यवस्था पर जो प्रतिबंध लगाए गए थे, शीघ्र ही वे अत्यधिक विवादास्पद विषय बन गए।

1893 में जब तक गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में आए तब तक वहाँ के भारतीय आप्रवासियों में अंदर ही अंदर बढ़ता हुआ असंतोष व्यापक रूप धारण कर चुका था। गांधी जी ने शीघ्र ही अपमानजनक भेदभाव को स्वयं अनुभव किया और इसके विरुद्ध संगठित रूप से विरोध करने की आवश्यकता महसूस की। इसके एकदम बाद गांधी जी ने भारतीयों की समानता के लिए संघर्ष की नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। इसी बीच, उन्होंने 'इंडियन ओपीनियन' नामक एक समाचार–पत्र निकालना शुरू किया और दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों की शिकायतों के समाधान के लिए भारत और इंग्लैंड, दोनों देशों के उन नेताओं से नियमित रूप से पत्र–व्यवहार आरंभ किया जिन्हें उनके साथ सहानुभूति थी। 1901 में अपनी भारत यात्रा के दौरान गांधी जी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, इंडियन चैंबर ऑफ कॉमर्स तथा कुछ अन्य संगठनों को संबोधित किया और उनके मन में दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले उनके भाइयों के प्रति भारत के लोगों में सहानुभूति पैदा की। सन 1907 में गांधी जी ने बड़ी सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित किया कि ब्रिटिश सरकार ने उनके विरोध को अनसुना कर दिया है और दक्षिण अफ्रीका में जातीय भेदभाव खुले तौर पर प्रचलित है।

इस स्थिति ने ही गांधी जी के ऐतिहासिक सत्याग्रह आंदोलन को जन्म दिया और उन्होंने अपने इस आंदोलन को दक्षिणी अफ्रीका में छह वर्षों (1907–13) तक जारी रखा और यह दिखा दिया कि विश्व के अत्याचारों से पीड़ित उन लोगों के लिए यह शक्तिशाली हथियार हो सकता है जिन्हें कोई महत्व नहीं दिया जाता, जो राजनीतिक दृष्टि से पराधीन हैं और आर्थिक दृष्टि से महत्वहीन हैं। इस अवधि को भारत की अफ्रीका के प्रति नीति के विकास का चरण कहा जा सकता है। इस समय तक भारत विदेशों में, न केवल दक्षिणी अफ्रीका में बल्कि पूर्वी अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों की बुरी स्थिति के प्रति सजग हो गया था।

13.2.2 विश्व–भर के देशों की स्वाधीनता के लिए चिंता

भारत और अफ्रीका के बीच संबंधों का दूसरा चरण 1914 से 1947 तक का है। इससे पूर्व की अवधि में भारत की अफ्रीका में रुचि का कारण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों की समस्याएँ थीं जो पूर्णतया राष्ट्रीय चिंता थी। लेकिन इसके बाद के चरण में चिंताओं का कारण कहीं अधिक व्यापक था। इसके बाद विश्व–व्यापी 'मुक्ति' की अवधारणा ने भावी स्वतंत्रता संघर्ष को मार्ग निर्धारित किया।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद पूर्वी अफ्रीका में समानता के लिए भारतीयों के आंदोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। सन 1918 में पूर्वी अफ्रीकी नैशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। भारतीय नेतृत्व के मार्गदर्शन में पूर्वी अफ्रीका ने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि उन्हें भी 'स्थानीय देशवासियों के हितों और स्थानीय लोगों के कल्याण को विशेष महत्व देना चाहिए। ब्रिटिश इंडियन लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्य श्रीनिवास शास्त्री ने ब्रिटिश मिशनरी और प्रशिक्षक सी.एफ. एन्ड्रयूज़ और गांधी जी के कहने पर भारतीय समुदाय को यह स्पष्ट कर दिया कि भारत की जर्मनी के उपिनेवश पूर्वी अफ्रीका में उपनिवेश स्थापित करने में कोई रुचि नहीं है। यह भी कहा कि भारत विश्व के सभी देशों की स्वाधीनता के पक्ष में है और साथ ही पूर्वी अफ्रीका में भारतीयों ने इस बात को उठाया कि कानून के सामने सभी जातियों के लोगों को समानता का दर्जा मिलना चाहिए।

इसी बीच, राष्ट्रीय उमंग के कारण भारत और अफ्रीका के बीच संबंध और दृढ़ हो गए। 1915 के बाद, गांधी जी विश्व–भर के उत्पीड़ित देशों के लोगों की, विशेष तौर पर अफ्रीकी लोगों की आज़ादी का प्रतीक बन कर उभरे। 1919 तक 'गांधी जी को संपूर्ण अफ्रीका का महान व्यक्ति' कहा जाने लगा था। वे अफ्रीकावासियों की दृष्टि में उतने ही महात्मा थे जितने भारतीयों की दृष्टि में थे। बाद के वर्षों में बहुत से अफ्रीकी नेता उनसे मार्गदर्शन और प्रेरणा पाने के लिए उनके पास आते थे।

13.2.3 मानवीय पक्षों का दृढ़ीकरण : 1947–64

सन 1927 में, नेहरू ने उत्पीड़ित देशों की ब्रसेल्स में आयोजित सम्मेलन में भाग लिया। वहाँ उनकी मुलाकात कई अन्य देशों के राष्ट्रवादी नेताओं से हुई। उसी साल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पहली बार एक संकल्प पारित किया जिसमें उपनिवेशों को बनाए रखने की स्पष्ट रूप से निंदा की। 1929 में, नेहरू ने कांग्रेस से व्यापक विदेश नीति बनाने का अनुरोध किया। उन्होंने घोषित किया कि भारत स्वयं को खतरे में डालकर ही शेष विश्व को नज़रअंदाज़ कर सकता है। उन्होंने आगे कहा कि दूसरे उत्पीड़ित देशों के लोगों की स्वतंत्रता, कुछ हद तक भारत के स्वतंत्र होने पर निर्भर करती है। उन्होंने 1936 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में घोषित किया कि हम केवल भारत के हितों के लिए नहीं लड़ रहे हैं बल्कि पूरी मानव जाति के हितों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यदि भारत स्वतंत्र हो जाता है तो इसका मतलब पूरी मानवता की रक्षा से है।

सन 1947 में भारत की स्वतंत्रता के समय तक अफ्रीका के साथ भारत के संबंध दो प्रमुख बातों से संबंधित थे। इसकी शुरुआत भारतीय नेताओं की दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका (1860–1914) में भारतीयों के हितों की चिंता से और गांधी तथा शास्त्री के अफ्रीका की प्रभुसत्ता जैसे विषयों से संबंधित विचारों से हुई। नेहरू भी ऐसे विषयों के प्रति सजग थे और उन्होंने इसमें अफ्रीका की पूर्ण स्वतंत्रता के प्रति अपनी चिंता को भी शामिल कर लिया था।

स्वतंत्र भारत की अफ्रीकी मामलों में प्रत्यक्ष रुचि 1948 से आरंभ हो गई थी। भारत के केन्या में महा–आयुक्त और 1948 में पूर्ण उप–सहाराई अफ्रीका में भारत के प्रतिनिधि अप्पा साहब पंत ने स्पष्ट शब्दों में अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता के लिए गहरी चिंता व्यक्त की थी और उन्होंने भारतीय समुदाय से कहा कि वे अफ्रीका की आज़ादी के संघर्ष में शामिल न होने की गलती न करें। 1952 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने दक्षिण अफ्रीका के बारे में एक संकल्प पारित किया। इस संकल्प में एशिया और अफ्रीका के देशों से सभी प्रकार के उपनिवेशवाद के रूपों को समाप्त करने का अनुरोध किया गया। साथ ही, इसमें अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों से कहा गया कि वे अफ्रीकी हितों को विशेष महत्व दें। दोनों देशों के समुदायों से अहिंसात्मक आंदोलन में सहयोग देने का भी अनुरोध किया गया।

1953 में, कांग्रेस ने एक बार फिर उपनिवेशवाद के सभी रूपों की निंदा की और सामाजिक समानता तथा दक्षिण अफ्रीका में पृथकतावादी रंग–भेद और जाति–भेद को समाप्त कराने के लिए सत्याग्रह को प्रमुख साधन के रूप में अपनाने पर बल दिया। 1953 में स्थापित सेंट्रल ऐफ्रीकन फेडरेशन की इस आधार पर निंदा की कि यह उपनिवेशवाद का ही नया रूप है। केन्या के माऊ–माऊ आंदोलन को आज़ादी के लिए संघर्ष के रूप में स्वीकार किया गया। यद्यपि भारत ने इस संघर्ष में अहिंसात्मक उपायों की वकालत की। भारत सरकार ने नाइजीरिया और गोल्ड कोस्ट (घाना) में स्वशासन का स्वागत किया।

इस प्रकार, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अफ्रीका में सुनिश्चित मानवीय रुचि प्रदर्शित की। यह दृष्टिकोण इससे पूर्व के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से भिन्न था। इन्हीं दिनों एक बार फिर नेहरू की सरकार ने अफ्रीका के संबंध में भारत की नीति की मूल अवधारणा को स्पष्ट रूप में निर्धारित किया और अफ्रीका के स्वाधीनता संग्राम में अपनी भूमिका निश्चित की। भारत ने सभी तरह के उपनिवेशवाद की निंदा की जिसमें इंग्लैंड के केंद्रीय अफ्रीका की बहुजातीय फेडरेशन भी शामिल है।

उसी समय भारत ने अफ्रीका के घाना, नाइजीरिया, केन्या, टांगानिका, मोरक्को, ट्यूनीशिया और मिस्र आदि नए उभरते देशों के साथ विशेष संबंध बनाने पर ध्यान दिया। 1956 में, स्वेज़ नहर के संकट के समय बहुत–से भारतीय, राष्ट्रमंडल से अलग होने के पक्ष में थे, तब नेहरू ने कहा था कि राष्ट्रमंडल में रहकर भारत नवोदित अफ्रीकी राष्ट्रों के हितों की रक्षा अधिक अच्छी तरह से कर सकता है। सन 1960 में, नेहरू ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को संबोधित करते हुए कहा था कि अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों को वहाँ के मूल निवासियों का शोषण नहीं करना चाहिए।

13.2.4 गुटनिरपेक्ष आंदोलन और भारत–अफ्रीका संबंध

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अवधि में गुटनिरपेक्ष आंदोलन का उदय भारत और अफ्रीका के देशों को एक–दूसरे के निकट आने का महत्वपूर्ण कारक बना। बांडुंग सम्मेलन (1955) के नाम से जाना जाने वाले पहले एफ्रो–एशियाई सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की नींव डाली गई थी। इसी सम्मेलन ने नेहरू और नासिर को घनिष्ठ मित्र बना दिया। इसके बाद यूगोस्वालिया के मार्शल टीटो, सुकर्णो और क्वामे एन्क्रूमा ने उनका समर्थन किया। इन्होंने पहले 'नैम' (नॉन एलाइन मूवमेंट–गुटनिरपेक्ष आंदोलन) के बेलग्रेड में आयोजन के लिए मार्ग प्रशस्त किया। बांडुंग सम्मेलन से पूर्व नेहरू ने 1947 में नई दिल्ली में आयोजित एशियाई संबंधों से संबंधित पहले सम्मेलन में कहा था कि :

'एशिया अपनी दोस्ती का हाथ जहाँ यूरोप और अमेरिका की ओर बढ़ा रहा है वहीं वह अफ्रीका में उत्पीड़ित अपने भाइयों की ओर भी बढ़ा रहा है। हम एशिया वालों की अफ्रीका के लोगों के प्रति एक विशेष जिम्मेदारी है। जिस आज़ादी के बारे में हम सोचते हैं वह इस या उस देश तक या किन्हीं विशिष्ट लोगों तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, बल्कि उसका विस्तार पूरी मानव जाति तक होना चाहिए।

पहले गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन में भारत ने अनेक अफ्रीकी उपनिवेशों के मुक्ति आंदोलनों का स्वागत किया। लेकिन उसमें उपनिवेशवाद के विरुद्ध एफ्रो–एशियाई सैनिक कार्रवाई को स्पष्ट रूप से निरुत्साहित किया गया। भारत लगातार फ्रांस और इंग्लैंड को क्रमशः अल्जीरिया और साइप्रस को स्वतंत्रता देने के लिए समझाता रहा। भारत ने पराधीन देशों की आज़ादी के प्रति पुतर्गाल के उपेक्षापूर्ण रवैये की भी आलोचना की।

सितंबर 1964 में कैरो में आयोजित दूसरे गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री द्वारा की गई टिप्पणी ने सभी अफ्रीकी नेताओं का ध्यान आकर्षित किया। हवाई अड्डे पर शास्त्री जी से हाथ मिलाते हुए नासिर ने प्रार्थना की कि 'संपर्क बनाए रखिएगा। लुसाका में 1970 में आयोजित तीसरे गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी का गर्मजोशी से स्वागत हुआ। नयाचार (प्रोटोकोल) की परवाह न करते हुए भारत की प्रधानमंत्री के स्वागत के लिए राष्ट्राध्यक्ष कोंडा

स्वयं हवाई अड्डे पर आए। इस अवसर पर भारत की प्रधानमंत्री को इस आंदोलन के छह उपाध्यक्षों में से एक चुना गया था। अफ्रीका के बहादुर स्वतन्त्रता सेनानियों को भारत का समर्थन व्यक्त करते हुए भारत की प्रधानमत्री ने कहा:

'हम जिम्बाबवे में अल्पसंख्यक सरकार के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका के जातिवादी प्रशासन की पथकतावादी नीतियों के विरुद्ध और नामीबिया तथा गिनी बिसाउ के राष्ट्रीय आंदोलनों के विरुद्ध गुंज को अनुभव कर सकते हैं। ये स्वतंत्रता सेनानी उसी संघर्ष में लगे हैं जिसमें हाल ही में हम संलग्न थे। वे अपना जीवन उन्हीं सिद्धातों के लिए बलिदान कर रहे हैं, जो हमें प्रिय हैं।...'

अल्जीयर्स, कोलंबो और हवाना के गुटनिरपेक्ष सम्मेलनों में भारत ने जो भूमिका अदा की उसने अफ्रीकी देशों को उसके नजदीक ला दिया। जब भारत गुटनिरपेक्ष आंदोलन का अध्यक्ष था, उस दौरान अफ्रीका की, विशेष रूप से दक्षिण अफ्रीका में पृथकतावादी रंगभेद की समस्या की ओर ध्यान दिलाया गया। नामीबिया के स्वतंत्रता सेनानियों को मदद देने के भी प्रयास किए गए। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के अध्यक्ष के नाते मई, 1986 में भारत के प्रधानमंत्री की जाम्बिया, जिम्बाबवे, अंगोला और तंजानिया की यात्रा का सबने स्वागत किया। सभी संबंधित देशों ने इसे उनके पृथकतावादी जातिभेद के विरुद्ध अनथक संघर्ष में एकजुटता लाने वाला महत्वपूर्ण योगदान माना।

13.3 नई सहस्राब्दि में भारत–अफ्रीका के बीच आर्थिक सहयोग

भारत के व्यापार में अफ्रीका का महत्वपूर्ण स्थान है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश (आई.एम.एफ.) (व्यापार निर्देशन) के अनुसार 1997 में अफ्रीका के साथ भारत का व्यापार 4.1 अरब यू.एस.डॉलर था, जिसकी वृद्धि दर 1990 के 99.9 करोड़ की तुलना में 4 गुना से भी अधिक थी। इस प्रकार से व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में नहीं था क्योंकि भारत को बड़ी मात्रा में तेल का आयात करना पड़ता था। यह आयात प्रमुख रूप से नाइजीरिया से होता था। अफ्रीका को किए जाने वाले निर्यात में 1991 में 2.59 प्रतिशत से 1996 में 4.45 प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारत के आयात में अफ्रीका का भाग 1991 के 4.66 प्रतिशत से बढ़कर 1997 में 6.94 प्रतिशत हो गया।

अफ्रीका में भारत का निर्यात मुख्य रूप से दक्षिण अफ्रीका, मिस्र, नाइजीरिया, केन्या, तंजानिया, इथियोपिया, सूडान, घाना, यूगांडा, लीबिया, मोज़ाम्बिक और ज़ाम्बिया के साथ है। और भारत को मुख्य रूप से नाइजीरिया, दक्षिण अफ्रीका, मोरक्को, मिस्र, ट्यूनीशिया, ज़ाम्बिया, तंज़ानिया, घाना, आइवरी कोस्ट, सेनेगल, लीबिया, ज़ायरे और गिनी बिसाउ से सामान का आयात होता है। इनमें भी दक्षिण अफ्रीका भारत से आयात और भारत को निर्यात का मुख्य स्रोत है। 1993 में, दक्षिण अफ्रीका के साथ आर्थिक संपर्क बनाने के बाद दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हुई। भारत और दक्षिण अफ्रीका के बीच व्यापार 1992–93 में 17 लाख यू.एस.डॉलर से बढ़कर 1997–98 में 86.6 करोड़ यू. एस.डॉलर हो गया, जो अब बढ़कर 2 अरब डॉलर हो गया है।

13.3.1 अफ्रीका और भारत के बीच व्यापार की वस्तुएँ।

- दवाइयाँ, औषध सामग्री और औधि निर्माण विज्ञान, तथा उच्च गुणवत्ता की रसायने इंजीनियरिंग का सामान परिवहन के उपस्कर और वाहन
- परियोजना–सामग्री
- मशीनें और उपकरण
- लघु उद्योगों और मध्यम स्तर की औद्योगिक मशीनें
- प्लास्टिक और लिनोलियम उत्पाद गेहूँ।
- परामर्श सेवाएँ कपास निर्माण सामग्री
- रसायन और संबद्ध उद्योग
- लौह और इस्पात निर्माण सामग्री
- तंबाकू, मसाले और चाय
- गैर–बासमती चावल
- सूती धागा, कपड़ा
- रबर से निर्मित उत्पाद
- जूट से निर्मित उत्पाद

13.3.2 अफ्रीका से भारत को आयात

- चमड़ा और खालें
- लैदर (संसाधित चमड़ा)
- कच्चा तेल (पेट्रोलियम)
- मोती और कीमती, अर्ध–कीमती रत्न आदि
- रंगाई, कमाई और रंग चढ़ाने का सामान लकडी और लकड़ी का सामान

- अपरिष्कृत कपास लौह अयस्क
- प्राइमरी स्टील और ढलवाँ लोहे का सामान अलौह धातुएँ
- कार्बनिक और गैर–कार्बनिक रसायन खादें (कच्ची)
- काजू

13.4 भारत और दक्षिण अफ्रीका के बीच संबंध

सन 1999 में दक्षिण अफ्रीका की सत्ताधारी अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस (ए.एन.सी) की चुनाव में जबरदस्त विजय और घरेलू राजनीति से नेल्सन मंडेला के संन्यास लेने के बाद राष्ट्राध्यक्ष थाबो म्बेकी ने सत्ता संभाली। पृथकतावादी युग के बाद राष्ट्रपति नेल्सन मंडेला और उसके बाद राष्ट्राध्यक्ष थाबो म्बेकी ने भारत के साथ ऐतिहासिक मित्रतापूर्ण संबंधों और परस्पर लाभप्रद सहयोग को बढ़ाने पर बल दिया। उन्होंने समय–समय पर पृथकतावादी जातिभेद और रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष में भारत की भूमिका के लिए कृतज्ञता प्रकट की कि किस प्रकार भारत उनकी सहायता को आया। राष्ट्रपति मंडेला ने कहा, 'जब शेष विश्व हमारे उत्पीड़कों का साथ दे रहा था, तब भारत ने हमारा साथ दिया। अपने इन संबंधों को मजबूत बनाने के लिए दोनों देशों ने एक–दूसरे के अनुकूल सहभागिता के समझौते पर 1997 में हस्ताक्षर किए। दक्षिण अफ्रीका और भारत, दोनों देशों ने गत छह वर्षों के आपसी विचार–विमर्श में विकासशील अर्थव्यवस्थाओं पर भूमंडलीकरण के कारण पड़ने वाले असमान प्रभाव के बारे में चिंता व्यक्त की और वे दक्षिण–दक्षिण सहयोग के विकास के लिए अपने प्रयासों को समन्वित करने पर सहमत हो गए।

13.4.1 सहयोग के क्षेत्र

इन दोनों देशों के बीच वर्तमान संबंधों के निर्वाह की शुरुआत 1997 में सामरिक महत्व के परस्पर सहभागिता समझौते से हुई। (सामरिक महत्व की सहभागिता) शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग भारत और दक्षिण अफ्रीका के बीच संबंधों को परिभाषित करने के लिए 1996 की भारत यात्रा के दौरान उपराष्ट्राध्यक्ष म्बेकी ने किया था। वास्तव में, मार्च 1997 में राष्ट्राध्यक्ष नेल्सन मंडेला की भारत यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच 'सामरिक महत्व की सहभागिता' के समझौते की घोषणा नई दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले से की गई थी। इस समझौते का मूल उद्देश्य द्विपक्षीय सहयोग बढ़ाना तथा अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर एक–दूसरे का सहयोग करना था।

नवंबर 1993 में परस्पर राजनयिक संबंध स्थापित करने के बाद से भारत और दक्षिण अफ्रीका के बीच आर्थिक, रक्षा और सांस्कृतिक सहयोग के विभिन्न क्षेत्रों में 15 समझौतों (एम.ओ.यू) पर हस्ताक्षर किए जा चुके हैं। लगभग दस समझौते 2003 में विचाराधीन थे। दोनों देशों के बीच जनवरी, 1995 में एक संयुक्त आयोग की स्थापना हुई थी। इसकी पहली बैठक जुलाई, 1995 में विदेश राज्यमंत्री सलमान खुर्शीद और दक्षिण अफ्रीका के उपविदेशमंत्री अज़ीज़ पहद की संयुक्त अध्यक्षता में प्रिटोरिया में हुई थी। दूसरी बैठक दिसंबर 1996 में विदेश मंत्री इंद्रकुमार गुजराल और अज़ीज़ पहद की संयुक्त अध्यक्षता में नई दिल्ली में हुई। तीसरी बैठक प्रिटोरिया में 4–5 दिसंबर, 1998 को हुई। यह बैठक विदेशराज्य मंत्री श्रीमती वसुंधरा राजे और अज़ीज़ पहद की संयुक्त अध्यक्षता में हुई। संयुक्त सत्र में पाँच समितियाँ हैं – राजनीतिक, आर्थिक, व्यापार और तकनीकी सहयोग, शिक्षा और संस्कृति, स्वास्थ्य तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी।

13.4.1.1 आर्थिक सहयोग

दक्षिण अफ्रीका के साथ आर्थिक संबंधों को विकसित करने के कई कारण हैं। उपसहारा क्षेत्र में दक्षिण अफ्रीका प्रौद्योगिकी और आर्थिक दृष्टि से सर्वाधिक समुन्नत देशों में से एक है। दक्षिण अफ्रीका की अर्थव्यवस्था ग्यारह सदस्यीय दक्षिण अफ्रीकी विकास समुदाय की सम्मिलत संयुक्त अर्थव्यवस्था से लगभग चार गुना अधिक है। इसलिए वह भारतीय कंपनियों को संयुक्त उद्यम लगाने और प्रौद्योगिकी तथा तकनीकी जानकारी देने में सक्षम है। यह जानकारी कोयला खनन प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में, बिजली के उपकरणों को पुनः कार्यक्षम बनाने के क्षेत्र में विशेषज्ञता प्रदान कर सकती है। दक्षिण अफ्रीका को ऐसा सिप्रंग बोर्ड समझा जा सकता है जहाँ से निकटस्थ बोत्सवाना, मोज़ाम्बीक, ज़िम्बाबवे, नामीबिया और हिंद महासागर के अन्य राज्यों के बाज़ार को सामग्री मुहैया करवाई जा सकती है। इसे लैटिन अमेरिकी देशों के लिए पारगमन बिंदु समझा जा सकता है और इससे लैटिन अमेरिका के बाज़ारों में भी पहुँच की संभावना हो सकती है।

आर्थिक क्षेत्र में गत कुछ वर्षों में भारत और अफ्रीका के बीच कुल व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। भारत, दक्षिण अफ्रीका में सातवाँ सबसे बड़ा निवेशकर्ता है। यह वृद्धि 199596 में 57.56 करोड़ अमेरिकी डॉलर से 2000 में लगभग 2.5 अरब हो गई। इसके वर्ष 2003 में 4 अरब डॉलर हो जाने की संभावना है। दक्षिण अफ्रीका ने लघु उद्योगों और कुटीर उद्योगों के विकास के लिए विशेषज्ञता के आदान–प्रदान में रुचि दिखाई है। भारत से मुख्य रूप से कपड़े, चमड़े–खाल, रसायनों, मशीनों और उपस्करों तथा वनस्पति उत्पादों का निर्यात होता है और दक्षिण अफ्रीका से जिन प्रमुख वस्तुओं का आयात होता है, वे हैं – धातुएँ और उनके उत्पाद, रसायन, लकड़ी की लुगदी और कागज़ तथा खनिज उत्पाद।

वर्ष 1994 में भारतीय उद्योग परिसंघ (सी.आई.आई.) ने दक्षिण अफ्रीका के दक्षिण अफ्रीकी व्यापार मंडल (एस.ए.सी.ओ.बी.) के साथ राष्ट्रीय अफ्रीकी वाणिज्य और उद्योग मंडल के परिसंघ, जिसे ब्लैक चैंबर भी कहते हैं, के साथ और साथ ही 1996 में

'एफ्रीकन्स हैंडल्स इंस्टीट्यूट', जो मुख्य रूप से ऐफ्रिकैनर चैंबर है, के साथ भविष्य में सहयोग के लिए विभिन्न समझौते पर हस्ताक्षर किए। कई भारतीय कंपनियों, जिनमें प्रमुख हैं। – एन.एस.आई.सी, ई.ई.पी.सी, टेक्सप्रोसिल, सी.आई.आई, टाटा, यू.बी. ग्रुप, डी.सी.एम, एस.आर.एफ, लिबर्टी शूज़, रैनबैक्सी, टोरेंट फार्मास्युटिकल्स, थापर ग्रुप, श्रीराम इंडस्ट्रियल एंटरप्राइजेज़ और कई अन्य छोटी कंपनियों ने पहले ही दक्षिण अफ्रीका में अपने कार्यालय स्थापित किए हुए हैं। जबकि ऐक्सिस बैंक और स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने जोहन्सबर्ग में तथा बैंक ऑफ बड़ौदा ने डर्बन ने अपनी शाखाएँ खोली हैं।

13.4.1.2 रक्षा के क्षेत्र में सहयोग जोहान्सबर्ग

भारत और अफ्रीका के बीच रक्षा के क्षेत्र में व्यापार और संयुक्त उद्यम लगाने के लिए पर्याप्त संभावनाएँ हैं। दक्षिण अफ्रीका ने वर्षों से रक्षा सामग्री का मज़बूत आधार खड़ा किया है। इसमें भी विशेष बल ज़मीनी प्रणालियों और हवाई प्रणालियों पर दिया गया है, नौसेना के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हुई है। 1987 के बाद से दक्षिण अफ्रीका में कोई नौसैनिक जलपोत नहीं बनाया गया है। इस महाद्वीप में दक्षिण अफ्रीका ही ऐसा देश है जहाँ शस्त्रास्त्रों का निर्माण और इनका निर्यात होता है।

रक्षा सहयोग के क्षेत्र में दक्षिण अफ्रीका के उपराष्ट्राध्यक्ष थाबो म्बेकी की दिसंबर, 1987 की भारत यात्रा के दौरान दोनों देशों के बीच रक्षा उपस्करों के क्षेत्र में सहयोग से संबंधित समझौते पर हस्ताक्षर हुए थे। अक्तूबर 1997 में, प्रधानमंत्री इंद्रकुमार गुजराल की दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के दौरान दक्षिण–अफ्रीकी रक्षामंत्री जो मोडिस ने घोषणा की थी कि 'दोनों देश मिलकर रक्षा के क्षेत्र में सहयोग को बढ़ावा देंगे और उसमें तेज़ी लाएँगे। इस प्रयोजन के लिए दक्षिण अफ्रीका ने भारत को सभी प्रकार की धातु–सामग्री (हार्डवेयर) मुहैया कराने का प्रस्ताव किया। विशेष रूप से इस समझौते के अंतर्गत दक्षिण अफ्रीका भारत को 155 मि.मी. वाले बोफोर्स तोपों का असला, वैमानिकी और रात को देखने वाले उपस्कर उपलब्ध कराएगा। 1998 में, भारत के थल सेनाध्यक्ष जनरल वेद प्रकाश मलिक ने घोषणा की कि भारत ने दक्षिण अफ्रीका की ट्यूमेट ओएमसी से 90 केसपिर बारूदी सुरंगों से सुरक्षित आर्मर्ड पर्सन करियर खरीदे थे। दक्षिण अफ्रीका ने 1999 के कारगिल संघर्ष के दौरान बहुत कम सूचना अवधि में भारत को 4.7 करोड़ डॉलर के 155 मि.मी. के तोप के गोलों की आपूर्ति की थी।

दोनों ही पक्षों ने नौसेना के क्षेत्र में सहयोग में गहरी रुचि दिखाई है। दोनों देशों के नौसेना के जलपोतों ने एक–दूसरे देशों की यात्रा की। आई.एन.एस.गोमती और आई.एन.एस. खुकरी दिसंबर 1994 में दक्षिण अफ्रीका गए। एस.ए.एस. ड्रेकेन्सबर्ग ने मार्च, 1995 में मुंबई का सौहार्दपूर्ण दौरा किया। भारत, दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण अफ्रीकी विकास समुदाय के अन्य देशों की 'एक्सरसाइज़ ब्लू क्रेन' में प्रमुख प्रतिभागी था। ये अभ्यास दक्षिण अफ्रीका के एस.ए.आर्मी बैटल स्कूल प्रशिक्षण क्षेत्र में (जो दक्षिण अफ्रीका के नर्दन केप प्रॉविंस में स्थित है) 7 से 30 सितंबर, 1990 के बीच हुए थे। ये अभ्यास छह चरणों में हुए। इसमें दक्षिण अफ्रीकी विकास समुदाय (एस.ए.डी.सी.) के लगभग 4000 सदस्य थे। दक्षिण अफ्रीकी विकास समुदाय देशों में शामिल हैं – अंगोला, बोत्सवाना, लेसोथो, मलावी, मॉरिशस, मोज़ाम्बीक, नामीबिया, दक्षिण अफ्रीका, स्वाज़ीलैंड, तंज़ानिया, जाम्बिया और ज़िम्बाबवे। इसके अलावा, लगभग 500 अन्य प्रतिभागी थे जिनमें से अधिकतर सैनिक प्रेक्षक थे। 'एक्सरसाइज ब्लू क्रेन' अब तक किया गया सबसे बड़ा शांति–समर्थक ऑपरेशन था। इस ऑपरेशन को दक्षिण अफ्रीकी देशों के लिए विशेष महत्व था जो अपनी संयुक्त शांति समर्थक क्षमता का मूल्यांकन करना चाहते थे।

13.4.2 दोनों देशों के बीच यात्राओं का आदान–प्रदान

सभी स्तरों के प्रतिष्ठत व्यक्तियों की यात्राओं के आदान–प्रदान से दोनों देशों के संबंध और प्रगाढ़ हुए। सबसे उच्च स्तर पर, भूतपूर्व प्रधानमंत्री इंद्र कुमार गुजराल ने अक्तूबर 1997 में दक्षिण अफ्रीका की यात्रा की। यह किसी भारतीय प्रधानमंत्री की पहली दक्षिण अफ्रीका यात्रा थी। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी दो बार दक्षिण अफ्रीका की यात्रा कर चुके हैं। पहली यात्रा 1998 में गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन के दौरान हुई थी और दूसरी बार वे नवंबर 1999 में राष्ट्रमंडल देशों के राष्ट्राध्यक्षों की बैठक में भाग लेने गए थे। जून 1999 में, भारत के विदेशमंत्री जसवंत सिंह ने अफ्रीका की यात्रा की। इसी प्रकार, राष्ट्राध्यक्ष मंडेला 1995 और 1997 में दो बार भारत की यात्रा पर आए। दक्षिण अफ्रीका के उपराष्ट्राध्यक्ष ने दिसंबर 1996 में भारत की यात्रा की। इन दोनों देशों के बीच कई मंत्रालय–स्तरीय यात्राओं का भी आदान–प्रदान हुआ।

13.4.3 शांति स्थापना ऑपरेशनों का प्रशिक्षण

गत छह वर्षों में दक्षिण अफ्रीका, पश्चिमी देशों और दूसरे अफ्रीकी देशों के दबाव में रहा है कि वह महाद्वीप में शांति स्थापना के लिए अपने दायित्व का निर्वाह करे। इसके पीछे मुख्य रूप से अफ्रीकी समस्याओं के लिए अफ्रीकी समाधान' की भावना रही है। संयुक्त राष्ट्र के शांति स्थापना संबंधी ऑपरेशनों में भाग लेने के विचार पर दक्षिण अफ्रीका में पर्याप्त बहस हो चुकी है। अक्तूबर 1998 में दक्षिण अफ्रीकी मंत्रिमंडल ने शांति स्थापना के संबंध में एक श्वेत–पत्र को मंजूरी दी। इस श्वेत–पत्र में अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापना मिशन के कार्य में दक्षिण अफ्रीका के भाग लेने से संबंधित नियम बनाए

गए थे। दक्षिण अफ्रीका का राष्ट्रीय रक्षा बल परिवर्तन और एकीकरण की प्रक्रिया में से गुज़र रहा था। यह कार्य 1998 के अंत तक पूर्ण हुआ। इनमें रक्षा बलों की एकीकरण की प्रक्रिया में भारत, दक्षिण अफ्रीका की मदद कर सकता था। भारत आज़ादी के बाद के पचास वर्षों में अनेक शांति स्थापना ऑपरेशनों में, विशेष तौर पर अफ्रीका में, सम्मिलित रहा है। इनमें शामिल हैं–ओ.एन.यू.सी, एम.ओ.एन.यू.सी (कांगो), यू.एन.टी.ए.जी (नामीबिया), ओ.एन.यू.एम.ओ. जेड़ (मोज़ाम्बीक), यू.एन.आई.टी.ए.एफ, यू.एन.ओ.एस.ओ.एम.–II (सोमालिया), यू.एन.ए.एम.आई.आर(रवांडा),यू.एन.ओ.एम.आई.एल. (लाइबीरिया). यू.एन.ए.वी.ई.एम, एम.ओ.एन.यू.ए. (अंगोला), औ इनमें शामिल हैं–

ओ.एन.यू.सी, एम.ओ.एन.यू.सी (कांगो), यू.एन.टी.ए. जी(नामीबिया), ओ.एन.यू.एम.ओ. ज़ेड (मोज़ाम्बीक), यू.एन.आई.टी.ए.एफ. यू.एन.ओ.एस.ओ.एम.–(सोमालिया), यू.एन.ए.एम.आई.आर (सोमालिया), यू.एन.ए.एम.आई.आर (रवांडा), यू.एन.ओ.एम.आई.एल. (लाइबीरिया), यू.एन.ए.वी.ई.एम, एम.ओ.एन.यू.ए. (अंगोला), और हाल ही में सियरा लियोन का संयुक्त राष्ट्र मिशन। शीत युद्ध के बाद के युग में संयुक्त राष्ट्र शांति स्थापना का भार विकासशील देशों पर आ पड़ा है। इसमें संख्या की दृष्टि से भारत का योगदान विश्व देशों में सबसे अधिक है और यह तीन महाद्वीपों में फैला हुआ है।

13.4.4 हिंद महासागर क्षेत्र में सहयोग

म्बेकी सरकार ने हिंद महासागर के तटवर्ती देशों के साथ क्षेत्रीय सहयोग के लिए गठित संघ में फिर अपनी रुचि प्रदर्शित की है। हिंद महासागर तटवर्ती क्षेत्र की पहल के संस्थापक सदस्यों में हैं – भारत, दक्षिण अफ्रीका, ऑस्ट्रलिया, मॉरिशस, ओमान, संगापुर और केन्या। इस संगठन की औपचारिक रूप में स्थापना मार्च 1997 में मॉरिशस में हुई थी। इस संगठन के निर्माण में भारत और दक्षिण अफ्रीका ने प्रमुख भूमिका अदा की। वास्तव में, इस संगठन की संकल्पना को मार्च 1993 में गंभीरता से आरंभ करने का श्रेय दक्षिण अफ्रीका के तत्कालीन विदेश मंत्री पिक बोथा को दिया जा सकता है जिसे उन्होंने अपनी नई दिल्ली की यात्रा के दौरान प्रस्तुत किया थी। उन्होंने हिंद महासागर तटवर्ती क्षेत्र की पहचान भारत तथा दक्षिणी अफ्रीका के अत्यधिक आपसी महत्व के क्षेत्र के रूप में की थी। जनवरी 1995 में अपनी नई दिल्ली यात्रा के दौरान दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति नेल्सन मंडेला ने हिंद महासागर व्यापार संधि का प्रस्ताव सामने रखा, जिसका उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। राष्ट्रपति मंडेला की सरकार के समय दोनों देशों ने प्रस्तावित चार्टर और संगठन के उद्देश्यों पर व्यापक द्विपक्षीय चर्चा की। भारत और दक्षिण अफ्रीका दोनों ही इस बात पर सामान्य रूप से सहमत थे कि सुरक्षा संबंधी मामलों को इस चार्टर से बाहर रखा जाए।

13.4.5 मतभेद के क्षेत्र

पृथकतावादी युग के बाद की अवधि में संबद्ध सरकारों द्वारा की गई संयुक्त पहल ने द्विपक्षीय संबंधों को दृढ आधार प्रदान किया। इन दोनों देशों के संबंधों में एक स्थायी समस्या परमाणु अस्त्रों से संबंधित है। दक्षिणी अफ्रीका विश्व का पहला ऐसा देश है जिसने स्वेच्छया परमाणु हथियारों का परित्याग कर दिया। यह देश न्यूक्लीय हथियारों की नियंत्रक कई शासन व्यवस्थाओं के पक्षधरों में से एक है और यह स्वयं परमाणु अस्त्र अप्रसार संधि (एन.पी.टी.) और व्यापक परमाणु अस्त्र परीक्षण प्रतिबंध संधि (सी.टी.बी.टी.) में शामिल है। उनके विचार में भारत को भी इन संधियों में शामिल होना चाहिए। लेकिन भारत इन संधियों पर इनके वर्तमान स्वरूप में हस्ताक्षर करने को तैयार नहीं है क्योंकि ये संधियाँ भेदभावपूर्ण हैं।

पृथकतावादी नस्ल–भेद के युग के बाद दक्षिण अफ्रीका की परमाणु अस्त्रों के संबंध में नीति दोनों देशों के संबंधों में उत्तेजना का विषय रही है। भारत को आशा थी कि दक्षिण अफ्रीका में राष्ट्रपति मंडेल की सरकार सार्वभौम परमाणु निरस्त्रीकरण के उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रयास में सहायक होगी। अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस (ए.एन.सी) अतीत में परमाणु निरस्त्रीकरण के समर्थन में काफी मुखर रही थी। दक्षिण अफ्रीका ने सामान्य रूप से संयुक्त राष्ट्र के ऐसे साधारण और पूर्ण निरस्त्रीकरण के प्रति अपनी वचनबद्धता प्रकट की थी जिस पर प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण हो। इस बात का संयुक्त राष्ट्र की आम सभा के 1978 के निरस्त्रीकरण पर विशेष अधिवेशन में संकल्प किया गया था। हाल ही के वर्षों में दक्षिण अफ्रीका के रुख में कुछ बदलाव आया है और परमाणु अस्त्रों के नियंत्रण के संबंध में इसके विचार पश्चिमी देशों से अधिक निकट दिखाई देते हैं। यह बात 1995 की एन.पी.टी. के पुनरीक्षण सम्मेलन और सी.टी.बी.टी. के संबंध में संधि वार्ता के दौरान स्पष्ट दिखाई दी। लंबे अरसे तक अस्थिरता का सामना करने के बाद अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस सरकार के स्थापित होने पर दक्षिणी अफ्रीका में शांति और स्थिरता के युग का उदय हुआ। इस प्रकार, परमाणु अस्त्रों के कार्यक्रम को जारी रखते हुए एन.पी.टी. और सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर न करने से कुछ गलत संकेत मिलने की संभावना हो सकती थी।

इसका एक सकारात्मक पक्ष यह है कि भारत के परमाणु परीक्षणों की पृष्ठभूमि में दक्षिण अफ्रीका ने भूमंडलीय परमाणु निरस्त्रीकरण के लिए अपने प्रयास तेज़ कर दिए। पिछले दो वर्षों में यह नए कार्यक्रम संयुक्त दल (एन.ए.सी.) का हिस्सा बन गया। इस संयुक्त दल में आरंभ में ब्राज़ील, मिस्र, आयरलैंड, मैक्सिको, न्यूज़ीलैंड, स्लोवेनिया, दक्षिण अफ्रीका और स्वीडन आदि देश थे। संयुक्त दल ने मई 1998 में भारत और पाकिस्तान के परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिक्रिया व्यक्त

करते हुए कहा था कि अब हमें परमाणु अस्त्रों के अप्रसार और निरस्त्रीकरण पर नए सिरे से विचार करना चाहिए। इस दल ने जून, 1998 की अपनी संयुक्त घोषणा में निरस्त्रीकरण के सम्मेलन में जिस वार्ता में अवरोध हो गया था उसे फिर से सक्रिय करने के लिए एक नई कार्यसूची प्रस्तुत की।

भारत और जी–21 के अन्य सदस्यों ने इससे पूर्व निरस्त्रीकरण पर सम्मेलन में एक तदर्थ समिति बनाने की सिफारिश की थी। यह समिति समयबद्ध कार्यक्रम के अंतर्गत परमाणु अस्त्रों को समाप्त करने के उद्देश्य से चरणबद्ध रूप में समझौते के लिए बातचीत आरंभ करेगी। यद्यपि दक्षिण अफ्रीका ने भारत की स्थिति की सराहना की लेकिन वह भारत के परमाणु निरस्त्रीकरण के समयबद्ध कार्यक्रम से सहमत नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि ये देश चरणबद्ध रूप में इस पर आगे बढ़ने के तो पक्ष में हैं लेकिन वे इसके लिए कोई समय की व्यवस्था के पक्ष में नहीं हैं। परंतु मई 1998 में पोखरण परमाणु परीक्षणों के बाद भारत 1986 में संयुक्त राष्ट्र में पूर्व–प्रधानमंत्री राजीव गांधी द्वारा परमाणु निरस्त्रीकरण पर प्रतिपादित योजना से पीछे हट गया जिसमें समयबद्ध रीति से निरस्त्रीकरण की बात कही गई थी। यद्यपि भारत अब भी चरणबद्ध रूप से निरस्त्रीकरण के पक्ष में है लेकिन इसने निरस्त्रीकरण के लिए समयबद्धता के बारे में ज़ोर देना बंद कर दिया।

इससे यह पता चलता है कि इस विषय में भारत और दक्षिण अफ्रीका की लगभग एकसमान स्थिति है और स्पष्ट रूप से वे निरस्त्रीकरण सम्मेलन में एक ही ओर हैं।

13.5 सारांश

ऊपर की गई चर्चा से यह स्पष्ट है कि भारत और अफ्रीका महत्वपूर्ण भागीदार हैं। यह स्थिति बहुत लंबे समय से है। समय के अनुसार भारत और अफ्रीका के बीच सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामरिक और वाणिज्यिक आदान–प्रदान तथा व्यापार की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हुई है। दोनों ही क्षेत्र अतीत में विभिन्न प्रकार के पारस्परिक हित के कार्यक्रमों में संलग्न रहे हैं।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि भारत की विदेश नीति और अफ्रीका संबंधी नीति के मूल सिद्धांतों की और अधिक पुष्टि इस बात से भी हुई कि भारत की विदेश नीति का विशेष बल 'गुटनिरपेक्षता' और सामूहिक आत्म–निर्भरता के प्रपत्र पर है। आरंभ से ही, अफ्रीका और एशिया के देश 'पंचशील' के सिद्धांतों पर आधारित समान विदेश नीति के संबंध में एकमत हैं। (पंचशील के सिद्धांत हैं – किसी पर आक्रमण न करना, किसी के मामले में हस्तक्षेप न करना, दूसरे राष्ट्रों की संप्रभुता और अखंडता को स्वीकार करना, एक–दूसरे का आदर करना और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना रखना।

फिर भी, हमारी मानवीय और प्राकृतिक संसाधनों की इतनी अधिक शक्ति को देखते हुए, वास्तव में, हम दोनों देशों में जो द्विपक्षीय व्यापार और आर्थिक सहयोग का स्तर है वह हमारे वास्तिवक सामर्थ्य को प्रकट नहीं करता हैं। इस विषय में आगे और प्रयास करने की आवश्यकता है। भारत और अफ्रीका सम्मिलत रूप में काम करके और विकसित विश्व की अपेक्षा कहीं अधिक मितव्ययिता के द्वारा संसाधनों एवं प्रौद्योगिकी का आपस में समान रूप से उपयोग करके कहीं अधिक लाभ उठा सकते हैं।

इस नई सहस्राब्दि में इन दो महाद्वीपों के सहयोग से बहुत से साधनों की खोज की जानी है। इन कार्यों को राजनयिक सरणियों के अलावा, जनता से जनता के स्तर पर भी किए जाने की आवश्यकता है। उदाहरण के तौर पर – व्यापार और संयुक्त उद्यमों द्वारा, कृषि विकास में परामर्श सेवाओं के द्वारा, रूढिवाद और आतंकवाद एवं एच.आई.वी. और एड्स के विरुद्ध संघर्ष द्वारा। भारत और अफ्रीकी देश सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आपसी लाभ के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। नई सहस्राब्दि भारत और अफ्रीका के देशों को दक्षिण–दक्षिण सहयोग द्वारा सुख–समृद्धि के मार्ग पर ले जा सकती है।

13.6 अभ्यास

1. दक्षिण अफ्रीका के स्वतंत्रता आंदोलन में महात्मा गांधी की भूमिका का विवरण दीजिए।
2. गुटनिरपेक्ष आंदोलन में अफ्रीका का क्या योगदान है?
3. भारत–अफ्रीका संबंधों में पारस्परिक सहयोग और मतभेद के कौन–कौन से क्षेत्र हैं?
4. क्षेत्रीय सहयोग की दृष्टि से हिंद महासागर तटवर्ती संघ में भारत और दक्षिण अफ्रीका की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
5. अफ्रीका महाद्वीप के उन देशों के नाम लिखिए जिन्हें भारत अपने उत्पादों का निर्यातकरता है।
6. उन वस्तुओं के नाम लिखिए जिन्हें अफ्रीका के देश भारत से आयात करते हैं।

इकाई–14

राजनीतिक एवं सुरक्षा संबंधी समस्याएँ : शस्त्र नियंत्रण, निरस्त्रीकरण, परमाणु मसले और अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 परिभाषाएँ : निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण

14.3 निरस्त्रीकरण नीति के चार स्तंभों के बीच संबंध

14.4 संयुक्त राष्ट्र संघ और निरस्त्रीकरण

14.4.1 निरस्त्रीकरण की संस्थाएँ।

14.4.2 परमाणु मसले

14.5 भारत की निरस्त्रीकरण नीति

14.5.1 भारतीय परमाणु परीक्षण और निरस्त्रीकरण नीति

14.6 निरस्त्रीकरण और विकास

14.7 अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद

14.8 सारांश

14.9 अभ्यास

14.1 प्रस्तावना

एक पुरानी कहावत 'यदि शांति चाहते हो तो लड़ाई के लिए तैयार रहो।' हमारे सामने युद्ध और शांति की बहस को अच्छी तरह उजागर करती है। जब विभिन्न देश हथियार जमा करते हैं तो उनका उद्देश्य हमेशा विजय प्राप्त नहीं होता। अधिकतर मामलों में उन हथियारों का इस्तेमाल अपनी स्वतंत्रता तथा प्रभुसत्ता की रक्षा के लिए किया जाता है। हालांकि देश हमेशा एक–दूसरे के साथ युद्ध नहीं करते रहते, फिर भी वे हथियार जुटाने पर बहुत बड़ी राशि खर्च करते हैं। हम हथियारों की होड़ से होने वाले नुकसान के बारे में अक्सर सुनते रहते हैं। यह एक प्रकार क्रिया–प्रतिक्रिया प्रक्रिया है जिसमें देश अपने प्रतिद्वंद्वियों से आगे बढ़ने के लिए बढ़िया से बढ़िया हथियार जुटाते रहते हैं। यह आम विश्वास है कि हथियारों की होड़ हमें युद्ध की ओर ले जाती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा प्रणाली स्थापित करने के प्रयास में निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण को प्रमुख तत्व माना है। निरस्त्रीकरण पर बुलाए गए संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा के अधिवेशन में सदस्य देशों का आह्वान किया गया था कि वे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में बल प्रयोग न करें, तथा निरस्त्रीकरण के माध्यम से सुरक्षा कायम करें और यह तभी हो सकता है जब हथियारों की मौजूदा मात्रा में धीरे–धीरे कमी लाई जाए। अधिवेशन ने परमाणु युद्ध की संभावना समाप्त करने तथा हथियारों की होड़ रोकने एवं स्थायी शांति का रास्ता तैयार करने के उपाय लागू करने के लक्ष्य पर भी बल दिया। इस इकाई में शस्त्र नियंत्रण और निरस्त्रीकरण को विश्व में शांति तथा सुरक्षा स्थापित करने का साधन मानकर चलने का अध्ययन किया गया है।

14.2 परिभाषाएँ : निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण

सामाजिक विज्ञान की पुस्तकों में प्रथम विश्व युद्ध के समय से ही निरस्त्रीकरण की अवधारणा का विस्तृत विवेचन होता रहा है। शस्त्र नियंत्रण की अवधारणा 1950 के दशक में अमेरिका द्वारा विकसित की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा–पत्र में निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण को अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की सतत स्थापना का तत्व माना गया है।

विश्व निरस्त्रीकरण कांग्रेस में निरस्त्रीकरण की परिभाषा किसी भी ऐसे कार्य के रूप में की गई जिसका उद्देश्य हथियारों को सीमित और नियंत्रित करना तथा उनमें कमी लाना हो। यह सशस्त्र राष्ट्रों की मौजूदा प्रणाली को ऐसी शस्त्र–रहित नियोजित शांति के बदलने की प्रक्रिया है जिसमें युद्ध किसी देश की राष्ट्रीय नीति का हिस्सा न रहे। और लोग न्याय तथा एकजुटता पर आधारित सुरक्षा के माहौल में रहें। हैडली बुल्ल (1961) ने निरस्त्रीकरण की सबसे व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार निरस्त्रीकरण हथियारों को नष्ट करना या कम करना है। यह एकपक्षीय भी हो सकता है और बहुपक्षीय भी, सामान्य भी हो सकता है और स्थानीय भी, व्यापक भी हो सकता है और आंशिक भी तथा नियंत्रित

भी हो सकता है और अनियंत्रित भी। इस प्रकार, निरस्त्रीकरण को युद्ध की समाप्ति और न्यायपूर्ण एवं स्थायी शांति की स्थितियाँ पैदा करने का लक्ष्य प्राप्त करने का साधन माना गया है। यह एक राजनीतिक रणनीति है जिसमें सैनिक शक्ति (जैसे हथियारों), सशस्त्र बलों तथा सैनिक औद्योगिक एवं प्रौद्योगिक क्षमताओं को सीमित नियंत्रित करने तथा कम करने के उपाय शामिल रहते हैं।

1950 के दशक में सामान्य तथा पूर्ण निरस्त्रीकरण की दिशा में हुई प्रगति पर असंतोष, आकस्मिक कारणों से युद्ध छिड़ जाने पर चिंता, अचानक हमलों या गलत अनुमानों, परमाणु शक्तियों के स्थायित्व से जुड़ी समस्याओं और परमाणु–विरोधी समूहों की सक्रियता ने शस्त्र नियंत्रण की अवधारणा को जन्म दिया। शस्त्र नियंत्रण या शस्त्र परिसीमन में हथियारों के प्रकार और संख्या, उनकी तैनाती या प्रयोग या विशेष प्रकार के हथियारों के इस्तेमाल पर नियंत्रण शामिल है। शस्त्र नियंत्रण में ऐसे उपाय भी शामिल हैं जिनका उद्देश्य आकस्मिक युद्ध या अचानक आक्रमण के खतरों को कम करना है। जहाँ निरस्त्रीकरण में मौजूदा शस्त्रों में कमी/समाप्ति पर बल दिया जाता है वहीं शस्त्र नियंत्रण में भविष्य के हथियारों पर नियंत्रण के परिसीमन पर ज़ोर दिया जाता है।

शस्त्र नियंत्रण की अवधारणा के घेरे में कई तरह के उपाय शामिल हो गए हैं। ये हैं – (i) कुछ विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों के उत्पादन पर रोक, परिसीमन, कमी या विनाश; (ii) कुछ सैनिक गतिविधियों की रोकथाम; (iii) सशस्त्र बलों की तैनाती नियंत्रित करना; (iv) सैनिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं की बिक्री पर प्रतिबंध लगाना; (v) आकस्मिक युद्ध के खतरे कम करना; (vi) कुछ विशिष्ट तरह के शस्त्रों या युद्ध की विधियों पर रोक लगाना; और (vii) सैनिक मामलों में खुलापन लाकर देशों के बीच आपसी विश्वास पैदा करना।

राजनीतिक बयानों में निरस्त्रीकरण' तथा 'शस्त्र नियंत्रण' शब्दों का इस्तेमाल प्रायः एक ही अर्थ में और एक–दूसरे के पूरक के रूप में किया जाता है। निरस्त्रीकरण की बजाय शस्त्र नियंत्रण की अवधारणा को 1950 के दशक तथा 1960 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों में स्वीकृति मिली। परंतु सोवियत संघ, पूर्वी यूरोपीय देशों और कुछ विकासशील देशों ने निरस्त्रीकरण शब्द का प्रयोग जारी रखा। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी निरस्त्रीकरण शब्द ही प्रयोग किया जाता रहा। 1960 के दशक से शस्त्र नियंत्रण की अवधारणा का एक मुख्य पहलू यह रहा है कि परमाणु युद्ध पैदा करने वाले किसी भी संकट को संभाला जाए, नियंत्रित किया जाए और रोका जाए।

14.3 निरस्त्रीकरण नीति के चार स्तंभों के बीच संबंध

निरस्त्रीकरण की नीति का मुख्य स्तंभ है – शस्त्रीकरण कम करना। अन्य तीन स्तंभ हैं – (क) शस्त्र नियंत्रण, (ख) संकट की रोकथाम, नियंत्रण तथा प्रबंध; और (ग) विश्वास एवं सुरक्षा का निर्माण।

शस्त्र नियंत्रण के कार्य हैं – (i) किसी आकस्मिक घटना के कारण शुरू होने वाले युद्ध के खतरे को कम करना, (ii) हथियारों की अंतर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय होड़ को धीमा करना, (iii) परस्पर विरोधी देशों में विश्वास बढ़ाना, (iv) अधिक शस्त्रों वाले देशों और कम शस्त्रों वाले देशों के बीच असमानता कम करना और इस प्रकार अस्थिरता के स्रोत को दूर करना, (v) देशों को विवाद हल करने के शांतिपूर्ण उपाय अपनाने को प्रोत्साहित करना, (vi) संसाधनों को आर्थिक और सामाजिक विकास के कार्यों के लिए बचाना; और (vii) विश्वास तथा बेहतर समझ–बूझ पैदा करना।

शस्त्र नियंत्रण की नीति हथियारों की होड़ के कारणों पर काबू पाकर राजनीतिक स्थिरता को बढ़ावा देती है। संकट की रोकथाम, नियंत्रण और प्रबंध के अंतर्गत उन क्षेत्रों में राजनीतिक स्थिरता तथा आर्थिक विकास पर ध्यान दिया जाता है, जहाँ ज़्यादा तनाव होता है। क्यूबा के प्रक्षेपास्त्र संकट और बाद में मध्य–पूर्व एशिया तथा अफगानिस्तान में यह नीति आज़माई गई जिसमें संकट की रोकथाम एवं प्रबंधन के विकास के साधन के रूप में अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच संपर्क सुधारने के लिए राजनीतिक प्रयास किए गए। कुछ विद्वान संकट प्रबंधन को तनाव के शांतिपूर्ण समाधान का साधन मात्र मानते हैं। इस प्रकार इसकी सफलता युद्ध को टाल पाने पर निर्भर करती है। अन्य विशेषज्ञों के अनुसार यह विजय पाने का एक तरीका है। इसका उद्देश्य शत्रु को निस्सहाय बनाकर अपनी बातें मनवाना है।

'विश्वास निर्माण उपाय' शब्दों का अंतर्राष्ट्रीय भाषा में प्रवेश 1970 के दशक में हुआ। चूँकि ये उपाय मुख्यतया सुरक्षा के संदर्भ में किए जाते हैं इसलिए इन्हें अब 'विश्वास और सुरक्षा निर्माण उपाय' कहा जाने लगा है। इन उपायों के उद्देश्य हैं– (i) देशों को विश्वास दिलाना कि उनके संभावित शत्रु देश उन पर हमला नहीं करना चाहते और इस तरह गलतफहमी होने की आशंका दूर करना, (ii) अधिक मज़बूत ताकतों द्वारा राजनीतिक दबाव की संभावनाएँ कम करना; और (iii) संकट की स्थिति में शत्रुता फैलने की संभावना कम करना। इस प्रकार, विश्वास तथा सुरक्षा निर्माण उपायों का उद्देश्य प्रथम परमाणु हमले तथा परंपरागत अचानक हमले की रोकथाम करना और क्षेत्रीय तनाव को अन्य क्षेत्रों में फैलने से रोकना है।

निरस्त्रीकरण तथा असैनिकीकरण में अंतर है। असैनिकीकरण में प्रायः लड़ाई में पराजित देशों को बलपूर्वक शस्त्र–विहीन बनाया जाता है। युद्ध में विजय के बाद किसी देश में हथियारों के प्रयोग पर रोक लगाना भी निरस्त्रीकरण में शामिल है।

स्रोत : हैंस गुंटेर बाख, सर्वे ऑफ रिसेंट एंड ऑनगोइंग रिसर्च इन द सोशल एवं ह्यूमन साइसेज़ ऑन डिसार्मामेंट (यूनेस्को, 1988), पृ.32

14.4 संयुक्त राष्ट्र संघ और निरस्त्रीकरण

संयुक्त राष्ट्र संघ का आदर्श है – 'आने वाली पीढियों को युद्ध की मार से बचाना। संयुक्त राष्ट्र संघ शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए वचनबद्ध है। इसके घोषणापत्र में बल प्रयोग करने की धमकी की मनाही है और इसमें विवादों के शांतिपूर्ण समाधान का प्रावधान है। संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा को निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण से संबंधित सिद्धांतों पर विचार करने तथा सुरक्षा परिषद के सदस्यों को ऐसे सिद्धांतों पर सिफारिशें करने का अधिकार है।

इस सिलसिले में एक रचनात्मक उपलब्धि यह है कि सभी पक्षों ने यह समझ लिया है कि इस परमाणु युग में निरस्त्रीकरण के साथ छोटे–बड़े सभी देशों का वास्ता है। निरस्त्रीकरण अब थोड़े से बड़े देशों का सिरदर्द नहीं रहा, बल्कि यह समूची मानवता से जुड़ा मुद्दा बन चुका है। निरस्त्रीकरण के मसले से दो स्तरों पर निपटना होगा। ये हैं – विचार और बातचीत। विचार के स्तर पर सभी देशों को शामिल करना होगा। इस तरह के विचार के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ सबसे उपयुक्त मंच है। बातचीत के स्तर पर थोड़े–से देशों को समझौते और संधियाँ तैयार करने के लिए निरस्त्रीकरण पर विचारविमर्श करना होगा। जहाँ तक भारत का संबंध है, इसने इन दोनों स्तरों पर अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

14.4.1 निरस्त्रीकरण की संस्थाएँ

निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण से जुड़ी समस्याओं पर संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर जो संस्थाएँ विचार–विमर्श करती हैं, वे इस प्रकार हैं :

1. महासभा : यह निरस्त्रीकरण पर विचार–विमर्श का स्थायी मंच है और इससे जुड़ी समस्याओं के सभी पहलुओं के बारे में समूचे विश्व समुदाय के लिए कार्यों तथा सिफारिशों का मुख्य स्रोत है।
2. प्रथम समिति : संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों की यह समिति महासभा की एक प्रमुख समिति है। यह केवल निरस्त्रीकरण तथा सुरक्षा संबंधी मसलों को देखती है। और महासभा को प्रस्तावों के प्रारूप पेश करती है।
3. निरस्त्रीकरण आयोग : यह निरस्त्रीकरण की समस्याओं पर विचार करने का एक सहायक मंच है। इस आयोग का कार्य निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में विभिन्न मसलों पर विचार करना और सिफारिशें प्रस्तुत करना है।
4. तदर्थ समिति : विशिष्ट विषयों पर विचार करने के लिए महासभा तदर्थ समितियाँ नियुक्त कर सकती है। उदाहरण के लिए, विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन आयोजित करने के लिए विभिन्न देशों से प्राप्त सुझावों पर विचार करने के लिए इस विषय पर तदर्थ समिति गठित की गई थी।
5. निरस्त्रीकरण सम्मेलन : यह जिनेवा में स्थित शस्त्र नियंत्रण के लिए बहुपक्षीय विचार मंच है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ का अंग नहीं है, परंतु समय बीतने के साथ–साथ इन दोनों संस्थाओं में गहरा रिश्ता बन गया है। हालांकि औपचारिक रूप से यह स्वायत्त संगठन है परंतु यह संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा के प्रस्तावों पर विचार करता है और अपनी रिपोर्ट महासभा को भेजता है। सम्मेलन में सभी परमाणु–शक्ति संपन्न देशों तथा भौगोलिक प्रतिनिधित्व के आधार पर अन्य देशों को शामिल किया गया है। निरस्त्रीकरण सम्मेलन के प्रस्ताव संबंधित देशों के हस्ताक्षर और पुष्टि के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ में भेजे जाते हैं। अपनी स्थापना के समय निरस्त्रीकरण सम्मेलन ने जिन विषयों पर काम करने का लक्ष्य अपने सामने रखा, वे हैं – परमाणु हथियारों, रासायनिक हथियारों, जनसंहार के अन्य शस्त्रों और परंपरागत हथियारों पर नियंत्रण, सैनिक बजट में कटौती, सशस्त्र बलों की संख्या घटाना, निरस्त्रीकरण और विकास, विश्वास निर्माण उपाय और निरस्त्रीकरण के सामान्य मामले ।
6. संयुक्त राष्ट्र संघ निरस्त्रीकरण विभाग : यह निरस्त्रीकरण संबंधी मामले निपटाने के द्य लिए संयुक्त राष्ट्र सचिवालय की संगठनात्मक इकाई है।
7. संयुक्त राष्ट्र संघ निरस्त्रीकरण अनुसंधान संस्थान : यह निरस्त्रीकरण संबंधी मसलों पर स्वतंत्र रूप से अनुसंधान करता है और निरस्त्रीकरण विभाग के साथ मिलकर काम करता है। इसका मुख्यालय जिनेवा में है।
8. निरस्त्रीकरण मामलों का परामर्श मंडल : यह महासचिव का परामर्श मंडल है जो विशिष्ट विषयों के बारे में अध्ययन करता है।

14.4.2 परमाणु मसले

दूसरा विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद से ही परमाणु शस्त्रों पर चिंता और इन हथियारों के प्रसार पर रोक लगाने के तरीके एवं उपाय अंतर्राष्ट्रीय बहस के मुख्य मुद्दे रहे हैं। परमाणु शस्त्रों के दुनियाभर में प्रसार पर रक्षात्मक उपायों के जरिए नियंत्रण करने की नीति परमाणु शस्त्रों से संपन्न देशों द्वारा प्रस्तुत की गई। 1968 में यह नीति परमाणु अप्रसार

संधि (एन.पी.टी.) तथा 1996 के व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (सी.टी.बी.टी.) के रूप में सामने आई। 1974 में भारत द्वारा किए गए परमाणु परीक्षण का परमाणु शस्त्रों से संपन्न शक्तियों ने कड़ा विरोध किया। परमाणु प्रौद्योगिकी के प्रसार पर रोक लगाने के उद्देश्य से परमाणु आपूर्तिकर्ता क्लब का गठन किया गया। इसके बाद यह बहस तकनीकी मुद्दों से हटकर परमाणु शस्त्रों की उपयोगिता और परमाणु शस्त्रों से संपन्न नए देशों के खिलाफ प्रतिबंध लगाने के राजनीतिक पहलुओं पर केंद्रित हो गई।

परमाणु हथियारों के प्रसार पर काबू पाने के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं। इस बारे में प्रमुख समझौते तथा संधियाँ इस प्रकार हैं :

1. 1963 की आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि : यह एक बहुपक्षीय संधि है जिसमें वातावरण, बाह्य अंतरिक्ष या समुद्र में या किसी भी वायुमंडल में ऐसा कोई भी परमाणु विस्फोट (गैर–सैनिक उद्देश्यों से किए गए विस्फोट सहित) करने पर पाबंदी का प्रावधान है। जिससे किसी भी देश में रेडियोधर्मी कचरा पैदा होता हो। भारत ने इस संधि पर हस्ताक्षर किए हैं।
2. परमाणु अप्रसार संधि (एन.पी.टी.) (1968) : परमाणु अप्रसार संधि परमाणु हथियारों का प्रसार रोकने के उद्देश्य से प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम करने की दिशा में पहला कदम था। इसमें गैर–परमाणु शक्तियों द्वारा यह वचन देने का प्रावधान है। कि वे परमाणु शस्त्र बनाने या प्राप्त करने की कोशिश नहीं करेंगी। भारत ने इसे भेदभावपूर्ण बताया और इस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं।
3. 1974 की प्रवेश बिंदु परीक्षण प्रतिबंध संधि : यह संधि अमेरिका और सोवियत संघ के बीच है जिसमें दोनों देशों ने 150 किलोटन से अधिक शक्ति के परमाणु परीक्षण न करने का निश्चय किया है।
4. 1976 की शांतिपूर्ण परमाणु विस्फोट संधि : यह भी अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच हुई द्विपक्षीय संधि है जिसमें ऐसे विस्फोटों को नियंत्रित करने का प्रावधान है जो परमाणु हथियारों के परीक्षण के स्थलों से बाहर के स्थान पर किए जा सकते हैं और इसलिए इन्हें शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए माना जा सकता है। ये बाद की दोनों संधियाँ वास्तव में एक तरह से आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि की पूरक संधियाँ हैं जिनमें पहली संधि में रह गई कमियाँ दूर करने का प्रयास किया गया है।
5. 1996 की व्यापक परमाणु निषेध संधि (सी.टी.बी.टी) : सी.टी.बी.टी. के नाम से मशहूर इस संधि को परमाणु हथियारों के विकास तथा विस्तार की रोकथाम का बहुत महत्वपूर्ण उपाय माना गया। ऐसा दावा किया गया कि सभी विस्फोटों पर प्रतिबंध लग जाने से (क) परमाणु शस्त्रों के विकास तथा स्तर में सुधार पर रोक लग सकेगी, (ख) नई किस्म के उन्नत परमाणु शस्त्रों का विकास नहीं हो सकेगा, (ग) परमाणु अप्रसार तथा परमाणु निरस्त्रीकरण की प्रक्रिया में मदद मिलेगी; और (घ) अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा मज़बूत होगी। यह संधि निरस्त्रीकरण सम्मेलन में स्वीकार नहीं की जा सकी परंतु संयुक्त राष्ट्र महासभा में इसे भारी बहुमत से पारित किया गया। इस पर 100 से अधिक देश हस्ताक्षर कर चुके हैं। इस पर सबसे पहले अमेरिका ने हस्ताक्षर किए, हालांकि अमेरिकी सीनेट ने 1999 में इसकी पुष्टि करने से इनकार कर दिया। इसलिए यह संधि ठंडे बस्ते में चली गई। भारत ने इसे भेदभावपूर्ण बताते हुए हस्ताक्षर नहीं किए हैं।

विश्व के अधिक आबादी वाले क्षेत्रों में परमाणु शस्त्र मुक्त क्षेत्र बनाने का विचार इसलिए आया ताकि परमाणु अप्रसार का दायरा बढ़ाया जा सके तथा यह सुनिश्चित किया सके कि नए देश परमाणु हथियार न बनाएँ। इस सिलसिले में उठाए गए कुछ कदम इस प्रकार हैं :

(i) लैटिन अमेरिकी क्षेत्र के लिए तलाते लोल्को संधि (1967)

(ii) दक्षिण प्रशांत क्षेत्र के लिए रारोतोंगा संधि (1985)

(iii) कोरिया प्रायद्वीप को परमाणु–रहित बनाने की घोषणा (1992)

14.5 भारत की निरस्त्रीकरण नीति

निरस्त्रीकरण तथा विश्व–शांति को प्रोत्साहन देना भारत की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्य रहे हैं। विश्व के सामने इस समय सबसे बड़ा संकट है – परमाणु युद्ध का खतरा। निरस्त्रीकरण, विशेषकर परमाणु निरस्त्रीकरण, भारत के लिए हमेशा से चिंता का विषय रहा है। परमाणु शस्त्रों की उपस्थिति और शस्त्रों की होड़ जारी रहना मानवता के अस्तित्व के लिए खतरा है। परमाणु हथियार न तो लड़ाई के शस्त्र हैं और न ही उन्हें शांति कायम करने में सहायक के रूप में गरिमा दी जानी चाहिए। भारत का हमेशा यह मत रहा है कि निरस्त्रीकरण के बारे में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत उद्देश्यों और सिद्धांतों में निहित दृष्टि, दिशा और अवधारणाओं का पूरी तरह से पालन किया जाना चाहिए, नहीं तो विश्व समुदाय निरस्त्रीकरण का लक्ष्य प्राप्त करने में कभी सफल नहीं हो पाएगा।

परमाणु शस्त्रों के क्षेत्र में भारत ने शस्त्रों की होड़ समाप्त करने के लिए कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पेश किए हैं। भारत का परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम परमाणु ऊर्जा का शांतिपूर्ण कार्यों के लिए इस्तेमाल करने को वचनबद्ध है। इस दिशा में किए गए कुछ प्रयास इस प्रकार है:

1. 1954 में भारत ने सुझाव दिया कि जब तक व्यापक परमाणु शस्त्र परीक्षण प्रतिबंध का उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता तब तक परमाणु हथियारों के सभी परीक्षण स्थगित कर दिए जाएँ।
2. 1964 में भारत ने सुझाव दिया कि परमाणु शस्त्रों के फैलाव की समस्या हल करने के लिए हथियारों के विकास तथा विस्तार को एक साथ ही अंतर्राष्ट्रीय संधि की व्यवस्थाओं के अंतर्गत रोक दिया जाए।
3. 1974 में भारत ने परमाणु शस्त्रों के इस्तेमाल या इस्तेमाल की धमकी पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने की माँग की क्योंकि इस तरह का कोई भी इस्तेमाल संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा–पत्र का उल्लंघन और मानवता के प्रति अपराध है।
4. 1982 में भारत ने कुछ ठोस कार्यक्रम प्रस्तावित किए – (क) निरस्त्रीकरण पर आयोजित विशेष अधिवेशन में परमाणु शस्त्रों का प्रयोग न करने के लिए सबके लिए अनिवार्य रूप से मान्य संधि पर विचार किया जाए, (ख) वर्तमान शस्त्र भंडार में कमी लाने के पहले कदम के रूप में परमाणु शस्त्रों के निर्माण पर रोक लगे तथा भविष्य में इसका उत्पादन पूरी तरह रोक दिया जाए, (ग) सभी परमाणु परीक्षण तत्काल स्थगित किए जाएँ, (घ) निर्धारित समय–सीमा के भीतर सामान्य एवं पूर्ण निरस्त्रीकरण की संधि करने के लिए बातचीत की जाए; और (च) संयुक्त राष्ट्र संघ लोगों में परमाणु शस्त्रों के खतरों के बारे में जागरुकता पैदा करे।
5. 1984 में भारत ने अर्जेंटीना, मैक्सिको, स्वीडन, ग्रीस तथा तंजानिया के साथ मिलकर पाँच महाद्वीप के छह देशों का शांति अभियान चलाया। इस अभियान के तहत परमाणु शक्ति वाले देशों से परमाणु शस्त्रों के परीक्षण, उत्पादन एवं तैनाती पर रोक लगाने तथा हथियारों में कमी लाकर पूर्ण निरस्त्रीकरण की दिशा में बढ़ने की अपील की।
6. भारत ने 1925 की जिनेवा संधि, 1963 की आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि, 1967 की बाह्य अंतरिक्ष संधि, 1971 की समुद्र तल संधि, 1972 की जैविक शस्त्र संधि और 1993 की रासायनिक हथियार संधि पर हस्ताक्षर किए।

किसी भी अंतर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण समझौते के बारे में भारत की दृष्टि का आधार यह बुनियादी विचार रहा है कि केवल समान तथा भेदभावरहित संधियों से तनाव में कमी होती है और शांति होती है तथा निरस्त्रीकरण के लक्ष्य की ओर बढ़ने में मदद मिलती है। परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करने से भारत का इनकार इसी दृष्टिकोण से प्रेरित है। जिन देशों के पास परमाणु शक्ति नहीं थी, वे भी इस संधि के आलोचक थे। वे इसे भेदभावपूर्ण संधि मानते थे। उनकी आलोचना के मुद्दे इस प्रकार थे – (क) संधि के उन प्रावधानों का असमान स्वरूप जो केवल गैर–परमाणु देशों पर रक्षा उपायों कोलागू करते हैं, (ख) शस्त्रों से संपन्न राष्ट्रों को शांतिपूर्ण कार्यों के लिए परीक्षण करने का अधिकार देकर उनके आर्थिक हितों को कायम रखना, (ग) परमाणु हथियारों वाले देशों की वचनबद्धता की अस्पष्टता; और (घ) परमाणु शस्त्रों से रहित देशों की उचित सुरक्षा चिंताओं की अनदेखी।

व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (1996) यानी सी.टी.बी.टी. को परमाणु हथियारों के विकास और विस्तार की रोकथाम का बहुत महत्वपूर्ण साधन माना गया। ऐसा दावा किया गया कि सभी विस्फोटों पर प्रतिबंध लग जाने से (क) परमाणु शस्त्रों के विकास तथा स्तर में सुधार पर रोक लग सकेगी, (ख) नई किस्त के उन्नत परमाणु शस्त्रों का विकास नहीं हो सकेगा, (ग) परमाणु अप्रसार तथा परमाणु निरस्त्रीकरण की प्रक्रिया में मदद मिलेगी; और (घ) अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा मज़बूत होगी। भारत ने सी.टी.बी.टी. पर हस्ताक्षर करने को समयबद्ध निरस्त्रीकरण कार्यक्रम से जोड़ा। भारत का कहना था कि परमाणु अप्रसार संधि विश्व में परमाणु निरस्त्रीकरण के मसले से निपटने में विफल रही है। अपनी संभावनाओं के बारे में इस संधि की अंतर्निहित सीमाओं के कारण ऐसा नहीं लगता कि यह परमाणु निरस्त्रीकरण के लक्ष्य की दिशा में बढ़ पाएगी। भारत ने कहा कि वह इसे तभी स्वीकार कर सकता है जब पाँच परमाणु शस्त्र संपन्न देश परमाणु हथियारों को पूरी तरह समाप्त करने के समयबद्ध कार्यक्रम पर सहमत हो जाएँ।

14.5.1 भारतीय परमाणु परीक्षण और निरस्त्रीकरण नीति

परमाणु निरस्त्रीकरण पर भारत का दृष्टिकोण सबसे पहले 1954 में सामने आया जब पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 'स्टैंड स्टिल ' (जहाँ का तहाँ) समझौते का आह्वान किया था। भारत का दृष्टिकोण यह था कि परमाणु परीक्षण पर रोक के किसी भी समझौते से हथियारों की होड़ पर अंकुश लगाने में मदद मिलेगी। इससे निरस्त्रीकरण पर समझौता होने का मार्ग भी प्रशस्त होगा। 1956 तक परीक्षणों पर प्रतिबंध के बारे में विभिन्न देशों के अलग–अलग मत उजागर हो चुके थे। भारत और सोवियत संघ ने अंतर्राष्ट्रीय निगरानी के बिना ही सभी परमाणु परीक्षणों पर शीघ्र और अलग से समझौता करने का सुझाव दिया क्योंकि ऐसे परीक्षण छिपाए नहीं जा सकते। लेकिन पश्चिमी देशों का मत था कि पर्याप्त

निगरानी के बाद ही परमाणु परीक्षणों पर सीमित रोक और अंततः प्रतिबंध लगाया जाए। इसके फलस्वरूप अमेरिका, इंग्लैंड और सोवियत संघ ने आंशिक परीक्षण प्रतिबंध संधि पर बातचीत प्रारंभ की। यह संधि 1963 में अस्तित्व में आई और भारत ने इस पर हस्ताक्षर किए। 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में भारत ने इस बात पर चिंता प्रकट की कि परमाणु शस्त्रों वाले देश अपने शस्त्र भंडारों की जाँच के लिए कोई भी व्यवस्था करने से कतरा रहे हैं। इस चिंता को परमाणु अप्रसार संधि (एन.पी.टी) पर बहस के दौरान दृढ़ता से प्रस्तुत किया गया। वास्तव में भारत ने इस संधि पर हस्ताक्षर करने से इनकार करने के लिए इसके भेदभावपूर्ण स्वरूप को ही एकमात्र आधार बताया।

1995 में परमाणु अप्रसार संधि को अनिश्चित काल के लिए बढ़ाने के फैसले और सी.टी.बी.टी. पर बहस ने भारत को परमाणु निरस्त्रीकरण पर अपनी राय और स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करने का मौका दे दिया। सी.टी.बी.टी. पर भारत का रुख यह था कि यह परमाणु प्रसार के सभी पहलुओं को रोक पाने तथा अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बढ़ाने में कारगर भूमिका निभा पाने में समर्थ होनी चाहिए। इसलिए इस संधि में निरस्त्रीकरण और निश्चित समय–सीमा में परमाणु शस्त्र मुक्त विश्व का लक्ष्य प्राप्त करने की वचनबद्धता परिलक्षित होनी चाहिए। सी.टी.बी.टी. के अंतिम पाठ का भारत ने यह कहकर विरोध किया कि इसमें परमाणु हथियारों वाले देशों को गैर–विस्फोटक प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके शस्त्रों से संबंधित अनुसंधान एवं विकास संबंधी गतिविधियाँ जारी रखने की छूट दी गई है। इसमें निरस्त्रीकरण के प्रति किसी सार्थक वचनबद्धता का अभाव था बल्कि स्थिति यह थी कि इसमें मौजूदा व्यवस्था को बनाए रखने की कोशिश थी। इसलिए बाद में फिस्साइल मैटीरियल कट–ऑफ ट्रीटी पर हुई बहस इससे अलग नहीं थी। उल्लेखनीय है कि भारत अपने परमाणु परीक्षणों के बाद भी वैश्विक परमाणु निरस्त्रीकरण की अपनी माँग पर कायम है।

भारत ने 1974 में पोखरण में अपने पहले परमाणु बम परीक्षण के 24 वर्ष बाद 11 तथा 13 मई, 1998 को कुछ और परमाणु परीक्षण किए। संसद में अपने वक्तव्य में प्रधानमंत्री श्री वाजपेयी ने पोखरण–II के बाद की भारत की परमाणु नीति के पहलुओं को स्पष्ट किया पहला यह कि भारत न्यूनतम परंतु विश्वसनीय परमाणु प्रतिरोध क्षमता बनाए रखेगा। इसके लिए भारत को और परीक्षण करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए वह आगे परीक्षण करने पर स्वतः ही अपने ऊपर प्रतिबंध स्वीकार कर रहा है। दूसरा यह कि भारत परमाणु शस्त्रों के मामले में पहले इस्तेमाल न करने के सिद्धांत का पालन करेगा। और अंतिम पहलू यह कि भारत वैश्विक परमाणु निरस्त्रीकरण पर अपनी वचनबद्धता जारी रखेगा। इस तीसरे पहलू का डर्बन में गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में पुनः प्रतिपादन किया गया।

17 अगस्त, 1999 को राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद द्वारा जारी भारतीय परमाणु सिद्धांत की रूपरेखा में भारत को सुरक्षा के बारे में फैसला करने की स्वायत्तता की बात कही गई। इसमें भारत की परंपरागत दृष्टि को प्रस्तुत किया गया कि सुरक्षा भारत की विकास प्रक्रिया का अभिन्न हिस्सा है। इसमें शांति और सुरक्षा में संभावित खलल पर चिंता प्रकट करते हुए विकास प्रक्रिया जारी रखने के लिए परमाणु प्रतिरोध क्षमता पैदा करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इस दस्तावेज़ में यह भी दलील दी गई है कि कोई वैश्विक परमाणु निरस्त्रीकरण नीति न होने के कारण भारत को अपने सामरिक हितों की रक्षा के लिए कारगर विश्वसनीय प्रतिरोध क्षमता और इस क्षमता के विफल हो जाने की स्थिति में पर्याप्त प्रतिकारात्मक क्षमता की आवश्यकता है। यह 'पहले इस्तेमाल न करने के सिद्धांत और परमाणु निर्णय प्रक्रिया पर असैनिक नियंत्रण की व्यवस्था पर कायम है।

14.6 निरस्त्रीकरण और विकास

निरस्त्रीकरण और सुरक्षा संबंधी समस्याओं पर अलोफ पामे के स्वतंत्र आयोग ने कहा था कि विकासशील देशों में पहले से ही कम संसाधनों के सैनिक इस्तेमाल से गरीबी और बढ़ती है तथा उनके आर्थिक विकास पर बुरा असर पड़ता है। निरस्त्रीकरण तथा विकास के बीच संबंधों के बारे में इंगा थॉर्सन रिपोर्ट में निरस्त्रीकरण तथा विकास के बीच स्पष्ट रिश्ता पहचानने का प्रयास किया गया है। सभी सरकारें संसाधनों की कमी को महसूस करती हैं। एक क्षेत्र पर खर्च बढ़ाने से दूसरे क्षेत्र पर खर्च कम हो जाता है। विकास को आर्थिक प्रगति की लगातार बनी रहने वाली आवश्यकता मान कर चलना चाहिए। निरस्त्रीकरण को सुरक्षा के साथ जोड़ने को उनकी परस्पर आर्थिक निर्भरता के संदर्भ में देखा जाता है।

निरस्त्रीकरण के बारे में परंपरागत दृष्टिकोण, निरस्त्रीकरण को युद्ध की आशंका कम करने के प्रयास के साथ जोड़कर देखता है। बुनियादी तर्क यह है कि हथियारों की होड़ अंततः युद्ध की ओर ले जाती है इसलिए देशों को हथियार जमा करने का रास्ता अपनाने से रोकना आवश्यक है। इसी से शस्त्र नियंत्रण या परिसीमन और क्रमशः तनाव की संभावनाएँ कम करने के लिए विश्वास निर्माण उपायों तथा संकट प्रबंध की बात सामने आती है। भारतीय दलील ने अलग रास्ता चुना है।

भारतीय ढाँचा इस प्रश्न पर आधारित है कि विभिन्न देशों के समुदाय में शांति कैसे स्थापित की जाए?' इसका उत्तर इस बुनियादी सिद्धांत में निहित है कि किसी भी विवाद की स्थिति में झगड़े के मूल कारणों से निपटा जाए (विवाद समाधान, विवाद का प्रबंध नहीं)। यह दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य है और इसमें विवाद के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य पहलुओं पर विचार शामिल है। इसमें यह माना जाता है कि विवाद मूलतः सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक

क्षेत्रों में पनपने वाले तनावों की ही उपज होते हैं, जो आगे चलकर सैनिक विवादों में बदल जाते हैं। इसका मूल स्वर विकास नीतियाँ हैं। जिससे इसमें यह सोच और अपेक्षा रहती है कि मौजूदा व्यवस्था में परिवर्तन संभव है। इस प्रकार, यह संशोधनवादी दृष्टिकोण है। यह बात कई क्षेत्रों में देखी जा सकती है। आर्थिक क्षेत्र में इसे नई आर्थिक व्यवस्था का रूप दिया गया, राजनीतिक क्षेत्र में इसकी अभिव्यक्ति स्वतंत्रता संघर्षों के प्रति समर्थन के रूप में हुई, सामाजिक क्षेत्र में यह भाव सामाजिक न्याय के रूप में प्रकट हुआ और अंतर्राष्ट्रीय संदर्भो में यह दृष्टिकोण निरस्त्रीकरण के प्रति समर्थन तथा निरस्त्रीकरण को विकास के साथ जोड़ने में दिखाई दिया।

14.7 अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद

11 सितंबर, 2001 में अमेरिका में हुए हमलों से उत्तर–आधुनिक आतंकवाद चिंता का मुख्य विषय बन गया। इससे आतंकवाद के इस नए रूप का मुकाबला करने के लिए तैयार की गई रणनीतियों के बारे में कई प्रश्न भी उभर कर सामने आए। आज की आतंकवाद–विरोधी अमेरिकी रणनीति के मुख्य पहलू इस प्रकार हैं :

1. आतंकवाद के विरुद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय मोर्चा बनाना : यह मोर्चा कई स्तरों पर काम करेगा। इसमें सैद्धांतिक समर्थन देने वालों से लेकर आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए भौतिक और मानवीय सहायता देने वाले लोग शामिल होंगे। यह मोर्चा राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों स्तरों पर काम करेगा।
2. बल प्रयोग का औचित्य : आत्म–निर्णय के अधिकार की मांग पर आधारित जातीय अलगाववादी आंदोलनों तथा उत्तर–आधुनिक वैचारिक, धार्मिक आंदोलनों में फर्क है। दूसरी तरह के आंदोलनों में अपनाई जा रही आतंकवादी प्रक्रिया पर सारे विश्व में चिंता जताई जा रही है। साथ ही, नए प्रकार के इस आतंकवाद का सामना करने के लिए इस्तेमाल किए जा रहे तरीकों पर प्रश्न–चिह्न लगाए जा रहे हैं। इस प्रकार के आतंकवाद से निपटने के लिए बल प्रयोग के औचित्य के मसले पर आम सहमति उभर कर सामने आ रही है। इराक और अफगानिस्तान में अमेरिकी कार्रवाई इस प्रवृत्ति की सूचक है। इस नई सहमति को 1989–90 से विकसित हुए मानव अधिकारों के हनन पर जताई जा रही चिंता की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। इस औचित्य को अब 'राष्ट्रीय सुरक्षा' या 'राष्ट्रीय हित' जैसे शासन–आधारित तर्को के दायरे में नहीं बाँधा जा सकता बल्कि यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत आतंकवाद–विरोधी रणनीति पर आधारित है जिसे अब लोकतांत्रिक समाजों की रक्षा के मानदंडों के भीतर परिभाषित किया जा रहा है। थोड़े–से बल का प्रयोग करने पर पहले जो हो–हल्ला मच जाता था अब उसे शांत किया जा सकता है। इसका मतलब किसी सरकारी एजेंसी को मानव अधिकारों के उल्लंघन का हक देना नहीं है। इसमें मानव अधिकार समूहों को केवल यह एहसास कराना है कि आतंकवादी गुटों को संरक्षण देना उचित नहीं है।
3. अमेरिका की रणनीतिक प्रतिक्रिया का तीसरा तत्व अफगानिस्तान के खिलाफ आक्रमण के रूप में उभर कर सामने आया। यह तत्व अमेरिका को 'सुरक्षित' करने का प्रयास थी। आतंकवादियों द्वारा जैविक हथियारों, खास कर एंथ्रेक्स के इस्तेमाल के कारण अमेरिका ने ऐसी बाधाएँ खड़ी कीं, जैसी वहाँ पहले कभी खड़ी नहीं की गईं।

भारत में आतंकवाद के बारे में बहस निम्नलिखित मुद्दों से जुड़ी है :

क) जातीय अलगाववादी आतंकवाद : यह बहस जातीय राष्ट्रवाद की अवधारणा तथा आत्मनिर्णय के अधिकार पर केंद्रित है। कश्मीर समस्या को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है।

ख) उत्तर–आधुनिक व्यापक धार्मिक आतंकवाद : यह दृष्टिकोण राष्ट्र–राज्य व्यवस्था की भौगोलिक सीमाओं से कहीं आगे तक जाता है। इसके उद्देश्य अस्पष्ट हैं और इन्हें शीत युद्ध के दौर के बाद के धार्मिक उत्थान के संदर्भ में परिभाषित किया जा सकता है। वैश्विक (पश्चिमी) सर्वदेशीय विश्व–व्यवस्था के प्रतीक इस आतंकवाद के संभावित 'निशाने' हैं।

आतंकवाद की समस्या के बारे में इस समय भारत की सामरिक दृष्टि पाकिस्तान–केंद्रित दृष्टिकोण है जिसका कश्मीर की घटनाओं से सीधा संबंध है। यह समस्या अघोषित, हल्के या प्रच्छन्न युद्ध के रूप में प्रस्तुत की जाती है, जिसका संचालन पाकिस्तान कर रहा है और जो विभिन्न आतंकवादी गुटों के जरिए लड़ा जा रहा है। 13 दिसंबर, 2001 को भारतीय संसद पर हुए आक्रमण को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा गया है।

कश्मीर में आतंकवाद में दो स्तरों पर अंतर किया जाना चाहिए। एक स्तर है– भारत राष्ट्र–राज्य के भौगोलिक–राजनीतिक ढाँचे के भीतर कश्मीरी जनता द्वारा उठाई जाने वाली माँगें। ये माँगे कश्मीर में चाहे किसी भी समूह द्वारा उठाई जा रही हों, उचित माँगें हो सकती हैं, और इन पर सरकार को ध्यान देना चाहिए। आतंकवाद का दूसरा स्तर एक अस्पष्ट वैचारिक संघर्ष से पैदा होता है जिसे 'जिहाद ' बताया जा रहा है। आंदोलन का यह स्तर भौगोलिक–राजनीतिक सीमाओं को नहीं मानता और यह व्यवस्था के खिलाफ वैश्विक लड़ाई है। यह भारत जैसे देश के

लिए वैसे ही खतरनाक है जैसे कि पाकिस्तान के लिए। इसी दूसरे स्तर के खतरे से निपटने के लिए आतंकवाद–विरोधी रणनीति तैयार करने की जरूरत है।

सितंबर, 2001 की घटनाओं से वैश्विक दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है, जिसका भारत को लाभ उठाना चाहिए। पहली बात यह है कि भारत को आतंकवाद के सैद्धांतिक आयाम के भीतर कश्मीर की समस्याओं को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। दूसरी बात यह है कि इसके आधार पर एक सार्वजनिक वक्तव्य देकर यह स्पष्ट करना चाहिए कि वह उन संगठनों के विरुद्ध बल प्रयोग करना चाहता है जो आतंकवाद को बढ़ावा दे रहे हैं। परंपरा से भारत हमेशा सीमा संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए असैनिक रणनीति का पक्षधर रहा है। कूटनीति का इस्तेमाल और बल प्रयोग को अंतिम विकल्प मानना – भारतीय रणनीति के ये ही दो आधार रहे हैं। भारत सीमा–पार सैनिक कार्रवाई से उपजने वाली राजनीतिक अनिश्चितताओं से भली–भाँति अवगत है।

सितंबर की घटनाओं के फलस्वरूप आतंकवाद से निपटने के लिए बल प्रयोग के बारे में ज़मीनी वास्तविकताएँ भी बदल गई हैं। मानव अधिकारों के पक्षधर संगठन अब आतंकवादी संगठनों के खिलाफ बल प्रयोग के मामले में ढीले पड़ गए हैं। थोड़ी–सी भी ताकत के इस्तेमाल पर पहले जो हाय–तौबा होने लगती थी, अब उसे चुप किया जा सकता है। इसका मतलब किसी सरकारी एजेंसी को मानव अधिकारों के उल्लंघन की छूट देना नहीं है। इसमें यही संकेत है कि मानव अधिकार संगठनों को यह एहसास हो जाए कि आतंकवादी गुटों को संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए।

भारत की परंपरागत आतंकवाद विरोधी रणनीति की कई परतें हैं। इसमें बल प्रयोग के साथ–साथ राजनीतिक एवं आर्थिक उपायों का भी प्रावधान है। आतंकवाद से संघर्ष की कुंजी है – उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में राजनीतिक प्रक्रिया की शुरुआत। परंतु इस प्रयास को तभी सफल बनाया जा सकता है जब आतंकवाद के खतरे पर काबू पा लिया जाए। इस तरह का नियंत्रण बल प्रयोग से ही संभव है। भारत के नीति–निर्धारकों को इसी उद्देश्य के मद्देनज़र अपनी रणनीति तैयार करनी होगी।

14.8 सारांश

शांति तथा सुरक्षा के बारे में भारत का दृष्टिकोण 9/11 (11 सितंबर) की घटना को परिवर्तन का महत्वपूर्ण पड़ाव नहीं मानती। यह दृष्टिकोण शीत युद्ध के दौर में विकसित हुआ तथा सोवियत संघ के विघटन के बाद के युग में पुष्ट हुआ। शांति तथा सुरक्षा के संबंध में भारत के दृष्टिकोण को दो स्तरों पर समझा जा सकता है। पहले स्तर का संबंध विकास तथा सुरक्षा की समस्याओं से जूझते संशोधनवादी विकासशील विश्व के ढाँचे से है और दूसरे का संबंध भारत जैसी क्षेत्रीय शक्ति द्वारा विश्व–समुदाय में अपने पाँव जमाने की ज़मीनी वास्तविकताओं से है। विश्व व्यवस्था की समस्या के प्रति भारतीय दृष्टिकोण विश्व मामलों तथा शांति संबंधी दृष्टिकोण को स्वतंत्र रूप से समझने के हर प्रयास पर केंद्रित है। भारत का दृष्टिकोण आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के बारे में इसकी सोच पर आधारित है। इस संरचना का स्वरूप अनिवार्य रूप से संशोधनवादी है। आर्थिक क्षेत्र में इसकी अभिव्यक्ति नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था तथा जी–15 की बैठकों की बहसों में हुई है। राजनीतिक क्षेत्र में यह उपनिवेशवाद के विरोध में हुई तथा सामाजिक क्षेत्र में इसने कल्याण अधिकारों और सामाजिक न्याय के प्रति अंतर्राष्ट्रीय मान्यता की माँग की। सैद्धांतिक स्तर पर भारतीय दृष्टिकोण उन उदारवादियों के दृष्टिकोण के करीब होगा जो सैनिक शक्ति की उपयोगिता जैसी वास्तविकताएँ तो स्वीकार करते हैं लेकिन साथ ही सहयोग के ढाँचे के रूप में संस्थाओं की उपयोगिता पर भी बल देते हैं।

खतरे का एक और पहलू भी है, लेकिन वह सीधा नहीं है। इसमें जी–8 तथा विकसित देशों की ओर से आने वाले दबाव शामिल हैं। यह खतरा विकास के क्षेत्र में सामने आता है। विकास की समस्या के दो आयाम हैं – नई और उन्नत प्रौद्योगिकी अपनाना; तथा पूँजी निवेश। आज अधिकतर उन्नत प्रौद्योगिकी 'दोहरे इस्तेमाल ' की श्रेणी में आती है और इस पर अनेक अंतर्राष्ट्रीय पाबंदियाँ लगी हैं। भारत को अप्रसार व्यवस्था झेलनी पड़ी जिसमें दोहरे इस्तेमाल की प्रौद्योगिकी भारत को हस्तांतरित किए जाने पर पाबंदियाँ लगाने की कोशिश की गई। यह व्यवस्था परमाणु क्षेत्र में परमाणु अप्रसार संधि (1968), व्यापक परीक्षण प्रतिबंध संधि (1996) और प्रौद्योगिकी हस्तांतरण के क्षेत्र में फिस्साइल मैटीरियल कट–ऑफ ट्रीटी (प्रस्तावित), परमाणु आपूर्तिकर्ता क्लब (1974 के पोखरण परीक्षण के पश्चात गठित); प्रक्षेपास्त्र प्रौद्योगिकी नियंत्रण व्यवस्था (1987) तथा वास्सेनार व्यवस्था (1995) के माध्यम से विकसित हुई। इसी प्रकार, बुनियादी ढाँचा क्षेत्र में पूँजी निवेश की बजाय उपभोक्ता क्षेत्र में विदेशी निवेश प्राप्त करने के लिए भारत को पोर्टफोलियो निवेश के स्थान पर अधिक दीर्घावधि के विदेशी पूँजी निवेश को वरीयता देनी होगी। घरेलू स्तर पर इसका अर्थ यह होगा कि भारतीय अर्थव्यवस्था को नया रूप देकर इसमें पूँजी निवेश को ज्यादा आकर्षक बनाया जाए। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इसे अमेरिका के सुपर 301 जैसे नियमों अथवा गैट–डब्ल्यू.टी.ओ. (विश्व व्यापार संगठन) प्रणाली तथा विश्व–भर में उभर रहे व्यापारिक गुटों का सामना करने के लिए कूटनीतिक कौशल की आवश्यकता होगी।

मई, 1998 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षणों से सुरक्षा की समस्या के बारे में भारत की नई प्रतिक्रियाएँ दुनिया के सामने आई हैं। 1974 में हुए पहले परमाणु परीक्षणों से शुरू हुई यह प्रक्रिया समन्वित प्रक्षेपास्त्र विकास कार्यक्रम, भारतीय

अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन के उपग्रह कार्यक्रम तथा एंटार्कटिका अभियान के रूप में जारी रही और इसने भारत को नए ऊर्जावान तथा शक्तिशाली देश के रूप में प्रस्तुत किया। मई 1998 के परीक्षण, परमाणु अप्रसार के माहौल वाले विश्व में भारत की विद्रोही स्वतंत्रता के दृष्टिकोण के सूचक हैं। इनसे उसकी राजनीतिक तथा प्रौद्योगिकीय क्षमताएँ उजागर हुईं। प्रौद्योगिकी संबंधी क्षमताएँ इस संदर्भ में थीं कि भारत को अनेक वर्षों तक उन्नत प्रौद्योगिकी से वंचित रखा गया। राजनीतिक क्षमताओं की अभिव्यक्ति जी–7 (अब जी–8) से टक्कर लेने की राजनीतिक इच्छा–शक्ति के रूप में थी।

14.9 अभ्यास

1. शस्त्र नियंत्रण से क्या अभिप्राय है?
2. निरस्त्रीकरण से आप क्या समझते हैं?
3. निरस्त्रीकरण नीति के चार स्तंभ क्या हैं?
4. शस्त्र नियंत्रण के कार्य क्या हैं?
5. विश्वास निर्माण उपाय क्या हैं?
6. संयुक्त राष्ट्र ढाँचे के अंतर्गत निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण से जुड़े मसलों से निपटने वाली संस्थाएँ कौन–कौन सी हैं?
7. परमाणु शस्त्रों के प्रसार पर नियंत्रण पाने के लिए उठाए गए मुख्य कदमों का परिचय दीजिए।
8. परमाणु हथियारों की होड़ की रोकथाम की दिशा में भारत के प्रयासों का उल्लेख कीजिए।
9. भारत ने परमाणु अप्रसार संधि का किस आधार पर विरोध किया?
10. भारत की परमाणु नीति के मुख्य तत्व कौन–कौन से हैं?
11. 1999 के परमाणु सिद्धांत के प्रारूप के मुख्य बिंदुओं पर प्रकाश डालिए।
12. अमेरिका की आतंकवाद–विरोधी रणनीति के मुख्य पहलुओं को स्पष्ट कीजिए।

इकाई–15

आर्थिक समस्याएँ : अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश, बहुराष्ट्रीय निगम, तथा क्षेत्रीय सहयोग इकाई की रूपरेखा

इकाई की रूपरेखा

15.1 प्रस्तावना

15.2 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश

15.2.1 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की पद्धतियाँ

15.2.2 व्यापार तथा निवेश की पद्धतियाँ

15.3 बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका

15.3.1 बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मेज़बान देशों पर प्रभाव

15.3.2 बहुराष्ट्रीय कंपनियों का गृह देशों पर प्रभाव

15.4 क्षेत्रीय सहयोग

15.4.1 दक्षिण–पूर्व एशियाई राष्ट्र संघ (आसियान)

15.4.2 दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्क)

15.4.3 हिंद महासागर क्षेत्र–क्षेत्रीय सहयोग संघ (आई.ओ.आ–ए.आर. सी.)

15.4.4 एशिया–प्रशांत आर्थिक सहयोग (एपेक)

15.4.5 यूरोपीय संघ

15.5 सारांश

15.6 अभ्यास

15.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा निवेश के महत्व और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका और बढ़ते हुए क्षेत्रीय सहयोग के साथ बहुत–सी समस्याएँ जुड़ी हुई हैं जिनमें उत्तर के अमीर देशों तथा दक्षिण के निर्धन देशों के बीच आपसी तालमेल बैठाना प्रमुख है। यह मामला मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का भी मुख्य पहलू बन गया है। कुल मिलाकर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के इस आयाम को गरीब तथा अमीर देशों के रिश्तों की समस्या और विकासशील देशों में व्यापार तथा निवेश के फैलाव की अमीर देशों की इच्छा की समस्या बताया जाता है। संक्षेप में इसे गरीब देशों की अर्थव्यवस्थाओं में संपन्न देशों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और पूँजी–निवेश के माध्यम से झलकती वैश्विक परस्पर निर्भरता भी कहा जा सकता है। विश्व के निर्धन देशों के साथ व्यापार तथा उनमें पूँजी लगाने की संपन्न देशों की पद्धतियों का विश्लेषण करते हुए अनेक देशों का प्रतिनिधित्व करने वाले शक्तिशाली और लाभ कमाने वाले उन आर्थिक संगठनों की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता जिन्हें बहुराष्ट्रीय निगम कहा जाता है। किसी एक देश के व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे देश की अर्थव्यवस्था में पूँजी लगाने में कुछ नया नहीं है। परंतु दूसरे महायुद्ध के बाद से बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से विदेशों में सीधे निवेश की मात्रा में भारी वृद्धि हो रही है। इस प्रवृत्ति से उत्पादन के अंतर्राष्ट्रीयकरण तथा संपत्ति के एकाधिकार की नई प्रक्रिया उभरकर सामने आई है। इन बहुराष्ट्रीय निगमों की चुनौती और दक्षिण के गरीब देशों की उत्तर के संपन्न देशों पर निर्भरता की दुष्प्रवृत्ति का मुकाबला करने के लिए संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की छत्रछाया में बड़ी संख्या में क्षेत्रीय संगठनों का जन्म हुआ जिसे 1945 के बाद से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की सबसे महत्वपूर्ण घटना माना जा सकता है। अब विभिन्न देश सार्क, आसियान, यूरोपीय संघ, एपेक आदि संगठनों को संस्थागत संबंधों को बनाए रखने तथा विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा देने के आवश्यक तथा उपयोगी साधन मानते हैं।

15.2 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश

15.2.1 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की पद्धतियाँ

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा निवेश की पद्धति से यह बात एकदम साफ हो जाती है कि विकसित तथा अल्पविकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं में काफी विषमता है (और बड़े पैमाने पर वैश्विक पारस्परिक निर्भरता है)। पिछले 20 वर्षों के आँकड़े यह दर्शाते हैं कि औद्योगिक देशों तथा तेज़ी से औद्योगीकृत हो रहे नए देशों में प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद में

उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। हालांकि कम आय वाले देशों में भी औद्योगीकरण बढ़ा है, परंतु अमीर तथा गरीब देशों में आय के स्तरों की खाई बहुत चौड़ी हो गई है। विश्व की आर्थिक प्रगति में तेजी तथा अनेक विकासशील देशों में उल्लेखनीय सामाजिक प्रगति होने के बावजूद गरीबी की स्थिति बदतर हो गई है। विकासशील देश अपने तैयार सामान की बिक्री तथा कच्चे माल की खरीद के लिए अल्पविकसित देशों पर निर्भर हैं। अल्पविकसित देश जिन मामलों में मुख्यतया विभिन्न देशों पर निर्भर बने रहे हैं, वे हैं – (1) आर्थिक तथा प्रौद्योगिकी संबंधी सहायता लेना (2) अपने उत्पाद बेचना; और (3) उन्नत प्रौद्योगिकी प्राप्त करना। परंतु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि व्यापार और निवेश की पद्धति के फलस्वरूप विकसित और अल्पविकसित देशों की अर्थव्यवस्था में असमानता बड़ी है और वैश्विक स्तर पर परस्पर निर्भरता में भी वृद्धि हुई है। विकसित तथा अल्पविकसित दोनों वर्गों के देश अपने को पहले से अधिक परनिर्भर पाते हैं। वैश्विक परस्पर निर्भरता का लाभ विकसित देश अपनी अर्थव्यवस्था को मज़बूत बनाने के लिए करते रहे हैं। तीन मज़बूत आधारों – राजनीतिक, सैनिक तथा प्रौद्योगिकी संबंधी शक्ति – के बल पर विकसित देश वैश्विक परस्पर निर्भरता के मौजूदा दौर में भी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर नियंत्रण तथा अपना दबदबा बनाए रखने में सफल रहे हैं। इससे विकासशील देशों को नुकसान उठाना पड़ रहा है। परस्पर निर्भरता की अवधारणा से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर निर्णय लेने की प्रक्रिया में विकासशील देशों को कहीं अधिक तथा सक्रिय भूमिका मिलने की संभावनाएँ बढ़ने लगीं। परंतु उन्हें निराशा हाथ लगी है और निर्धन देशों पर संपन्न देशों के दबदबे के आज के दौर में उन्हें दूसरे दर्जे की भूमिका निभानी पड़ रही है। समय की माँग है कि विकसित देश वैश्विक परस्पर निर्भरता के महत्व और निष्पक्षता को महसूस करें तथा अधिक उपयोगी एवं न्यायपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक और व्यापारिक प्रणाली के विकास के लिए काम करने को आगे आएँ। विकासशील देश न केवल विकास करना चाहते हैं बल्कि समूची अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली को नया रूप देना चाहते हैं ताकि इसे निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण प्रणाली बनाया जा सके। इसके लिए वे व्यापक उत्तर–दक्षिण वार्ता और समझौते के हक में हैं। परंतु विकसित देश अभी इसे स्वीकार करने को पूरी तरह तैयार नहीं हैं। वे विकासशील देशों की राय को स्थान देने के लिए मौजूदा आर्थिक संस्थाओं तथा समझौतों में ही थोड़ा–बहुत फेरबदल करना चाहते हैं। फिर भी, विश्व के विकासशील देशों की आवश्यकताओं के संदर्भ में व्यापार एवं निवेश की पद्धति में बदलाव लाने के लिए विकसित देशों की ओर से कोई पहल नहीं की गई है।

15.2.2 व्यापार तथा निवेश की पद्धतियाँ

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश के बदलते हुए परिदृश्य से जो एक और पद्धति उभर कर सामने आई है वह है विकसित देशों द्वारा विश्व की आय और संसाधनों का आवश्यकता से अधिक दोहन। तरह–तरह के बहानों से शक्तिशाली और अमीर देश विश्व के संसाधनों का अपने हित में इस्तेमाल करते हैं जिससे गरीब और कमज़ोर देश घाटे में रहते हैं। प्रौद्योगिकीय और औद्योगिक दृष्टि से उन्नत होने के कारण तथा कच्चे माल के बाज़ारों एवं निर्मित माल तथा पूँजीगत सामान पर एक तरह का एकाधिकार होने के कारण ये देश विकासशील देशों से खरीदे जाने वाले कच्चे माल की कीमतें अपनी मर्जी से तय करने की स्थिति में होते हैं। परिणामस्वरूप वे कई तरीकों से विकासशील देशों के संसाधनों का इस्तेमाल अपने फायदे के लिए करने में सफल हो जाते हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ) की बैठक में अमेरिका ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें यह माँग की गई कि उसके कोटे के संसाधनों में 50 प्रतिशत वृद्धि की जाए और साथ ही किसी सदस्य द्वारा ऋणों का बकाया भुगतान न किए जाने की स्थिति में उसे संगठन से मुअतिल कर दिया जाए। इसका उद्देश्य विकासशील देशों पर और अधिक दबाव डालना है। विकसित देश हमेशा ही विकासशील देशों पर दबाव डालने के लिए इस तरह के हथकंडे अपनाते रहे हैं। विकसित देशों (विशेष कर अमेरिका) की यह कोशिश रही है कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के जरिए वे विकासशील देशों की आर्थिक नीतियों को परोक्ष रूप से नियंत्रित कर सकें। कहना न होगा कि उनकी व्यापार और निवेश की पद्धति हमेशा ऐसी रही है जिससे वे विकासशील देशों के संसाधनों और आर्थिक नीतियों से लाभ उठाकर अपने आर्थिक हित साध सकें।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा निवेश के साथ–साथ अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों और विश्व अर्थव्यवस्था पर भी नियंत्रण के कारण विकासशील देशों पर विकसित देशों की पकड़ और मज़बूत बनती है। अपने इस वर्चस्व के चलते थोड़े–से विकसित देश आसानी से विश्व संसाधनों का बटवारा इस तरह कर लेते हैं कि उनके अपने मकसद पूरे हों।

15.3 बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों, खास कर आर्थिक संबंधों में शक्तिशाली गैर–सरकारी एजेंसी के रूप में बहुराष्ट्रीय निगमों का विकास अपने आप में उल्लेखनीय घटना है। इन निगमों के उदय ने विश्व परिप्रेक्ष्य को बदलने में मुख्य भूमिका निभाई है। ये कंपनियाँ विकसित देशों से पूँजी, उद्योग, प्रौद्योगिकी और तकनीकी जानकारी को विकासशील देशों तक ले जाने के स्रोत के रूप में उभर कर सामने आई हैं। साथ ही, इन्होंने विकासशील देशों को विकसित देशों पर और अधिक निर्भर बना दिया है। एक ओर तो वे विकासशील देशों को उनकी मदद से विकास करने और विशेषज्ञता विकसित करने के अवसर देते हैं तो दूसरी ओर वे इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं एवं नीतियों पर नव–उपनिवेशवादी नियंत्रण का माध्यम

बनते हैं। अमेरिका, इंग्लैंड या जापान जैसे देशों में जहाँ इन निगमों का जन्म हुआ, ये वहाँ की अर्थव्यवस्था को लाभ पहुँचाने में सहायक रहे हैं। ये किसी देश की सरकार के नियंत्रण से मुक्त रहने की कोशिश करते रहे हैं और साथ ही ये बेरोज़गारी बढ़ाने के लिए ज़िम्मेदार रहे हैं। इन सभी पहलुओं के कारण बहुराष्ट्रीय निगमों को समर्थन भी मिला है और इनका विरोध भी हुआ है।

बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रभाव का आकलन इसी अनुमान से किया जा सकता है कि वर्ष 2002 तक विश्व के आधे या उससे अधिक औद्योगिक उत्पाद मुट्ठी भर बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा किया जा रहा था। एक अध्ययन से पता चलता है कि अमेरिका स्थित बहुराष्ट्रीय निगमों की 187 सहायक कंपनियों की संख्या 1950 में 2000 थी जो 1967 में बढ़कर 8000 हो गई। इस प्रकार इनकी संख्या में दो दशकों के भीतर चार गुना वद्धि हुई। अमेरिका में ऐसी कंपनियाँ, जिनके अधिकारी विदेशी थे, 1972 में 2713 थीं। विश्व बैंक के एटलस के 1979 के संस्करण में विश्व की 100 सबसे बड़ी कंपनियों (एक अरब डॉलर से अधिक पूँजी वाली फर्मों और देश) की सूची को शामिल किया गया था। इनमें से 41 बहुराष्ट्रीय निगम थे जिनमें जनरल मोटर्स तथा एकसोन का स्थान कंपनियों में सबसे ऊपर लेकिन 22 देशों से नीचे थे। शीर्ष 50 इकाइयों में केवल 9 बहुराष्ट्रीय निगम थे, परंतु बाद की 50 इकाइयों में बहुराष्ट्रीय निगमों की संख्या 32 थी। 19 विकसित देशों में कार्यरत 30,400 व्यापारिक कंपनियों की एक या अधिक मेज़बान देशों में कम से कम एक विदेशी सहयोगी कंपनी है। इनमें से आधी से अधिक बहुराष्ट्रीय निगमों पर अमेरिका, इंग्लैंड या जर्मनी का नियंत्रण है। एक–चौथाई कंपनियों पर अकेले अमेरिका का नियंत्रण है। हालांकि बहुराष्ट्रीय निगमें विश्व–भर में प्रगति कर रही हैं, परंतु बहुराष्ट्रीय व्यापार का बहुत बड़ा हिस्सा उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी यूरोप और जापान जैसे विकसित क्षेत्रों में ही होता है। इंग्लैंड तथा अमेरिका की लगभग आधी कंपनियों की सहायक कंपनियाँ विकासशील देशों में हैं।

जब हम दुनियाभर में फैली बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर नज़र डालते हैं तो पता चलता है। कि इन पर अमेरिका हावी है। 1976 में सभी 411 औद्योगिक कंपनियों (एक अरब डॉलर की बिक्री) में 54 प्रतिशत कंपनियाँ अमेरिकी थीं। 12 प्रतिशत कंपनियों के साथ इंग्लैंड का दूसरा तथा 10 प्रतिशत कंपनियों के साथ जापान का तीसरा स्थान था। अग्रणी कंपनियों में अमेरिका की विशाल कंपनियाँ – एकसोन, जनरल मोटर्स, फोर्ड मोटर्स, टेक्साको, मोबिल, स्टैंडर्ड आयल ऑफ कैलीफोर्निया, गल्फ आयल, आई.बी.एम, जनरल इलेक्ट्रिक तथा इंटरनेशनल टेलीफोन एंड टेलीग्राफ्स के नाम शामिल थे। 1977 में बैंक ऑफ अमेरिका तथा सिटीकॉर्प दुनिया के दो सबसे बड़े बैंक थे। विश्व के 50 सबसे बड़े बैंकों में 12 जापान के थे। यह प्रवृत्ति अभी तक जारी है। बहुराष्ट्रीय व्यापार तथा लाभ का लगभग 90 प्रतिशत हिस्सा अमेरिका, जापान, जर्मनी और इंग्लैंड की झोली में जाता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का इतना नियंत्रण और अभी तक इनका दबदबा होने के मुख्य कारण हैं उनकी गतिविधियों का विस्तार और उनकी आर्थिक क्षमता की मज़बूती। इनका ध्यान मुख्य रूप से विकासशील देशों पर रहता है क्योंकि इन देशों के सकल घरेलू उत्पाद तथा उनके उन्नत आर्थिक क्षेत्रों में इनका महत्व अधिक दिखाई देता है। इसके अलावा, विकासशील देश इन कंपनियों को अपने ऊपर विकसित देशों के नवउपनिवेशवादी नियंत्रण की एजेंसी मानकर चलते हैं। हालांकि ये कंपनियाँ लाभ कमाने वाली गैर–सरकारी और निजी आर्थिक उद्यम होती हैं परंतु परोक्ष रूप से वे विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं और नीतियों पर अपने गृह देशों के नियंत्रण को मज़बूत बनाती बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका को दो भागों में विश्लेषित किया जा सकता है। ये हैं– बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मेज़बान देशों पर प्रभाव; और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का गृह देशों पर प्रभाव।

15.3.1 बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मेज़बान देशों पर प्रभाव

बहुराष्ट्रीय निगम माल, प्रौद्योगिकी और प्रबंधकीय जानकारी को देशों की सीमा से पार ले जाने के साधन के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये कंपनियाँ और उनके समर्थक मानते हैं कि उन्होंने विकसित देशों की पूँजी तथा उत्पादन विकासशील देशों तक पहुँचाने का काम किया है। पहली बात तो यह है कि ये कंपनियाँ विकासशील देशों की निवेश संबंधी आवश्यकताएँ पूरी करती हैं। दूसरी बात यह है कि अधिक वेतन देती हैं, हिसाबकिताब में अधिक ईमानदारी बरतती हैं, ज्यादा करों की अदायगी करती हैं तथा स्थानीय औद्योगिक इकाइयों के मुकाबले अधिक प्रबंधकीय जानकारी एवं प्रशिक्षण प्रदान करती हैं। तीसरी बात यह है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने कर्मचारियों को बेहतर सामाजिक सेवाएँ तथा रोज़गार के अधिक आकर्षक अवसर उपलब्ध कराती हैं। चौथी विशेषता यह है कि ये विकसित देशों से उन्नत प्रौद्योगिकी विकासशील देशों तक ले जाने की वाहिका के रूप में काम करती हैं।

परंतु विकासशील देशों का मानना है कि ये कंपनियाँ जो लागत वसूल करती हैं वे काफी अधिक होती है। यह सही है कि ये विकासशील देशों में पूँजी, रोज़गार तथा अन्य लाभ उपलब्ध कराती हैं परंतु जिन शर्तों पर ये लाभ आते हैं उनके बारे में माना जाता है कि वे अन्यायपूर्ण तथा शोषणकारी हैं एवं ये नए देशों के संसाधनों को हड़पने वाली हैं। इन कंपनियों के माध्यम से प्रौद्योगिकी के आ जाने से विकासशील देश पराश्रित बन जाते हैं। विकसित देशों को स्थानीय विकास में बाधा डालने का मौका मिल जाता है। इससे स्थानीय उद्यम समाप्त भले ही न होते हों, पर कमज़ोर अवश्य होते हैं और औद्योगीकरण, आर्थिक विकास तथा आत्म–निर्भरता की प्रक्रिया में रुकावट आती है।

बहुराष्ट्रीय निगम मुख्य रूप से लाभ कमाने वाले संगठन हैं और उनका सतत प्रयास रहता है कि वे अपने शेयरहोल्डरों को अधिक से अधिक लाभ दें जिनमें से अधिकतर लोग इन कंपनियों के गृह देशों के रहते हैं। साथ ही, विकासशील देशों से विकसित देशों तक पूँजी का प्रवाह बहुत अधिक होता है जिसका पुनर्निवेश विकासशील देशों में जहाँ उत्पादन होता है, नहीं किया जाता।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ प्रौद्योगिकी–हस्तांतरण, तकनीकी जानकारी देने और लाइसेंस देने के लिए भारी शुल्क वसूल करती हैं जिससे मेज़बान देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर दबाव पड़ता है। 'हस्तांतरण' का मूल्य निर्धारण एक और तरीका है जिसका इस्तेमाल बहुराष्ट्रीय निगम अपने करों को कम करने तथा लाभ बढ़ाने के लिए करते हैं। किसी कंपनी की विभिन्न देशों में स्थित सहायक कंपनियों का कच्चा, अर्ध–प्रसंस्कृत या तैयार माल का कारोबार वास्तव में सहायक कंपनियों के बीच ही किया जाता है। क्योंकि खरीदने तथा बेचने का काम वास्तव में एक ही कंपनी कर रही होती है, इसलिए आयात–निर्यात के इन सौदों में सुरक्षित या स्थानांतरण मूल्यों को इस प्रकार समायोजित किया जा सकता है जिससे मूल कंपनी को फायदा हो। इस सारे गोरखधंधे का परिणाम यह होता है कि पूँजी का प्रवाह विकासशील देशों से विकसित देशों की ओर होता है। बहुराष्ट्रीय निगम मेज़बान देशों को लाभ तो पहुँचाती हैं लेकिन भारी कीमत पर। ये कंपनियाँ विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं तथा विकास प्रयासों पर नकारात्मक प्रभाव डालकर उन्हें नुकसान पहुँचाती हैं।

विकासशील देशों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दुष्प्रभावों का विश्लेषण करते हुए जोन एडलमैन स्पेरो ने कहा है – 'बहुराष्ट्रीय निगम आम तौर पर बड़े–बड़े विकास ढाँचे खड़े करते हैं जिनका अर्थव्यवस्था के विस्तार में कोई योगदान नहीं होता। इनमें ऐसी प्रौद्योगिकी इस्तेमाल की जाती है जिनमें भारी पूँजी की आवश्यकता होती है, बहुत कम स्थानीय लोगों को रोज़गार मिलता है, सामान उसी देश से नहीं बल्कि बाहर से प्राप्त किया जाता है, करों से बचने के लिए हस्तांतरण मूल्यों तथा प्रौद्योगिकी समझौतों का सहारा लिया जाता है और आमदनी अपने देशों को भेजी जाती है। फायदे की बात की जाए तो इन ढाँचों के लाभ गृह देश और मेज़बान देश के उन थोड़े–से लोगों को ही मिलते हैं जो इन निगमों से जुड़े होते हैं।'

विकासशील देश इस दृष्टिकोण से पूरी तरह सहमत हैं और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को विकसित देशों पर उनकी बढ़ती और गंभीर होती निर्भरता के लिए जिम्मेदार मानते हैं।

15.3.2 बहुराष्ट्रीय कंपनियों का गृह देशों पर प्रभाव

बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका उनके अपने गृह देशों में भी चिंता का विषय है। निस्संदेह ये कंपनियाँ अपने गृह देशों को आर्थिक लाभ पहुँचाती हैं पर इन लाभों के बदले इन देशों को अपनी अर्थव्यवस्थाओं तथा उत्पादन एवं रोज़गार बाज़ारों में समस्याओं के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ती है। बहुराष्ट्रीय निगमों के आलोचकों का कहना है कि ये शक्तिशाली निगम मज़दूर संगठनों की वेतन बढ़ाने की माँगों से बचने के लिए उत्पादन सुविधाएँ अन्य देशों में ले जाते हैं। औद्योगिक रूप से विकसित देशों से कारोबार को उन विकासशील देशों में, जहाँ मज़दूरी सस्ती है और मज़दूर संगठन असंगठित हैं, ले जाने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप गृह देशों में बेरोज़गारी पनपती है क्योंकि पूँजी का स्थानांतर मज़दूरों के मुकाबले ज्यादा तेज़ी से हो जाता है। अपनी आर्थिक सत्ता के सहारे बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ मेज़बान देशों की नीतियों को अपने पक्ष में प्रभावित करने में सक्षम होती हैं। दूसरी ओर, उनके गृह देश इन कंपनियों को विकासशील देशों में अपनी विदेश नीति संबंधी लक्ष्य प्राप्त करने के हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ चूंकि पूँजी, माल तथा प्रौद्योगिकी को विश्व के विभिन्न भागों में हस्तांतरित करने में सक्षम होती हैं, इसलिए गृह देशों की सरकारों द्वारा अपनी घरेलू अर्थव्यवस्था को मज़बूत बनाने के लिए उठाए गए कठोर कदमों के प्रभाव से बच जाती हैं। उदाहरण के लिए, ये अपने उद्यम अन्य अमीर देशों को स्थानांतरित करके अपने देश की कठोर ऋण नीति से बच सकती हैं। विदेशों से लाभ वापस भेजने में देरी करके वे गृह देशों के बकाया भुगतान में बाधा पैदा कर सकती हैं। इसी तरह, उत्पादन सुविधाएँ विदेशों में ले जाकर स्थानीय मज़दूरी की लागत में वृद्धि से बच सकती हैं। जैसे–जैसे किसी बहुराष्ट्रीय निगम का लाभ बढ़ता है, वैसे–वैसे गृह देश के लिए उस पर नियंत्रण रखना कठिन होता जाता है। वे मामूली–सी आर्थिक और प्रबंध संबंधी गतिविधियों के जरिए गृह देश द्वारा निर्धारित लक्ष्यों पर नकारात्मक असर डाल सकती हैं। एक सशक्त गैरसरकारी लाभ कमाने वाली संस्था के रूप में काम करने की क्षमता के कारण बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ गृह देशों के लिए समस्याएँ पैदा कर सकती हैं। गृह देश की राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में विदेश नीति संबंधी उद्देश्यों को ये कंपनियाँ नुकसान पहुँचा सकती हैं। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के वर्तमान युग में बहुराष्ट्रीय निगम अपने गृह देशों तथा मेज़बान देशों, दोनों की सरकारों को प्रभावित कर रहे हैं। ये मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय मामलों की विशाल गैर–सरकारी आर्थिक इकाई के रूप में उभर कर सामने आए हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की राजनीति व्यापक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अंग है। एक ओर इनकी भूमिका की विकासशील देशों और कुछ आलोचकों द्वारा घोर निंदा की जाती है तो दूसरी ओर कई अन्य विद्वान एवं अर्थशास्त्री इन्हें अंतर्राष्ट्रीय परस्पर–निर्भरता, मानव कल्याण और आधुनिकीकरण का ऐसा माध्यम मानते हुए इनका समर्थन करते हैं जो अब इतनी शक्तिशाली बन चुकी हैं कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के जानकार

इनकी अनदेखी नहीं कर सकते। बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका की बात किए बिना समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर कोई भी चर्चा अधूरी रहेगी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बहुराष्ट्रीय निगमों के समर्थक इन्हें आर्थिक, औद्योगिक तथा प्रौद्योगिकी के विकास के ऐसे साधन मानते हैं जो विकसित तथा विकासशील दोनों तरह के देशों को लाभ पहुँचा रहे हैं। उनकी राय में जरूरत इस बात की है कि इन अंतर्राष्ट्रीय महासंस्थाओं के संसाधनों का इस्तेमाल इस तरह किया जाए कि विश्व को युद्ध, गरीबी तथा पिछड़ेपन से मुक्त किया जा सके। इन कंपनियों के आलोचक, विशेषकर विकासशील देशों के लोग बहुराष्ट्रीय निगमों के उदय एवं प्रगति को वर्तमान युग का बहुत बड़ा अभिशाप मानते हैं। उनकी मांग है कि इन्हें नव–उपनिवेशवाद के साधन के रूप में सक्रिय होने से रोकने के लिए कड़े उपाय किए जाएँ। ऐसा राष्ट्रीय तथा स्थानीय कानूनों के जरिए ही किया जा सकता है क्योंकि अपनी असीम शक्ति के कारण ये संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के नियंत्रण से बाहर हो गए हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की वास्तविकता हैं। कोई भी इनकी समाप्ति की आशा नहीं कर सकता और घड़ी की सूइयों को पीछे ले जाने की कोशिश करना बेकार है। आवश्यकता इस बात की है कि इन्हें इस तरह नियंत्रित किया जाए कि वे मानवता को नुकसान न पहुँचा पाएँ। ये अपने मेज़बान तथा गृह, दोनों देशों की अर्थव्यवस्था तथा सत्ता के लिए खतरा पैदा कर सकती हैं बल्कि कुछ हद तक पहले से भी खतरे पैदा कर रही हैं। गैर–सरकारी महासंस्था के रूप में वे अपने देशों की नीतियों एवं कानूनों को अपने हक में प्रभावित करके अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में उनकी भूमिका को सीमित कर सकती हैं। वे पूँजी, प्रौद्योगिकी तथा तकनीकी जानकारी को विकसित देशों से विकासशील देशों को हस्तांतरित करने की राह में पहले से ही रोड़े अटका रही हैं। इसलिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों की गतिविधियों को नियंत्रित करने के उपाय करने की जरूरत है ताकि वे आधुनिकीकरण तथा विकास की वाहिका के रूप में काम कर करें और उन्हें विश्व में आर्थिक विषमता तथा नव–उपनिवेशवाद के प्रसार के साधन के रूप में काम करने से रोका जा सके।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के समर्थकों तथा आलोचकों, दोनों को यह महसूस करना चाहिए कि ये.पहले से ही अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की सशक्त गैर–सरकारी इकाइयों के रूप में विकसित हो चुकी हैं। इसलिए इस बात का हर संभव प्रयास किया जाए कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों का इस्तेमाल अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा एवं विकास के साधन के रूप में किया जा सके। इन्हें विकसित तथा विकासशील दोनों तरह के देशों को हानि पहुँचाने से रोका जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, कानूनी और राजनीतिक दायरों से बाहर रहने के इनके मौजूदा दर्जे को समाप्त किया जाए। सभी देशों को ऐसी राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ खड़ी करनी चाहिए जो इन विशाल आर्थिक संस्थाओं को नियंत्रित करने में सक्षम हों। इस दिशा में बढ़ने में विफलता से निश्चय ही 21वीं सदी में उनका दुष्प्रभाव और बड़ा तथा खतरनाक बन जाएगा।

15.4 क्षेत्रीय सहयोग

संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ–साथ बड़ी संख्या में क्षेत्रीय संगठनों की मौजूदगी को 1945 के बाद के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक माना जा सकता है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि क्षेत्रीय संगठन या गुट प्राचीनकाल से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के साधन रहे हैं, लेकिन इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में इनका तेजी से विकास हुआ। विश्व युद्ध के बाद के पहले 20 वर्षों में गुटीय राजनीति अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की कुंजी और लगभग नियामक हिस्सा बनी रही। क्षेत्रीय संगठन/गुट दो महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध के प्रमुख माध्यम रहे। आज के दौर में उनकी, विशेष कर सैनिक सुरक्षा गुटों की भूमिका समाप्त हो गई है, लेकिन उन्हें अब भी अंतर्राष्ट्रीय आदान–प्रदान का सशक्त साधन माना जा रहा है। गैर–सुरक्षा क्षेत्रीय गुटों ने आज के समय में अपने लिए अच्छी और मज़बूत स्थिति बना ली है। अब सार्क, आसियान और यूरोपीय संघ आदि क्षेत्रीय आर्थिक गुटों को संस्थागत संबंध बनाए रखने तथा क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग एवं विकास के प्रोत्साहन के लिए आवश्यक एवं उपयोगी साधन माना जाता है।

सुरक्षा पर आधारित क्षेत्रीय गुटबंदी निश्चित रूप से हानिकारक है। नाटो, सिएटो, वार्सा संधि आदि जैसे क्षेत्रीय सुरक्षा संगठन शांति, सुरक्षा और स्थिरता के नहीं बल्कि सैन्यवाद तथा तनाव के स्रोत रहे हैं। वार्सा संधि तो अब दफन हो चुकी है परंतु नाटो अभी जीवित है। पर सार्क, आसियान जैसे क्षेत्रीय सहयोग संगठनों के अस्तित्व में आने से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, मैत्री तथा विकास को बढ़ावा देने में सहायता मिली है। ये संगठन अंतर्राष्ट्रीय, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संबंधों को मज़बूत बना कर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शांति कायम करने में उपयोगी भूमिका निभा सकते हैं। वास्तव में आज के समय में बड़ी संख्या में क्षेत्रीय सहयोग संगठन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के संचालन के उपयोगी साधन की भूमिका निभा रहे हैं।

क्षेत्रीय अर्थिक सहयोग बढ़ाने में संलग्न कुछ उल्लेखनीय संगठन हैं – आसियान, सार्क, आई.ओ.आर–ए.आर.सी, एपेक, यूरोपीय संघ आदि। इन उल्लेखनीय संगठनों ने क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के क्षेत्र में अनुकरणीय सफलता प्राप्त की है।

15.4.1 दक्षिण–पूर्व एशियाई राष्ट्र संघ (आसियान)

दक्षिण–पूर्व एशियाई राष्ट्र संघ की स्थापना 1967 में इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपीन्स, सिंगापुर और थाईलैंड द्वारा साझा प्रयासों से विकास के लिए एक आर्थिक संगठन खड़ा करने के उद्देश्य से की गई। इसके बाद अलग–अलग समय पर ब्रुनेई, वियतनाम, लाओस, म्यांमार और कंबोडिया भी इस संगठन में शामिल हो गए। भारत इस संगठन का पूर्ण वार्ता सहभागी है और पूर्ण सदस्य बनना चाहता है।

आसियान दक्षिण–पूर्व एशियाई देशों का गैर–सैनिक और गैर–सुरक्षा आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रीय संगठन है। इसके मुख्य उद्देश्य हैं – (1) क्षेत्र में आर्थिक विकास, सांस्कृतिक उत्थान एवं सामाजिक प्रगति में तेज़ी लाना, (2) क्षेत्रीय शांति एवं स्थिरता को बढ़ावा देना, (3) विभिन्न क्षेत्रों में आपसी हित के मामलों पर परस्पर सहायता तथा सक्रिय सहयोग बढाना, (4) अपने–अपने देश के लोगों को प्रशिक्षण तथा अनुसंधान की सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए आपसी सहयोग एवं सहायता को बढ़ावा देना, (5) दक्षिण–पूर्व एशियाई अध्ययन को प्रोत्साहन देना, (6) कृषि, उद्योग एवं व्यापार के विकास में आपसी सहयोग करना; तथा (7) समान उद्देश्य और लक्ष्यों वाले मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय संगठनों के साथ मैत्री और उपयोगी सहयोग बनाए रखना।

8 अगस्त, 1997 को आसियान ने अपने सदस्य देशों के विकास के लिए आर्थिक–सामाजिक सहयोग को बढ़ावा देने वाले क्षेत्रीय संघ के रूप में अपने 30 वर्ष पूरे किए। यह एक सशक्त तथा समन्वित क्षेत्रीय संघ के रूप में उभरने की कोशिश कर रहा है। इसके प्रयासों से इसके सदस्य देश 7 से 8 प्रतिशत तक ही आर्थिक विकास दर प्राप्त करने में सफल हुए हैं। यह संगठन अब दक्षिण–पूर्व एशिया और हिंद–चीन क्षेत्रों में विकास का समन्वित कार्यक्रम चलाने के लिए बुनियादी ढाँचा मज़बूत बनाने की दिशा में प्रयासरत है। यह इस क्षेत्र में प्रतियोगिता तथा वैश्वीकरण में तेज़ी के आज के युग में अग्रणी भूमिका निभाने की कोशिश कर रहा है। आसियान अपने सदस्य देशों के बीच विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग की महत्वपूर्ण एवं सक्रिय एजेंसी के रूप में आगे बढ़ रहा है। भारत भी सुरक्षा तथा रणनीतिक मसलों को देखने वाले संस्थान आसियान क्षेत्रीय मंच से जुड़ा हुआ है।

15.4.2 दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्क)

आसियान की तर्ज पर दक्षिण एशिया के देशों ने भी आपस में आर्थिक तथा सांस्कृतिक सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से एक क्षेत्रीय संगठन बनाने का निश्चय किया। इसलिए इस क्षेत्र के 7 देशों ने दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ' का गठन किया। ये देश हैं – भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, नेपाल, बांग्लादेश, भूटान और मालदीव। इस संगठन की औपचारिक स्थापना दिसंबर 1985 में हुई। सार्क के गठन का उद्देश्य दक्षिण एशियाई देशों में क्षेत्रीय सहयोग को बढ़ावा देना है। इसलिए इसके नेताओं ने सार्क को एक सामूहिक आर्थिक व्यवस्था के रूप में विकसित करने के लिए धीरे–धीरे व्यापारिक बाधाएँ दूर करने का फैसला किया।

परंतु इस सपने को साकार करना आसान नहीं था। संगठन के दो बड़े देशों – भारत तथा पाकिस्तान – में राजनीतिक विवादों तथा पकिस्तान द्वारा भारत और श्रीलंका तथा भारत एवं बांग्लादेश में फूट पैदा करने की कोशिशों के चलते आर्थिक सहयोग बढ़ाने के प्रयासों को ठेस लगी। पाकिस्तान हमेशा भारत के साथ अपनी बराबरी करता रहता है, भारत के असर को कम करने की कोशिश में लगा रहता है तथा भारत में गड़बड़ी पैदा करने से भी नहीं हिचकिचाता। इसका हाल का एक उदाहरण है–गुजरात के दंगों का मसला सार्क बैठक में उठाना। वह बांग्लादेश तथा श्रीलंका को भी इस शरारतपूर्ण खेल में घसीटने की कोशिश करता रहता है। ऐसे प्रयासों से दक्षिण एशियाई देशों में आर्थिक सहयोग बढ़ाने का उद्देश्य पूरा करने में दिक्कतें आती हैं। सार्क के उद्देश्य–पत्र में आपसी मामले उठाने पर पाबंदी होने के बावजूद पाकिस्तान कश्मीर मामले को भारत एवं पाकिस्तान के बीच मूल समस्या बताने की रट लगाए रहता है।

भारत इस क्षेत्र में भौगोलिक तथा आबादी की दृष्टि से सबसे बड़ा एवं प्रौद्योगिकी में प्रगति के आधार पर सबसे विकसित देश है। इसलिए सार्क के सदस्य देशों में सहयोग एवं विकास के कार्यक्रम चलाने में इसकी प्रमुख भूमिका रही है और अब भी है। भारत ने सार्क को विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग में बढ़ोत्तरी तथा विस्तार करने के लिए समान रूप से प्रभुसत्ता–संपन्न देशों के स्वैच्छिक तौर पर गठित क्षेत्रीय संगठन के रूप में मान्यता दी है। भारत का विश्वास रहा है कि सार्क चेतना के माध्यम से दक्षिण एशिया के देश विकास कर सकते हैं और सदस्य देशों के आपसी विवाद सार्क मंच से बाहर ही हल करने चाहिए। परंतु सार्क देशों के बीच द्विपक्षीय विवादों की मौजूदगी और आपस में उच्च स्तर का राजनीतिक एवं आर्थिक सहयोग कायम करने में विफलता के कारण सार्क बहुत अधिक प्रगति नहीं कर पा रहा है।

क्षेत्र के भीतर व्यापार के मामले में एक–दूसरे को प्राथमिकता देने का फैसला अभी सिरे नहीं चढ़ पाया है। इसी तरह 'दक्षिण एशिया मुक्त व्यापार क्षेत्र' (साफ्टा) का प्रस्ताव भी अभी ठंडे बस्ते में पड़ा है। यहाँ तक कि सार्क के वार्षिक सम्मेलन में भी बाधाएँ आती रहती हैं। इसलिए, सार्क क्षेत्रीय सहयोग के महत्वपूर्ण अवसरों से वंचित हो रहा है।

15.4.3 हिंद महासागर क्षेत्र–क्षेत्रीय सहयोग संघ (आई.ओ.आर–ए.आर.सी.)

5 मार्च 1997 को मॉरिशस की राजधानी पोर्ट लुई में एक व्यापक आधार वाले 'हिंद महासागर क्षेत्र–क्षेत्रीय सहयोग संघ' नामक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की गई। इसमें तीन महाद्वीपों – एशिया, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया – के 14 देश शामिल हुए। ये देश हैं – भारत, मॉरिशस, मलेशिया, इंडोनेशिया, श्रीलंका, सिंगापुर, ओमान, यमन, तंज़ानिया, केन्या, मोज़ाम्बिक, मेडागास्कर, दक्षिण अफ्रीका और मॉरिशस।

यह संगठन हिंद महासागर के आसपास स्थित देशों के बीच क्षेत्रीय सहयोग तथा महाद्वीपों के बीच व्यापार बढ़ाने की दिशा में एक बड़े कदम के रूप में बनाया गया। परंतु सुरक्षा संबंधी मामलों और मानव अधिकारों को इसके उद्देश्य–पत्र से बाहर रखा गया। इसके कार्यक्रमों तथा गतिविधियों का लक्ष्य आर्थिक सहयोग के उन क्षेत्रों पर ध्यान केंद्रित करना है जिनसे समान हित साधने और आपसी लाभ हासिल करने के अधिक से अधिक अवसर मिलते हों। इनमें विशेष रूप से शामिल हैं – निवेश, वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक आदानप्रदान को प्रोत्साहन, पर्यटन, बुनियादी ढाँचे और मानव संसाधनों का विकास, तथा सेवाप्रदाताओं का निष्पक्ष आधार पर आवागमन। इस समय इसमें प्राथमिक व्यापार व्यवस्था का प्रावधान नहीं है परंतु सदस्य देश आपस में व्यापार समझौते करने को स्वतंत्र हैं। संगठन इस सिद्धांत पर चलता है कि सदस्य देश एक–दूसरे के साथ निष्पक्ष बर्ताव करें।

यह विश्व व्यापार संगठन के सदस्यों द्वारा इस नए संगठन के सदस्यों को सर्वाधिक सहयोगी देश का दर्जा दिए जाने को स्वीकृति देता है।

इस संगठन के मामले में कुछ भी अनोखा नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिंद महासागर, जोकि एक व्यापारिक क्षेत्र है, एकमात्र ऐसा क्षेत्र है जो नाफ्टा, आसियान और एपेक जैसे आर्थिक गुटों से बाहर रहा है। ऐसे समय में जब वैश्वीकरण तथा समुद्र–आधारित व्यापारिक रिश्ते क्षेत्रीय विकास के सशक्त तत्व बन रहे हैं, हिंद महासागर समुदाय का एक आर्थिक गुट के रूप में अपनी क्षमता को पहचानना स्वाभाविक था। इसलिए इस संगठन के अस्तित्व में आने में कोई विसंगति नहीं है। हिंद महासागर में पर्यटन के अलावा अपार संभावनाओं की संपदा है जिसे इस क्षेत्र के देश आर्थिक लक्ष्य प्राप्त करने के अपने संकल्प पर दृढ रहकर अत्यंत उपयोगी और लाभप्रद स्वरूप प्रदान कर सकते हैं।

15.4.4 एशिया–प्रशांत आर्थिक सहयोग (एपेक)

एशिया–प्रशांत आर्थिक सहयोग प्रशांत महासागर के देशों के मंच के रूप में विश्व की कुछ सर्वाधिक शक्तिशाली मुक्त व्यापार अर्थव्यवस्थाओं को एक साथ जोड़ता है। 21 देशों का यह संगठन ऑस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री के प्रयासों से 1989 में बना। इसके मूल सदस्यों की संख्या 18 थी। इनमें अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, जापान, दक्षिण कोरिया, न्यूज़ीलैंड, मलेशिया, थाईलैंड, सिंगापुर, फिलीपीन्स, इंडोनेशिया और ब्रूनेई शामिल थे। एपेक के मौजूदा सदस्य हैं – ऑस्ट्रेलिया, ब्रूनेई–दारास्सलाम, कनाडा, चिली, चीन, इंडोनेशिया, जापान, मलेशिया, मैक्सिको, न्यूज़ीलैंड, पपुआ–न्यू गिनी, पेरू, फिलीपीन्स, रूस, सिंगापुर, दक्षिण कोरिया, ताइवान, चीन ताइपेई, थाईलैंड, अमेरिका और वियतनाम।।

एपेक के सदस्य देशों ने इस क्षेत्र में आर्थिक सहयोग तथा विकास के लिए सिद्धांतों की एक घोषणा की पुष्टि की। सदस्य देशों से कहा गया कि वे स्थायी विकास का काम तेज़ करें और इस दिशा में हुई प्रगति की रिपोर्ट भेजते रहें। यह संगठन राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय दोनों तरह के संगठनों के साथ मिलकर काम कर रहा है। यह व्यापारियों के आवागमन की सुविधाएँ देने, निवेश को सुलभ बनाने, निवेश संरक्षण को सुदृढ बनाने तथा बुनियादी ढाँचे के विकास में निजी निवेश को आकर्षित बनाने जैसे काम कर रहा है। यह संगठन क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग की एक आदर्श मिसाल है।

15.4.5 यूरोपीय संघ

यूरोपीय संघ सबसे अधिक प्रभावशाली तथा सुसंगठित आर्थिक गुट है। इसका वर्तमान रूप (यूरोपीय संघ) 1992 में की गई मास्ट्रिएट संधि पर आधारित है। यह 1 नवंबर, 1993 को लागू हुई। यूरोपीय संघ 1 जनवरी 1952 को गठित यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय का संशोधित तथा विस्तृत रूप है। इसके 6 सदस्य थे – बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, लक्ज़मबर्ग, इटली और हॉलैंड। इन 6 देशों ने शुरू में अपने कोयले तथा इस्पात के संसाधनों का इस्तेमाल आर्थिक सहयोग के लिए करने का निश्चय किया। बाद में 1957 की रोम संधि के अनुसार इन 6 देशों ने यूरोपीय आर्थिक ऊर्जा समुदाय और यूरोपीय परमाणु ऊर्जा समुदाय का गठन किया। इन दोनों को मिलाकर यूरोपीय समुदाय के नाम से पुकारे जाने वाले इस संगठन में जनवरी 1973 में इंग्लैंड, आयरलैंड तथा डेनमार्क भी शामिल हो गए। ग्रीस. में लोकतंत्र कायम हो जाने के बाद उसने भी इसकी सदस्यता के लिए आवेदन किया। 1981 में वह सदस्य बन गया। 1986 में स्पेन और पूतर्गाल के भी आ जाने से संगठन के सदस्यों की संख्या 12 हो गई। 1993 में व्यापार तथा यात्रा संबंधी पाबंदियाँ हट जाने पर इस संगठन का नाम 'यूरोपीय संघ । हो गया और कई अन्य देशों ने इसमें शामिल होने की इच्छा ज़ाहिर की। 1995 में ऑस्ट्रिया, फिनलैंड तथा स्वीडन के सदस्य बन जाने से इसकी सदस्य संख्या 15 हो गई। 2002 में संगठन ने 10 और देशों को मई 2004 तक सदस्य के रूप में स्वीकार करने का फैसला किया। ये 10 देश हैं – पोलैंड, हंगरी, चेक गणराज्य, स्लोवाकिया, स्लोवेनिया, लात्विया, लिथुआनिया, एस्टोनिया, साइप्रस, तथा

माल्टा। इस तरह यूरोपीय संघ की सदस्य संख्या 25 तक पहुँच जाएगी। इसकी संस्थाओं में यूरोपीय संसद, यूरोपीय परिषद तथा यूरोपीय आयोग शामिल हैं। भारत, यूरोपीय संघ के साथ अपने संबंध मज़बूत बनाने के प्रयास कर रहा है। 2002 में भारत तथा यूरोपीय संघ की शिखर बैठकें हुई जिनके फलस्वरूप यूरोपीय संघ की ओर से भारत की अनेक परियोजनाओं में निवेश किया गया।

यह संगठन पिछले कुछ वर्षों में मज़बूत आर्थिक आधार वाले एक विकसित आर्थिक समुदाय के रूप में उभर कर सामने आया है। इसकी अब एकसमान मुद्रा 'यूरो' तथा एकमात्र बैंकिंग संघ है। परंतु इंग्लैंड, डेनमार्क और स्वीडन ने अभी यूरो मुद्रा स्वीकार नहीं की है। इसकी आर्थिक सफलता इतनी ज़ोरदार रही है कि यह अब अपनी आर्थिक एकता के लिए यूरोपीय संघ की सशक्त राजनीतिक एकता का सहारा लेने की कोशिश में है।

ऊपर दिए गए ब्यौरे से यह बात साफ हो जाती है कि क्षेत्रीय सहयोग समकालीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की सबसे महत्वपूर्ण घटना रही है। वैश्विक और क्षेत्रीय संगठनों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। जहाँ वैश्विक संगठन शांति, समृद्धि और विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में प्रयासरत हैं वहीं क्षेत्रीय संगठन सदस्य देशों के बीच विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं जिसके फलस्वरूप समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के स्वरूप में काफी बदलाव आया है।

15.5 सारांश

आर्थिक मामलों के चार पहलुओं – अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, निवेश, बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका, और क्षेत्रीय सहयोग के बढ़ते हुए महत्व – पर ऊपर की गई चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विश्व के अमीर तथा गरीब देशों के बीच काफी विषमता के बावजूद अंतर्राष्ट्रीय समन्वय की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। विद्वानों में यह भावना ज़ोर पकड़ रही है कि देर–सवेर दोनों पक्षों का अपने हित में एक–दूसरे के करीब आना तय है। ऐसा होने की संभावना के कारण के पीछे वे लाभ हैं जो अंतर्राष्ट्रीय समन्वय एवं क्षेत्रीय सहयोग से दुनिया को मिल रहे हैं। पश्चिमी यूरोप की एकता से यह सिद्ध हो गया है कि यूरोप के चहुंमुखी विकास और समृद्धि में इसका बहुत बड़ा योगदान है। इससे आपसी सहयोग और समझौतों के जरिए प्रगति के लाभ हासिल किए जा सकते हैं जबकि यह तथ्य भी माना जा सकता है कि यह धीमी और सतत चलने वाली प्रक्रिया है।

15.6 अभ्यास

1. समकालीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा निवेश की समस्याओं का विवेचन कीजिए।
2. समकालीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका की समीक्षा कीजिए।
3. समकालीन आर्थिक संबंधों में क्षेत्रीय सहयोग की बढ़ती हुई भूमिका पर प्रकाश डालिए।

इकाई–16

सामाजिक–सांस्कृतिक विषय : नृजातीय और धार्मिक आंदोलन, मानव अधिकार और मानवीय हस्तक्षेप तथा पर्यावरण

इकाई की रूपरेखा

16.1 प्रस्तावना

16.2 नृजातीय और धार्मिक आंदोलनों की भूमिका

16.2.1 नृजातीय आंदोलन : श्रीलंका – एक केस अध्ययन

16.2.2 एल.टी.टी.ई. और श्रीलंका सरकार

16.2.3 धार्मिक राष्ट्रवाद

16.2.4 विश्व–व्यापी रूढिवाद

16.2.5 विमुक्ति आंदोलन

16.2.6 साम्यवादोत्तर समाज

16.3 मानव अधिकार

16.3.1 मानव अधिकारों के प्रति संयुक्त राष्ट्र संघ की चिंता के मूल कारण

16.3.2 मानव अधिकार : संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र और उसके बाद

16.3.3 अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रपत्र

16.3.4 भारत में मानव अधिकारों की स्थिति

16.4 मानवीय हस्तक्षेप

16.4.1 मानव अधिकार अनुवीक्षकों की भूमिका

16.4.2 संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के मानव अधिकार छत्र की भूमिका

16.4.3 अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून

16.4.4 मानव अधिकारों को बढ़ावा देने और उनको सुरक्षा प्रदान कराने में गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका

16.4.5 गैर–सरकारी संगठन और संयुक्त राष्ट्र

16.5 पर्यावरण

16.5.1 मानव पर्यावरण संबंधी स्टॉकहोम सम्मेलन (1972)

16.5.2 पर्यावरण सुरक्षा संबंधी भूमंडलीय सम्मेलन, 1975 की पुष्टि

16.5.3 भूमंडलीय जलवायु परिवर्तन पर संगोष्ठी, 1997

16.5.4 अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण संपर्क केंद्र की मार्च 1997 की वैकल्पिक पर्यावरण कांग्रेस की बैठक

16.5.5 जलवायु परिवर्तन संबंधी क्योतो की बैठक

16.5.6 जलवायु परिवर्तन संबंधी ब्यूनस आइरस सम्मेलन, 1998

16.6 सारांश

16.7 अभ्यास

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में कई विषयों पर चर्चा की गई है और इनमें से प्रत्येक विषय भिन्न प्रकार का है। इसलिए इन सभी विषयों की विस्तार से चर्चा की आवश्यकता है। इनमें से मुख्य रूप से नृजातीय (मजीदपब) और धार्मिक आंदोलनों की समस्या है। यद्यपि नृजातीय और धार्मिक आंदोलनों को अलग नहीं किया जा सकता, फिर भी उन पर अलग विचार करना जरूरी है। इसलिए दोनों विषयों पर पूर्ण रूप से विचार किया गया है। नृजातीयता या नृजातीय आंदोलनों की भूमिका को श्रीलंका के नृजातीय संकट को प्रमुखता देकर स्पष्ट किया गया है। उसी तरह, धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत के संदर्भ में

(जिसने धार्मिकता या विश्व के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकृति के धार्मिक आंदोलनों की भूमिका का निषेध करने का प्रयास किया है) धार्मिक आंदोलनों में विभिन्न तत्वों के योगदान का गहराई से परीक्षण किया गया है। इसके अतिरिक्त दो परस्पर संबंधित विषय हैं जिनमें से एक मानव अधिकार है तथा दूसरा विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों एवं अन्य निकायों द्वारा उनका उल्लंघन है। इन दोनों विषयों पर अलग–अलग विचार करना आवश्यक है। इनमें से पहले हमने मानव अधिकार की संकल्पना की व्याख्या की है, उसके बाद कई अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और अन्य गैर–सरकारी संगठनों द्वारा किए गए मानव अधिकार उल्लंघनों को बचाने के लिए उसमें हस्तक्षेप की चर्चा की है। और अंत में, वर्तमान और सबसे आखिरी विषय अर्थात मानव पर्यावरण पर विचार किया गया है। इसके अंतर्गत विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की भूमिका और कैसे विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने इन निकायों के निर्देशों को कार्यान्वित किया पर चर्चा की गई है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित ही है कि इन सब विषयों पर भारत की भूमिका को ध्यान में रखते हुए चर्चा की गई है।

16.2 नृजातीय और धार्मिक आंदोलनों की भूमिका

नृजातीय और धार्मिक संघर्षों को राष्ट्रवाद के गति सिद्धांत से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि यह सार्वभौम संकल्पना है। ये संघर्ष बहुसंख्यक वर्ग द्वारा किसी विशिष्ट क्षेत्र के निवासियों के राजनीतिक और कानूनी जीवन पर नियंत्रण करने के लिए किए जाते हैं। वे शक्ति पर अपने दावे को न्यायसंगत ठहराने के लिए नृजातीयता और धर्म का उपयोग करते हैं। हंटिंग्टन ने अपनी पुस्तक 'दि क्लैश ऑफ सिविलाइजेशंस एंड दि मेकिंग ऑफ वर्ल्ड ऑर्डर' में राष्ट्रीय आंदोलनों में नृजातीयता और धर्म की भूमिका की चर्चा की है। उन्होंने पहले–पहल अपनी इस अवधारणा की चर्चा 1993 में 'फॉरेन ऐफेयर्स' पत्रिका में । 'दि क्लैश ऑफ सिविलाइजेशंस' में की थी और फिर इसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवा लिया। उनका कहना है कि यह विश्व, अनिवार्य रूप से, सांस्कृतिक विभाजन से प्रेरित होता है और इस प्रकार पश्चिमी, इस्लामी या कन्फ्युशियाई आदि विभिन्न सांस्कृतिक वर्गों में विभाजित राष्ट्र और लोग लोकतंत्र, मानव अधिकार और धार्मिक सहिष्णुता के बारे में एकदम भिन्न मत रखते हैं। हंटिंग्टन का कहना है कि पश्चिम के देशों का अपने नैतिक मूल्यों को शेष विश्व पर लादना गलत है। इससे पश्चिम का शेष विश्व के विरुद्ध व्यर्थ का विवाद खड़ा हो जाता है।

परंतु यहाँ एक अत्यंत प्रासंगिक प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या हंटिंग्टन की यह अवधारणा न्यायसंगत है? अमेरिका शांति संस्थान (यू.एस.इंस्टीट्यूट ऑफ पीस) के निदेशक डेविड लिटल ने हंटिंग्टन के विश्लेषण की कड़ी आलोचना की है और इसका विरोध करते हुए कहा है कि वस्तुतः यहाँ 'सभ्यताओं में ऐसा कोई विरोध नहीं है। इसके बजाय पश्चिम के लिए यह महत्वपूर्ण है कि वह अपने को 'शेष विश्व' से अलग–थलग न देखे अपितु स्वयं को उसके बराबर के एक हिस्सेदार के रूप में देखे। दूसरी ओर, पश्चिम को यह समझने की आवश्यकता है कि विश्व के अन्य क्षेत्रों को चाहिए कि वे स्वयं को उनके अनुसार ढालें और अपने वातावरण तथा अपने तरीके से सहिष्णुता और भेदभावहीनता के मानकों को लागू करें। परंतु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि नृजातीयता और धर्म विश्व के विभिन्न भागों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते रहे विश्व में पाँच प्रमुख धार्मिक और नृजातीय आंदोलन विश्व के विभिन्न भागों में इनकी भूमिका के महत्व को न्यायसंगत ठहराते हैं। ये आंदोलन हैं – (1) धार्मिक राष्ट्रवाद या राष्ट्रवादी आंदोलन (2) सार्वभौम रूढिवाद (3) स्वतंत्रता या विमुक्ति आंदोलन (4) ईसाइयत आंदोलन; और (5) साम्यवादोत्तर संस्कृतियों में धार्मिक पुनर्जागरण।

16.2.1 नृजातीय आंदोलन : श्रीलंका – एक केस अध्ययन

आज श्रीलंका में तमिलों और सिंहलियों के बीच नृजातीय संघर्ष के कारण अराजकता की स्थिति है। यह समझने के लिए कि संघर्ष की शुरुआत कैसे हुई, हमें इसके सामाजिक–राजनीतिक विकास को स्मरण करना होगा जिसके कारण श्रीलंका में वर्तमान नृजातीय संघर्ष की स्थिति पैदा हुई। इस संबंध में कुछ तथ्यों का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा।

इसमें पहली बात यह याद रखनी होगी कि ऐतिहासिक दृष्टि से श्रीलंका में वर्तमान जनसांख्यिकीय संघटन का कारण भारत से लोगों के प्रव्रजन की प्रवृत्ति है। हम कम से कम ईसा से तीन या चार शताब्दी पूर्व की बात कर रहे हैं। जब भारत से श्रीलंका की ओर जाने की पहली प्रवृत्ति पूर्वी, केंद्रीय समुद्र तटवर्ती भारत से आरंभ होकर उड़ीसा से लगभग बंगाल तक फैल गई। ये श्रीलंका के आज के सिंहली हैं। प्रव्रजन का दूसरा दौर आज के केरल के क्षेत्र से तमिलनाडु के तमिल–भाषी लोगों का हुआ। कुछ प्रव्रजन अरबों और मलय लोगों के वंशजों ने किया। ये लोग आज के श्रीलंका के तमिल हैं। हाल ही के समय में उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से और अधिक तमिल अनुबंध के तहत श्रमिक रूप में श्रीलंका के केंद्रीय उच्च भूभाग में बुलाए गए। आज, श्रीलंका की कुल आबादी का 15 प्रतिशत लोग तमिल हैं, जबकि शेष बहुसंख्या सिंहलियों की है। श्रीलंका में भाषा और धर्म ने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों की पृथक पहचान बनाए रखने में योगदान किया है। भारत के इतिहास में मौर्यकाल में, जब भारत में सम्राट अशोक का राज्य था, बौद्ध धर्म ने श्रीलंका में प्रवेश किया। वहाँ के बहुसंख्यक लोगों का यही धर्म है। मूलतः सिंहली भाषा पाली से निकली है और इसमें बंगला, पुर्तगाली तथा उड़िया भाषाओं ने भाषावैज्ञानिक योगदान किया। इसकी लिपि ब्राह्मी लिपि जैसी है। तमिल–भाषी लोग या तो हिंदू हैं या मुसलमानद्य उनकी भाषा प्राचीन तमिल बोलियों से व्युत्पन्न हुई है। पुर्तगालियों,

डचों और अंग्रेज़ों जैसी पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियों के आगमन तक श्रीलंका का इतिहास दक्षिण भारत से श्रीलंका पर आक्रमण से और सिंहल से भारतीय महाद्वीप के दक्षिणी सिरे, तमिलनाडु के कुछ भाग पर आक्रमणों से भरा पड़ा है। पश्चिमी औपनिवेशिक शक्तियों ने श्रीलंका द्वीप पर प्रभुत्व जमाने के लिए तमिलों को सिंहलियों से और सिंहलियों को तमिलों से लड़ाया। इन प्रयासों में ब्रिटिश लोग सबसे अधिक सफल हुए और उन्होंने 18वीं शताब्दी के अंतिम भाग में श्रीलंका पर अधिकार कर लिया। उन्होंने श्रीलंका में बाँटो और शासन करो की नीति का भरपूर प्रयोग किया, जिसका प्रमुख लाभ सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक तौर पर तमिलों को मिला। इसलिए द्वितीय विश्व युद्ध के बाद श्रीलंका की स्वाधीनता के समय तमिलसिंहल विरोध के बीज पहले से ही विद्यमान थे। सार्वजनिक वयस्क मताधिकार के आधार पर लोकतंत्रीय सरकार के आने के बाद स्वाभाविक रूप से बहुसंख्यक सिंहलियों ने देश के प्रशासन और अर्थव्यवस्था में तमिलों के प्रभाव के कारण बने असंतुलन को ठीक कर दिया।

परंतु पचासवें दशक के अंत तक सिंहलियों के इस असंतुलन को ठीक करने का प्रयास तमिलों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण हो गया और इसके कारण यह तमिलों के उत्पीड़न में बदल गया। श्रीलंका के तमिलों के पूनम बालुन, चेल्वनायकम और तिरूचेल्वन जैसे वरिष्ठ नेताओं ने डुडले, सेनानायके, जॉन कोटेलावाला और एस.डब्ल्यू.आर.डी. बंडारनायके आदि सिंहली नेताओं से बात करके यह प्रयास किया कि तमिल लोगों को श्रीलंका की सत्ता के ढाँचे, प्रशासन और अर्थव्यवस्था में आनुपातिक और उचित प्रतिनिधित्व मिले। लेकिन एक बार समझौता हो जाने के बाद सिंहली नेता प्रायः इन समझौते से मुकर जाते थे।

इस पृष्ठभूमि में सत्तर के दशक के मध्य में श्रीलंका में तमिल उग्रवाद का उदय हुआ। हालात तब बिगड़े जब जुलाई 1983 में जाफ़ना में तमिल उग्रवादियों ने श्रीलंकाई सैनिकों की हत्या कर दी। इस हत्या के प्रतिक्रिया के रूप में सिंहली क्षेत्रों में व्यापक तमिलविरोधी उपद्रव हुए। लगभग दो लाख तमिल शरणार्थी बनकर भारत में आए।

सन 1983 में भारत श्रीलंका की स्थिति से संबद्ध हो गया और वह तब तक उससे जुड़ा रहा जब तक सन 1990 के आरंभ में उसने श्रीलंका से भारतीय शांति स्थापना सेना को वापस नहीं बुला लिया। यह श्रीलंका की स्थिति के बारे में श्रीलंका के इतिहास और समकालीन राजनीति की व्यापक प्रवृत्तियों का सरलीकृत विवरण है। भारत ने श्रीलंका को इस नृजातीय संघर्ष पर विजय पाने के लिए समय–समय पर सहायता की। 1953 में प्रधानमंत्री नेहरू और श्रीलंका के प्रधानमंत्री कोटेलावाला ने श्रीलंका के साथ तमिलों के संबंधों को व्यवस्थित करने की कोशिश की। इस बातचीत में यह व्यवस्था थी कि भारतीय मूल के उन सभी लोगों को जो श्रीलंका में रहना चाहते हैं, वहाँ रुकने दिया जाए और जिन्हें श्रीलंका की नागरिकता नहीं चाहिए उन्हें वापस भारत भेज दिया जाए। 1964 में किए गए शास्त्री–सिरिमाओ समझौते में श्रीलंका में बसे हुए नागरिकताहीन 9 लाख 75 हज़ार लोगों की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया गया था। इसके बाद भी लगभग 1 लाख 50 हज़ार लोगों के (जिन्हें 1964 के समझौते में शामिल नहीं किया जा सका था) भाग्य का फैसला इंदिरा गांधी– सिरिमाओ समझौते द्वारा जनवरी 1974 में किया गया।

एल.टी.टी.ई. की जाफना और आसपास क्षेत्रों से प्रशासन व्यवस्था को हटा लेने और ईलम क्षेत्र बनाने की माँग से स्थिति ने भयंकर हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप श्रीलंका के राष्ट्रपति ने 1987 में भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी को श्रीलंका आमंत्रित किया और श्रीलंका में पुनः सामान्य स्थिति बहाल करने के लिए भारतीय शांति (स्थापना) सेना भेजने का आग्रह किया। यह निर्णय अनर्थकारी सिद्ध हुआ क्योंकि न तो तमिलों ने और न ही सिंहलियों ने भारतीय सेना का स्वागत किया। व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय शांति सेना के सैकड़ों जवान एल.टी.टी.ई. के साथ युद्ध में मारे गए। भारतीय शांति सेना को श्रीलंका भेजने के परीक्षण की असफलता को ध्यान में रखते हुए अंततः भारत के प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने 1990 में श्रीलंका से भारतीय सैनिकों को वापस बुला लिया।

सन 1994 में राष्ट्रपति चंद्रिका कुमारतुंगा की नई सरकार ने सत्ता ग्रहण कर ली और तत्काल उसने एल.टी.टी.ई. के साथ शांति वार्ता शुरू कर दी। कुछ प्रारंभिक सकारात्मक प्रतिक्रिया के बाद उन्होंने श्रीलंका सरकार की शांति की पहल को अपर्याप्त समझ कर फिर से आक्रमक रवैया अपना लिया। श्रीलंका के तमिल तीन वर्गों में बँटे हुए हैं – मूल तमिल प्रवासी उत्तरी और पूर्वी श्रीलंका में हैं, मज़दूर तमिल और वे तमिल जो भारतीय मूल के समझे जाते हैं केंद्रीय उच्च भूभाग में बसे हैं; और तीसरे वे तमिल–भाषी मुसलमान हैं जो अपनी अलग सामाजिक–सांस्कृतिक पहचान का दावा करते हैं।

इसके अलावा, वहाँ कई तमिल उग्रवादी और राजनीतिक दल हैं। इनमें एल.टी.टी.ई. सबसे अनुशासित, प्रभावशाली और प्रबल तमिल वर्ग है जो स्वयं को तमिल–हितों का प्रतिनिधि मानता है। ये लोग आधे–अधूरे समझौतों के पक्ष में नहीं हैं। उनकी प्रमुख माँग 'ईलम' यानी श्रीलंका में अलग तमिल देश की माँग है। अंतरिम स्थिति में वे पूर्ण स्वायत्तता, सत्ता के हस्तांतरण आदि के लिए सहमत हो सकते हैं। इसके जवाब में श्रीलंका जो कुछ दे सकता है, वह उन्हें पर्याप्त नहीं लगता। चंद्रिका कुमारतुंगा का उनके साथ शांति स्थापित करने का प्रयास इससे पूर्व विफल हो चुका है लेकिन, उसका लाभ अब मिल रहा है क्योंकि श्रीलंका में फिलहाल शांति है।

16.2.2 एल.टी.टी.ई. और श्रीलंका सरकार

जिस व्यक्ति को श्रीलंका की दुविधापूर्ण युक्तियों में रुचि हो उसे यह बात ध्यान में रखनी होगी कि यदि श्रीलंका की सरकार तमिलों की स्वायत्तता और स्वशासन की माँग को स्वीकार नहीं करती है और श्रीलंका की सत्ता में उन्हें उचित अनुपात में प्रतिनिधित्व नहीं देती है तो इस नृजातीय संघर्ष के कारण श्रीलंका दो देशों में बँट सकता है और यदि ऐसा होता है तो यह बात हर दृष्टि से बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण होगी। इस बात को दावे के साथ कहा जा सकता है कि पिछली चार दशकों में श्रीलंका पर जिन राष्ट्रपतियों और सरकारों का शासन रहा है उनमें श्रीलंका के वर्तमान राष्ट्रपति के पास एल. टी.टी.ई. सहित तमिल देशभक्तों की नृजातीयता समस्या के शांतिपूर्ण समाधान के लिए दूर–दृष्टि और साहस दोनों हैं। जब श्रीमती कुमारतुंगा ने सत्ता संभाली तो उन्होंने एल.टी.टी.ई. के साथ समझौते की पुरजोर कोशिश की, परंतु एल.टी. टी.ई. को ऐसा लगा कि श्रीमती कुमारतुंगा ने वास्तविक राजनीतिक विषयों पर बातचीत के लिए जो रियायतें देने की बात कही है वे पर्याप्त नहीं हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रीलंका सरकार के प्रति एल.टी.टी.ई. की आक्रामक प्रतिक्रिया फिर शुरू हो गई। जब एल.टी.टी.ई.का आक्रामक रवैया बहुत उग्र हो गया तो राष्ट्रपति कुमारतुंगा ने कई मित्र देशों से युद्ध सामग्री की आपूर्ति तथा सहयोग की प्रार्थना की। लेकिन उन्होंने भारत से सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण किसी सामग्री की माँग नहीं की, सिवाय इसके कि उन्होंने भारत से अपनी नौसेना से एल.टी.टी.ई. के विरुद्ध पाक जलडमरू मध्य में तमिलनाडु से, जिससे उनके अभी भी पर्याप्त घनिष्ठ संबंध हैं, शस्त्रास्त्रों की आपूर्ति को रोकने के लिए कार्रवाई करने का अनुरोध किया। समाचा–पत्रों की रिपोर्ट से ऐसा संकेत मिलता है कि भारतीय नौसेना ने इस विषय में आवश्यक कार्रवाई की थी। श्री प्रभाकरन ने श्रीलंका की सरकार और विश्व को चेतावनी दी थी कि एल.टी.टी. ई. ने श्रीलंका की सेना का सफलतापूर्वक मुकाबला किया है, साथ ही उसने भारतीय सेना को भी सबक सिखाया है और यदि राष्ट्रपति चंद्रिका कुमारतुंगा एल.टी.टी.ई. के विरद्ध अपनी सहायता के लिए अमेरिका की सेनाओं को आमंत्रित करती हैं तो एल.टी.टी.ई. उन्हें भी ऐसा सबक सिखाने की क्षमता रखती है।

16.2.3 धार्मिक राष्ट्रवाद

विश्व के अधिकांश भागों में नृजातीयता और धर्म को एक–दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इससे नृजातीयता को धर्म से असीम प्रेरणा मिलती है और वैधता प्राप्त हो रही है। बहुत–से राष्ट्रवादी संघर्षों में धर्म की अत्यधिक अस्थिर भूमिका रही है। धार्मिक आंदोलनों ने 19वीं सदी में भारत में राष्ट्रवाद को प्रबुद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके कारण देश में अनेक राष्ट्रीय आंदोलन आरंभ हुए और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। परंतु कभी–कभी निहित स्वार्थी लोग धार्मिक भावनाएँ भड़का कर समाज में विघटन पैदा करके संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं।

इसी प्रकार, पूर्ववर्ती युगोस्वालिया राज्य में क्रोशियाइयों, सर्वो और स्लावों के बीच शत्रुता का कारण नृजातीय झगड़े थे। लेकिन झगड़ों के पीछे ऑर्थोडॉक्स, रोमन और मुस्लिम धर्मों का टकराव भी कारण था। इज़राइल के यहूदी राज्य और इसके पड़ोसी मुसलमानों के बीच तथा इज़राइल के अंतर्गत फिलिस्तीनियों के साथ शांति के प्रयासों को कई वर्ष हो चुके हैं। केंद्रीय रूसी सरकार तथा चेचन्या गणराज्य के बीच टकराव का कारण नृजातीय–धार्मिक तनाव है। तनाव के इस क्षेत्र का विस्तार केंद्रीय एशिया और काकेशस में रूस की दक्षिणी सीमा पर है।

किसी भी हालत में धर्म पर आधारित राष्ट्रवादी आंदोलन केवल विश्व के उन भौगोलिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं हैं जहाँ मुस्लिम बहुल आबादी पाई जाती है बल्कि अन्यत्र भी हैं। जैसे उत्तरीय आयरलैंड में प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक ईसाइयों के बीच संघर्ष है। यद्यपि उत्तरी आयरलैंड की अधिकांश आबादी प्रोटेस्टेंटों की है, फिर भी यहाँ की अल्पसंख्यक कैथोलिक आबादी आयरलैंड के साथ मिलना चाहती है। इस प्रयोजन के लिए इंग्लैंड के विरुद्ध आतंकवादी तरीकों का इस्तेमाल किया जा रहा है।

इसी प्रकार, श्रीलंका का संघर्ष तमिल (हिंदुओं) और सिंहली (बौद्धों) के बीच है।

धार्मिक राष्ट्रवाद के अन्य भी अनेक उदाहरण हैं, जहाँ लोग धर्म के नाम पर संघर्ष में संलग्न हैं, जो इस युक्ति के विरुद्ध है कि आधुनिक विश्व में धर्म की भूमिका निरंतर घट रही है।

16.2.4 विश्व–व्यापी रूढ़िवाद

1980 के दशक के आरंभ में आयतुल्ला खामैनी के नेतृत्व में हुई ईरानी क्रांति और संयुक्त राज्य अमेरिका में रूढ़िवादियों के नेतृत्व में ईसाइयों के अधिकार के आंदोलन के उदय को धार्मिक उग्रवाद कहा गया।

रूढिवाद और आधुनिकता के बीच संबंधों की परीक्षा करने के लिए कला और विज्ञान की अमेरिकी अकादमी द्वारा एक पंचवर्षीय अनुसंधान कार्यक्रम से निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आए :

i) जिन अधिकांश आंदोलनों की समीक्षा की गई उन्हें समुचित रूप से आधुनिकता–विरोधी नहीं कहा जा सकता,

ii) बहुत–से रूढ़िवादी आंदोलन आधुनिकता की प्रौद्योगिकियों और संगठनात्मक प्रकृति को स्वीकार कर रहे हैं। आधुनिकता के संदर्भ में तनाव का कारण ज्ञानात्मक पद्धति से है जिसमें आधुनिक संस्कृतियों में 'पवित्र' शब्द को उचित महत्व देने से इनकार किया गया है,

iii) रूढ़िवादी आंदोलन, आधुनिक समाजों की सामाजिक बुराइयों और पवित्रता को अस्वीकार करने के बीच आकस्मिक संबंध देखते हैं; और

iv) इस्लामी विश्व के बाहर के अधिकांश भागों में रूढ़िवादी आंदोलन वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के लिए कोई तात्कालिक खतरा तो नहीं हैं लेकिन वे ऐसी शक्ति हैं जिसके गंभीरता से लिया जाना चाहिए।

16.2.5 विमुक्ति आंदोलन

विमुक्ति धर्म विज्ञान का उद्भव द्वितीय वैटिकन काउंसिल (1962–65) और मैडेलिन, कोलंबिया (1968) में आयोजित लैटिन अमेरिकी धर्माध्यक्षों के आम सम्मेलन के बाद हुआ था। इस सम्मेलन का उद्देश्य 'गरीबों को बेहतर विकल्प देने के उनके विचार को कार्यान्वित करना था। विमुक्ति धर्म विज्ञान की संकल्पना का उपयोग आरंभ में छोटे आधार स्तर के निम्नवर्गीय समुदायों की विमुक्ति के संदर्भ में लागू करना था। लैटिन अमेरिकी धर्म विज्ञानियों ने विमुक्ति धर्म विज्ञान के बारे में बड़ी मात्रा में साहित्य तैयार किया। व्यापक दृष्टि से देखें तो विमुक्ति विज्ञान से अभिप्राय सभी प्रकार के मानवीय अत्याचारों (अर्थात् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, उग्रवादी, यौन, पर्यावरण संबंधी और धार्मिक अत्याचारों) से मुक्ति है। बहुत से विमुक्ति धर्मविज्ञानियों ने मार्क्सवादियों के विश्लेषण को और चर्च के कार्यादेशों को अलंघनीय समझा।

विमुक्ति धर्मविज्ञान की बड़ी तीव्र आलोचना हुई थी। कुछ का कहना था कि यह क्रांतिकारी हिंसा को पूर्ण रूप से और आलोचना के बिना धार्मिक वैधता प्रदान करता है। जबकि दूसरे पक्ष का मत था कि मनुष्य की विमुक्ति का स्थान धार्मिक शिक्षा से पहले है। परंतु, रूढिवाद और धार्मिक राष्ट्रवाद की तरह विमुक्ति धर्मविज्ञान भी समकालीन विश्व की समस्याओं के लिए धार्मिक विश्वासों के निरंतर अनुकूलन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

इसने लोगों को सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन की खोज में संलग्न होने के लिए प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त, जो लोग इस उद्देश्य के प्रति समर्पित होते हैं विमुक्ति धर्मविज्ञान उनके कार्यकलापों को वैधता प्रदान करता है।

इसका निकारागुआ के सोमोज़ा अधिनायक तंत्र के तख्ता पलट और लोक–समर्थित राजद्रोह में मुख्य रूप से उल्लेख पाया जाता है। नेल्सन मंडेला दक्षिण अफ्रीका की रंग–भेद की प्रथा को निर्मूल करने की मुहिम के निर्विवाद नायक थे। लेकिन यह कल्पना मुश्किल है कि यह ऐतिहासिक घटना किसी प्रकार के धार्मिक नेतृत्व के बिना कैसे सफल हुई।

रोमन कैथोलिक कार्डिनल जेइमेसिन के द्वारा फर्डिनेंड मार्कोस के उत्पीड़न के विरुद्ध जन–सहयोग से ऐसा विद्रोह खड़ा हुआ कि फिलिपीन के अधिनायक को सत्ता छोड़कर जाना पड़ा।

इसी प्रकार, हैती में रोमन कैथोलिक चर्च ने जीन–क्लाडे डुबीलियर को देश निकाला देकर कैथोलिक पादरी जीन बर्टेड एरिस्टाइड को राष्ट्रपति बना दिया। वास्तविकता यह है कि विमुक्ति धर्मविज्ञान का लैटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया जैसे तीसरे विश्व के अधिकांश क्षेत्रों में उत्कर्ष बढ़ रहा है और उसकी अभिव्यक्ति हो रही है।

16.2.6 साम्यवादोत्तर समाज

मार्क्सवादी विश्लेषणकर्ताओं का धर्मनिरपेक्षीकरण के सिद्धांत के आधार पर विश्वास था कि धीरे–धीरे धर्म प्रभावहीन होकर समाप्त हो जाएगा। सत्तर साल के आक्रामक नास्तिकता के प्रचार और साम्यवादियों द्वारा संगठित धर्म को कुचलने के अभियान को भी इसमें कोई सफलता न मिली। जब मिखाइल गोर्वाचोव ने पेरेस्त्रोइका (सुधारवादी संरचना) और ग्लासनोस्ट (जनता द्वारा उन्मुक्त आलोचना) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया तो उन्होंने उन 'नैतिक मूल्यों का उल्लेख किया जिन्हें धर्म ने पैदा किया और शताब्दियों से उन्हें मूर्त रूप दिया और उन्होंने घोषणा की कि वे ही मूल्य 'हमारे देश को नया रूप देने में मदद कर सकते हैं।

गोर्बाचोव ने पूर्ववर्ती सोवियत संघ में नए आध्यात्मिक मूल्यों की पुनःस्थापना का प्रयास किया और सुसाध्य बनाया। ये सुधारवादी परिवर्तन एक दशक से भी कम समय में पूरे सोवियत साम्राज्य में एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गए। सोवयित रूस तेजी से छिन्न–भिन्न हो गया और पूर्वी यूरोप पर से साम्यवादी प्रभाव समाप्त हो गया। कई देशों में अनेक धार्मिक संगठनों ने भी ऐसी ही भूमिका का निर्वाह किया था।

साम्यवाद की समाप्त में धर्म की भूमिका से पोलैंड भली–भाँति परिचित है, जहाँ रोमन कैथोलिक चर्च ने खतरा उठाकर भी साम्यवादी शासन का विरोध किया। यह बात बहुत पुरानी है, जब इसने संधि करके सॉलिडेरिटी आंदोलन को सुरक्षा दी थी। पादरियों और पैस्टरों ने समाजों में अमूल्य नेतृत्व देने का प्रस्ताव किया। इनके पास अधिकृत नेता तैयार करने के अन्य अवसर नगण्य थे। रूस में आध्यात्मिक नवीकरण की कई अभिव्यक्ति हुई। सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण रूस की ऑर्थोडक्स चर्चा का पुनर्निर्माण और उन्हें जनता के लिए खोलना था। लेकिन 1991 में अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक समाज द्वारा रूसी भाषा–भाषी नागरिकों का सर्वेक्षण किया गया। इसे हम रूस में धार्मिक पुनर्जागरण का साक्ष्य मान सकते हैं।

लगभग आधे या एक–तिहाई रूसियों का ईश्वर के प्रति विश्वास था। इसकी जानकारी इस बात पर निर्भर करती है कि आप किस प्रकार का प्रश्न करते हैं। 'पाँच में से एक रूसी ऐसा है जो ईश्वर के अस्तित्व और धर्म को अस्वीकार करने के बाद अब दोनों को मानने लगा है। सामान्यतः आध्यात्मिक पुनर्नवीकरण का साक्ष्य बहुत बड़ी संख्या में विदेशी मिशनरियों का पूर्व सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय देशों में श्रद्धा भाव से आगमन में देखा जा सकता है। 1993 के आरंभ में पूर्व सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में काम करने आए ईसाई मिशनरियों के समूहों की डायरेक्टरी में दी गई संख्या 674 वर्ग थी। इन आँकड़ों में वृद्धि होने के बाद 1993 में ही इनकी संख्या बढ़कर 1600 विदेशी वर्ग और लगभग 2000 स्थानीय संगठन हो गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि सोवियत रूस में धर्म को शीघ्र समाप्त करने के प्रयास असफल रहे।

श्रीलंका, यूक्रेन और सूडान जैसे देशों का गहराई से अध्ययन करने से पता चलता है – 'सांस्कृतिक, नृजातीय और धार्मिक टकराव का प्रतिमान विभिन्न सभ्यताओं के बीच इतना अधिक न होकर विभिन्न देशों के बीच अधिक पाया जाता है। इन देशों में, यदि एक राष्ट्र–राज्य बनाने का प्रयास किया जाए तो वहाँ के बहुसंख्यक समूह नृजातीय अल्पसंख्यक समूहों पर एकछत्र वर्चस्व रखने का प्रयास करते हैं। इसकी प्रतिक्रिया में अल्पसंख्यक समूह बहुसंख्यक समूह के प्रभुत्व से बचने की कोशिश कर सकते हैं। सामान्यतः बहुसंख्यक समूह नृजातीयता के आधार पर सत्ता पर अपने दावे को युक्तिसंगत ठहराता है और कहता है कि वे अपने विशिष्ट क्षेत्रों से संबंधित पवित्र मूल्यों और जीवन पद्धति के रक्षक हैं।

बड़े नृजातीय वर्गों के प्रभुत्व से बचने के लिए अपने प्रयासों में अल्पसंख्यक लोग प्रायः मानव अधिकार के मानकों को लागू करने की प्रार्थना करते हैं जिसमें नृजातीय और धार्मिक सहिष्णुता तथा भेदभावपूर्ण व्यवहार न करने की व्यवस्था हो।

अल्पसंख्यक लोग, व्यापक तौर पर मानव अधिकार के मामलों के समाधान की वकालत इसलिए नहीं करते कि वे अंतर्राष्ट्रीय तौर पर घोषित और स्वीकृत हैं बल्कि अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि केवल वही बहु–नृजातीय राष्ट्र में स्थायी नृजातीय और धार्मिक शांति का वास्तविक संतोषजनक आधार प्रस्तुत करते हैं।

नृजातीय राष्ट्रवाद का सामना करने के लिए अल्पसंख्यकों के संघर्ष की बात जितनी संयुक्त अमेरिका, कनाडा और पश्चिमी यूरोप (उदाहरण के तौर पर संयुक्त राज्य अमेरिका के मूल अमेरिकी, कनाडा के क्यूबेकाई और यूरोप में रोमा) के संबंध में स्पष्ट है उतनी ही यह सुदूरवर्ती देशों तथा क्षेत्रों के बारे में भी है। पश्चिम में जो अल्पसंख्यकों के संघर्ष हैं वे शेष विश्व में होने वाले संघर्षों से भिन्न नहीं कहे जा सकते। आज पश्चिमी देशों में जिस प्रकार के कानून और नीतियाँ नृजातीय तथा धार्मिक सहिष्णुता और भेदभावपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध पाई जाती हैं इसकी पृष्ठभूमि में बड़ा ही दर्द–भरा इतिहास है।

उदाहरण के तौर पर, दलाई लामा भावी तिब्बत में 'धर्म और राज्य' को पृथक करने के पक्ष में हैं ताकि गैर–बौद्ध धर्म के अल्पसंख्यकों के लिए स्वतंत्रता तथा समानता का न्यायसंगत अधिकार सुनिश्चित हो सके। सूडान में ऐसे मुस्लिम आबादी वाले पर्याप्त क्षेत्र हैं जो वर्तमान इस्लामी सरकार के विरुद्ध हैं। और कई बार, बहुत बड़ा खतरा उठाकर भी वे मानव अधिकार के सिद्धांतों को और अधिक ज़ोरदार तरीके से लागू करने की वकालत करते हैं। दक्षिणी सूडान की अल्पसंख्यक आबादियाँ सरकार से गैर–भेदभावपूर्ण व्यवहार और धार्मिक स्वतंत्रता की माँग करती हैं। हाल ही में, मोलडेविया, ग्वाटेमाला और फिलीपीन्स में मानव अधिकारों की बात स्वीकार की गई जिससे उन देशों में नृजातीय विवादों को शांतिपूर्ण तरीकों से सुलझाने के लिए आधार तैयार हुआ। इन उदाहरणों से यह बताने में सहायता मिलती है कि वास्तव में यहाँ विभिन्न सभ्यताओं में कोई संघर्ष नहीं है। इसके बजाय, पश्चिमी देशों के लिए यह महत्वपूर्ण है कि वे स्वयं को शेष विश्व से अलग–थलग न करें बल्कि वे समान उद्देश्य के लिए उनके साथ एक हिस्सेदार बनकर रहें। इसके साथ ही पश्चिम जगत को भी यह स्वीकार करना होगा कि विश्व के अन्य क्षेत्र भी अपने माहौल में, अपने ढंग से सहिष्णुता और गैर–भेदभाव की नीति को अपनाएँ। और उसे लागू करें।

16.3 मानव अधिकार

मानव अधिकार मूलभूत विशेषाधिकार या प्रतिरक्षा व्यवस्था है जिस पर सभी लोगों का नैतिक अधिकार है। अंतर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में मानव अधिकार किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत–कानूनी हक और स्वाधीनता का अधिकार है जिसमें किसी व्यक्ति के प्रति राज्य और सरकार द्वारा निर्देशित विशिष्ट प्रकार का आचरण सम्मिलित है। किसी भी दृष्टि से मानव अधिकार 'कोई उपहार' नहीं है जिसे जब चाहे रोक या छीन लिया जाए।

मानव अधिकार की संकल्पना हमारी विश्व की विरासत के रूप में सबसे प्राचीन जीवन मूल्यों और धर्मों में बद्धमूल है। और ये विश्व के प्रमुख दर्शनों तथा राजनीतिक सिद्धांतों में शामिल है। आरंभ में सार्वभौम मानव अधिकार कानून प्रथम विश्व युद्ध के बाद अस्तित्व में आया। संयुक्त राष्ट्र संघ के अग्रदूत के रूप में लीग ऑफ नेशन्स ट्रस्ट क्षेत्र के प्रशासकों को स्थानीय जनसंख्या की सुरक्षा और कल्याण का वादा करना पड़ता था। लीग ऑफ नेशन्स द्वारा लागू की जाने वाली संधियों पर नए बनाए गए केंद्रीय और पूर्वी यूरोप के देशों को नृजातीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए

हस्ताक्षर करने पड़ते थे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थापित अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) ने श्रम और कल्याण के न्यूनतम मानकों का समर्थन किया। इसके कारण सैकड़ों महत्वपूर्ण मानव अधिकार संगठनों का जन्म हुआ।

16.3.1 मानव अधिकारों के प्रति संयुक्त राष्ट्र संघ की चिंता के मूल कारण

नाज़ी शासन द्वारा आतंकवादी गतिविधियों के कारण मानव अधिकारों के प्रति चिंताओं का पुनर्जन्म और उनका अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ। मानव अधिकारों के विश्व–स्तरीय आंदोलन की स्थापना और प्रेरणा संयुक्त राष्ट्र अधिकार–पत्र (यू. एन.चार्टर) से मिली। संयुक्त राष्ट्र अधिकार–पत्र पहली बहुपक्षीय संधि थी जिसमें मानव अधिकारों के प्रति चिंता की व्यवस्था की गई। यह मानव अधिकारों का वह नींव का पत्थर है जिस पर मानव अधिकारों का विशाल भवन खड़ा हुआ।

16.3.2 मानव अधिकार : संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र और उसके बाद

संयुक्त राष्ट्र अधिकार–पत्र (यू.एन.चार्टर) में मानव अधिकारों के सात संदर्भ हैं। अनुच्छेद 1.3 में व्यवस्था है कि विश्व संगठन के चार उद्देश्यों में से एक है – सभी के लिए जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं को प्रोत्साहित करना। अनुच्छेद 1.3 के पैरा 1(बी) में संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा को निर्देश दिया गया है कि वह इस विषय में आवश्यक अध्ययन आरंभ करे और अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करे। आर्थिक और सामाजिक परिषद को भी अनुच्छेद 62 के अधीन वही कार्य दिए गए। संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र की किसी अन्य व्यवस्था से अधिक अनुच्छेद 55 में स्पष्ट रूप से मानव अधिकारों के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयोजनों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इनमें 'समान अधिकार के सिद्धांतों का सम्मान' और 'लोगों का आत्म–निर्णय का अधिकार', 'रहन–सहन के उच्च स्तर को बढ़ावा देना, पूर्ण रोजगार, और आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति और विकास', 'अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और उससे संबंधित समस्याएँ एवं 'सबके लिए मानव अधिकारों के प्रति सम्मान और उनका पालन' शामिल है। अनुच्छेद 56 में सदस्य राष्ट्रों द्वारा 'प्रतिज्ञा' की गई है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वे संयुक्त रूप से और संयुक्त राष्ट्र संघ के सहयोग से अलग–अलग कार्रवाई करेंगे। अनुच्छेद 68 में व्यवस्था है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद मानव अधिकारों के लिए एक स्थायी आयोग (कमीशन) की स्थापना करे। अंत में अनुच्छेद 70 (सी) में प्रावधान है कि ट्रस्ट क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों के मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं को बढ़ावा दिया जाए। संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकारों के क्षेत्र में चल रहे संगत कार्यकलापों को चार विशिष्ट वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(क) मानकों का निर्धारण : इसमें व्यक्तियों के अधिकारों की व्याख्या और स्पष्टीकरण शामिल है।

(ख) प्रोत्साहन गतिविधियाँ : इसमें विशेष मानव अधिकारों का या विशिष्ट स्थानों पर मानव अधिकारों का अध्ययन और पूर्ण कार्यान्वयन के लिए उपायों की सिफारिश

(ग) मानवीय प्रकार्य : मानव अधिकार उल्लंघन से प्रभावित व्यक्तियों को सहायता प्रदान करना; और

(घ) कार्यान्वयन : किन्हीं विशिष्ट क्षेत्रों में मानव अधिकार उल्लंघन से सुरक्षा प्रदान करना।

16.3.3 अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रपत्र

मानव अधिकारों को परिभाषित करने और उनकी सुरक्षा को सुनिश्चित करने के संयुक्त राष्ट्र संघ के पाँच प्रमुख कानूनी प्रपत्र हैं – 1948 में मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा; आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदाएँ; आम सभा द्वारा स्वीकृत 1948 की घोषणा जिसमें प्रारंभिक नैतिक अधिकार का घोषणापत्र है। प्रसंविदाएँ ऐसी संधियाँ हैं जो राज्य उनकी पुष्टि करते हैं उन पर वे बाध्यकारी होती हैं। सम्मिलित रूप से इन दस्तावेज़ों को मानव अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रपत्र कहा जाता है। अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय प्रपत्र को तैयार करना संयुक्त राष्ट्र संघ का मूलभूत सर्वोपरि कार्य था। एलीनोर रूजवेल्ट की अध्यक्षता में मानव अधिकारों के संयुक्त राष्ट्र आयोग ने यह पहला कार्य आधारभूत अधिकारों और स्वतंत्रताओं की व्याख्या के रूप में अपने हाथ में लिया। 10 दिसंबर, 1948 को बीसवीं शताब्दी के मानव अधिकार कानून का पहला स्तंभ 'मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा' नामक कानून संयुक्त राष्ट्र सभा द्वारा पारित किया गया। 'सब लोगों के लिए उपलब्धि के समान मानक के रूप में अभिप्रेत मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा में आधारभूत नागरिक और राजनीतिक अधिकारों तथा मूलभूत आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों का उल्लेख किया गया था जिन अधिकारों का कोई व्यक्ति कहीं भी उपयोग कर सकता है। इस मूल पाठ के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने व्यक्तियों के मूलभूत अधिकारों और मनुष्य के रूप में व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं महत्व में अपने विश्वास को गंभीरतापूर्वक घोषित किया। नए स्वतंत्र हुए बहुत से देशों ने इस घोषणा का उल्लेख किया या इसकी व्यवस्थाओं को अपने संविधान के मूल कानूनों में शामिल कर लिया और 1948 के बाद की बहुत–सी मानव अधिकारों प्रसंविदाओं, सम्मेलनों और संधियों ने इन सिद्धांतों को पुनः प्रस्तुत किया। इनमें से बहुत–से अधिकारों को भारत के संविधान में भी न्यायसंगत अधिकारों के रूप में सम्मिलित कर लिया गया। कुछ अन्य अधिकारों को राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों (ये गैर–न्याय्य परंतु देश के शासन की दृष्टि से मूलभूत है) के रूप में स्थान दिया गया।

उपर्युक्त सार्वभौम घोषणा ने कम से कम दो क्षेत्रीय मानव अधिकारों के प्रपत्रों को प्रेरणा दी। 1950 में यूरोप की काउंसिल ने मानव अधिकारों पर यूरोपीय समझौता स्वीकार किया और अमेरिकी राज्यों के संगठन ने 1969 में मानव अधिकार पर एक इसी प्रकार का समझौता स्वीकार किया।

सार्वभौम घोषणा के 30 अनुच्छेदों में से प्रमुख अधिकार और स्वतंत्रताएँ नीचे दी गई हैं :

- कानून के समक्ष समानता,
- आने–जाने, घूमने–फिरने और आवास की स्वाधीनता,
- यातना, क्रूरतापूर्ण, अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार या सजा से मुक्ति,
- राजनीतिक शरण लेने और उत्पीड़न से बचाव का अधिकार,
- विचार करने की, अंतःकरण की और धर्म की स्वतंत्रता,
- मतदान करने और सरकारी कामकाज में भाग लेने का अधिकार,
- शिक्षा का अधिकार,
- काम करने और श्रमिक संघ बनाने तथा उसमें प्रवेश का अधिकार,
- समुचित रहन–सहन के स्तर का अधिकार,
- स्वास्थ्य रक्षा का अधिकार,
- सांस्कृतिक गतिविधियों में पूर्ण रूप से भाग लेने का अधिकार

इस घोषणा को पारित करने के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों ने अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय प्रपत्र अर्थात मानव अधिकार की संधि का मसौदा तैयार करने की ओर ध्यान दिया। परंतु जबकि घोषणा को तैयार करने में लगभग 18 महीने लगे तो प्रसंविदाओं और वैकल्पिक नयाचार को तैयार करने में 18 साल लग गए। इस विलंब के कई कारण बताए जा सकते हैं। एक तो, ये प्रसंविदाएँ इससे पूर्व निर्मित अत्यंत विस्तृत मानव अधिकारों की संधियाँ थीं। इनमें न केवल वैयक्तिक–नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों का समावेश था बल्कि इनमें उनके कार्यान्वयन के उपाय भी बताए गए थे। दूसरे, चूँकि जब ये प्रसंविदाएँ तैयार की जा रही थीं उसी समय संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या में वृद्धि हो रही थी। इसलिए संयुक्त राष्ट्र के निकायों के लिए सभी राष्ट्रों के हितों को समायोजित या समन्वित करना मुश्किल हो गया। अंत में, संयुक्त राष्ट्र के निकायों (विशेष रूप से आम सभा) पर विश्व के बहुत–से भागों में संकट की स्थितियों में शांति स्थापित करने और उसे बनाए रखने का दायित्व आ गया।

मसौदा तैयार करने के दौरान संयुक्त राष्ट्र आम सभा ने घोषणा में बताए गए अधिकारों को दो कानूनी प्रपत्रों में विभाजित करने का निर्णय लिया। ये दो प्रपत्र थे – (क) नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से संबंधित प्रसंविदा, जिसमें पाश्चात्य संस्कृति में स्वीकृत परंपरागत नागरिक और राजनीतिक अधिकार शामिल हैं (ख) दूसरी प्रसंविदा में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार आते हैं जिन्हें समाजवादी और तृतीय विश्व के समाजों की आकांक्षाओं को संतुष्ट करने के लिए रखा गया था। इनमें से पहली प्रसंविदा के प्रावधानों को तत्काल कानूनन लागू किया जाना था जबकि दूसरी प्रसंविदा के प्रावधानों को क्रमशः दीर्घकालीन शिक्षा, योजना और प्रोत्साहन द्वारा प्राप्त किया जाना था। 1966 में इन प्रसंविदाओं और दूसरे संगत प्रपत्रों को स्वीकार कर लेने के बाद मानव अधिकार नियमों को स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर लागू करने के लिए मज़बूत कानूनी आधार तैयार हो गया था। ये दोनों ही दिसंबर 1966 को सर्वसम्मति से पारित हो गए। और उसी दिन ये पुष्टि और हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत कर दिए गए। लेकिन, इससे पूर्व कि इन प्रसंविदाओं को लागू किया जाता, निर्धारित संख्या में राष्ट्रों द्वारा इसकी पुष्टि में एक दशक और लग गया। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदाएँ 3 जनवरी 1976 को लागू हुईं (इसकी पुष्टि 1 जुलाई, 1993 को हुई अथवा 123 देशों ने इसे स्वीकार किया)। नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा और इसका वैकल्पिक नयाचार 23 मार्च 1976 को लागू हुआ और 1 जुलाई 1973 को इस प्रसंविदा को 123 देशों ने स्वीकार कर लिया यो इसकी पुष्टि कर दी (और इसके वैकल्पिक नयाचार की पुष्टि 29 देशों ने 1 जून 1983 को की)। नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा के दूसरे वैकल्पिक नयाचार को संयुक्त राष्ट्र की आम सभा ने 1989 में स्वीकार किया। इस नयाचार में मृत्युदंड को समाप्त करने का प्रस्ताव था। 18 राज्यों ने इसकी पुष्टि की लेकिन कुछ देशों ने इसका इस आधार पर विरोध किया कि यह (मृत्युदंड) उनके कानूनों और प्रथाओं के अनुकूल है और यह अपराधों को रोकने में सहायक है। सबने मिलकर सार्वभौम घोषणा में मानव अधिकारों के प्रावधानों को कानूनन बाध्यकारी बनाने तथा उनकी अंतर्राष्ट्रीय मॉनीटरिंग करने की दिशा में एक कदम बढ़ाया। सामान्य रूप से, दो प्रसंविदाओं में तथा सार्वभौम घोषणा में निर्धारित अधिकारों और स्वाधीनताओं का प्रतिबिंब दिखाई देता है। लेकिन इसमें कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ प्रसंविदाएँ उपर्युक्त घोषणा से अलग हो गई है। यह बात संपत्ति पर अधिकार और आत्म–निर्णय के अधिकार के संबंध में कही जा

सकती है। समाजवादी देशों के विरोध के कारण मानव अधिकार आयोग ने संपत्ति के अधिकार को प्रसंविदाओं में शामिल न करने का निर्णय किया, हालाँकि ये अधिकार सार्वभौम घोषणा का भाग हैं। दूसरी ओर, प्रसंविदा में आत्म–निर्णय का अधिकार शामिल है जबकि वह घोषणा में नहीं है।

आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा मानव अधिकारों की 'दूसरी पीढ़ी ' का प्रतिनिधित्व करती है। लंबे समय तक ये अधिकार पूँजीवादी देशों और उनके विधिवेत्ताओं को मानव अधिकारों के रूप में स्वीकार्य नहीं थे। परंतु समाजवादी देशों ने, एशिया और अफ्रीका के नए उभरते देशों के समर्थन से, ऐसा वातावरण बना दिया जिससे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को न केवल मानव अधिकारों के रूप में स्वीकार किया गया था बल्कि उन्हें कानूनी तौर पर बाध्यकारी प्रसंविदा में भी विधि के रूप में वर्गीकृत किया गया। आज आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा मानव अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय प्रपत्र का महत्वपूर्ण और अनिवार्य भाग है। जो देश इस प्रसंविदा को स्वीकार करते हैं और इसकी युष्टि करते हैं वे अपने लोगों के लिए जीने की बेहतर अवस्थाओं को प्रोत्साहित करने के अपने दायित्व को पूरा कर रहे हैं। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, उचित मज़दूरी पाने, सामाजिक सुरक्षा, रहन–सहन के उचित स्तर और भूख से मुक्ति तथा स्वास्थ्य एवं शिक्षा का अधिकार सम्मिलित हैं। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को श्रमिक संघ बनाने और उसमें भाग लेने के अधिकार को भी सुनिश्चित किया गया है।

नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा मुख्य रूप से उन परंपरागत अधिकारों और स्वतंत्रताओं का प्रतिनिधित्व करती है जिन्हें मानव अधिकारों की पहली पीढ़ी' के रूप में प्रचलित किया गया है। जो देश इस प्रस्त्रंविदा की पुष्टि करता है। वह प्रत्येक मनुष्य के जीवन, आज़ादी, सुरक्षा और व्यक्तिगत गोपनीयता के अधिकार को स्वीकार करता है। साथ ही, वह व्यक्ति के विचार स्वातंत्र्य, अंतःकरण और धर्म की स्वतंत्रता; सम्मति देने और अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता, शांतिपूर्ण ढंग से एक जगह इकट्ठा होने और उत्प्रवास की स्वतंत्रता; और संघ बनाने की स्वतंत्रता के अधिकार को भी मान्यता देता है। प्रसंविदा में गुलामी प्रथा पर प्रतिबंध लगाने और न्यायपूर्ण ढंग से मुकदमा चलाने की व्यवस्था है। व्यक्ति को मनमाने ढंग से गिरफ्तार करने, जेल में रखने, यातना देने और अमानवीय तथा अपमानजनक व्यवहार करने पर प्रतिबंध लगाने की भी समुचित व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, कुछ विशिष्ट अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उपयोग करने पर भी कुछ उचित प्रतिबंध हैं बशर्ते वे राष्ट्रीय सुरक्षा, नागरिक व्यवस्था, नागरिक स्वास्थ्य, आचरण या अधिकार अथवा दूसरों की स्वतंत्रता को प्रभावित न करते हों। अनेक देशों ने इस व्यवस्था का अनुचित लाभ उठाया और उन्होंने प्रसंविदा के अधीन अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करके भी इन अधिकारों का प्रयोग किया।

16.3.4 भारत में मानव अधिकारों की स्थिति

भारत में मानव अधिकारों को न केवल भारत के संविधान में सम्मानपूर्ण स्थान दिया गया बल्कि उसे संपूर्ण सामाजिक–राजनीतिक पद्धति में भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया गया है कि बहुत–से नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को संविधान के भाग–II) में मूलभूत अधिकारों में सम्मिलित किया हुआ है। वे न्यायसंगत हैं, उन्हें सांविधानिक उपायों के अधिकार के अंतर्गत रखा गया है। इसके अतिरिक्त, बहुत–से सामाजिक–आर्थिक अधिकारों को भाग–IV में राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों में शामिल किया गया है। राज्य ने इनमें से अधिकांश अधिकारों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया है। शिक्षा के अधिकार को, जिसे अन्याय संगत भाग–IV के अंतर्गत रखा गया था, मूलभूत और न्यायसंगत अधिकार के अंतर्गत रख दिया गया है।

भारत में एक उच्च अधिकार प्राप्त राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग है, जिसके सदस्य देश के महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं और इसके अध्यक्ष भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश हैं। यह मानव अधिकार के सभी कथित उल्लंघनों के मामलों/शिकायतों की जाँच करता है। कभी–कभी ये उल्लंघन राज्य के प्राधिकारियों अथवा पुलिस और सुरक्षा अधिकारियों द्वारा किए जाते हैं। उदाहरण के तौर पर, जब 2003 में जाँच अदालत ने ऐसे कई अभियुक्तों को छोड़ दिया जिनके बारे में कहा जाता था कि वे गुजरात में बेस्ट बेकरी में दंगों और हत्याओं में शामिल थे तब राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने इस मामले को उच्चतम स्तर पर उठाया जिसमें न्यायालय ने अभियुक्तों को साक्ष्य के अभाव में छोड़ दिया था। आयोग ने उन अभियुक्तों पर पुनः मुकदमा चलाने की माँग की। यहाँ का राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग सभी भारतीयों के मानव अधिकारों की समुचित सुरक्षा के प्रति जागरूक है। इसके अतिरिक्त, बहुत से राज्यों ने राज्य में मानव अधिकारों के उल्लंघन की रोकथाम के लिए राज्य मानव अधिकार आयोगों की स्थापना की है ताकि यदि कोई उल्लंघन होते हैं तो अपराधी को हर हालत में सजा दी जा सके।

16.4 मानवीय हस्तक्षेप

संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को एक ऐसी राजनयिक प्रक्रिया उपलब्ध है जिसके द्वारा वह सदस्य देशों की सरकारों के समक्ष मानव अधिकार संबंधी तात्कालिक समस्याओं को उठा सकता है। इनमें ऐसे मामले शामिल हो सकते हैं जिनमें राजनीतिक बंदियों की रिहाई अथवा मृत्युदंड को किसी दूसरी सजा में परिवर्तन की पेशकश हो। ऐसे मामलों में

महासचिव के हस्तक्षेप करने के प्रयास बहुत ही सीमित होते हैं और यदि कभी ऐसे प्रयास किए भी जाते हैं तो उनका प्रचार लगभग नहीं किया जाता। परंतु सामान्यतः वह मानव अधिकार के प्रति सम्मान की भावना के कारण इसके पालन की सार्वजनिक प्रार्थना करता रहता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के जिन दूतों को किसी खास देश में या किसी विशेष प्रकार के मानव अधिकार के उल्लंघन के लिए तथा राजनीतिक दृष्टि से संवेदनशील और कभी–कभी खतरनाक मानव अधिकार के उल्लंघन से संबंधित सूचनाओं को एकत्र करने का काम सौंपा जाता है उन्हें किसी सरकार के प्रतिनिधि के बजाय उनकी व्यक्तिगत हैसियत में नियुक्त किया जाता है। वे तथ्यों को एकत्र करते हैं, स्थानीय समूहों और सरकारी अधिकारियों से संपर्क बनाए रखते हैं। वे विभिन्न लोगों से मिलते हैं और बंदीगृहों में जाते हैं, मानव अधिकार उल्लंघन से पीड़ित व्यक्तियों का साक्षात्कार करते हैं, और वे सिफारिश करते हैं कि कैसे मानव अधिकार संस्थानों को सशक्त बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, संयुक्त राष्ट्र संघ मानव अधिकार की स्थितियों के बारे में स्पष्टीकरण देने या उसमें सुधार के लिए या वस्तुनिष्ठ विशेषज्ञों द्वारा उनकी जाँच के लिए संबंधित सरकारों से संपर्क करता है।

16.4.1 मानव अधिकार अनुवीक्षकों की भूमिका

मानव अधिकारों के संयुक्त राष्ट्र के उच्चायुक्त जोस अयाला लासो ने मानव अधिकारों की एक 24 घंटे की हॉट–लाइन स्थापित की है जिसके माध्यम से जिनेवा स्थित संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार केंद्र संकट (1994 के रवांडा के संकट जैसी स्थिति में) के तेज़ी से समाधान के लिए तत्काल प्रतिक्रिया कर सकता है। इसके अतिरिक्त जिनेवा में मानव अधिकार के संयुक्त राष्ट्र के केंद्र में एक ऐसा मानव अधिकार डाटाबेस भी तैयार किया जाएगा जो विशेष संवक्ताओं के उपयोग के लिए सूचनाएँ एकत्रित करेगा। साथ ही, जो देश मानव अधिकार संधि से संबंधित हैं उनकी यह जिम्मेदारी है कि वे आवधिक रूप से उनके द्वारा किए गए उपायों की जानकारी दें कि उन्होंने विभिन्न मामलों में कितनी प्रगति की है और विभिन्न प्रपत्रों के संदर्भ में उन्हें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है उसकी भी सूचना दें। लेकिन एक बात हमेशा ध्यान में रहनी चाहिए कि मानव अधिकार समझौता केवल उन देशों की इच्छा पर ही निर्भर नहीं करता है बल्कि उनके द्वारा उसके प्रावधानों के कार्यान्वयन पर भी निर्भर करता है।

16.4.2 संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के मानव अधिकार छत्र की भूमिका

संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के अन्य भाग विशेषीकृत मानव अधिकार गतिविधियों का संचालन करते हैं :

- संयुक्त राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय बाल–आपात कोश (यूनीसेफ) : बच्चों के अधिकारों की हाल ही में पारित की गई उपसंधि का निरंतर प्रचार करता है;
- शरणार्थियों के लिए संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त का कार्यालय (यू.एन.एच.सी.आर) : लाखों शरणार्थियों को कानूनी सुरक्षा और मानवीय सहायता प्रदान करता है;
- महिलाओं की स्थिति के बारे में संयुक्त राष्ट्र आयोग : यह संस्था महिलाओं के अधिकारों को विस्तार के साथ प्रचारित करती है;
- अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ) : इसने श्रमिकों के अधिकारों के संबंध में 300 संधियाँ संपन्न कीं;
- संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) : यह संगठन कार्य के क्षेत्र में मानव अधिकारों पर अध्ययनों, सम्मेलनों और सिफारिशों के लिए उत्तरदायी

16.4.3 अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून

अंतर्राष्ट्रीय मानवीय कानून में सशस्त्र संघर्ष में पीड़ित और प्रभावित व्यक्तियों की हिंसा और अन्य मानव अधिकारों के उल्लंघनों से रक्षा के बारे में विचार किया गया है। युद्ध से पीड़ित व्यक्तियों की सुरक्षा के लिए चार जिनेवा कन्वेंशनों (1949) और दो अतिरिक्त प्रोटोकोलों (1977) में मानकों को संहिताबद्ध किया गया है। इन प्रपत्रों का संयुक्त उद्देश्य उन लोगों के विरुद्ध हिंसा को रोकना है जो सशस्त्र संघर्ष में शामिल नहीं हैं और युद्ध के उन तरीकों को प्रतिबंधित करना है जो पर्यावरण को अनावश्यक रूप से क्षति पहुँचाते हैं। ऐसी चार उपसंधियाँ हुई हैं जिन्हें 118 देशों ने स्वीकार किया और उनकी पुष्टि की। ये उपसंधियाँ भूमि पर बीमार हुए व्यक्तियों और घायलों के बारे में, समुद्र में जहाज़ टूट जाने पर घायल, बीमार या सशस्त्र सैनिकों के बारे में, युद्धबंदियों और पीड़ित नागरिकों के बारे में हैं। पहले प्रोटोकोल पर 125 देशों ने हस्ताक्षर किए। इसका संबंध अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष में पीड़ित व्यक्तियों से है। दूसरे प्रोटोकोल पर 116 देशों ने हस्ताक्षर किए। इसका संबंध आंतरिक संघर्ष में पीड़ित व्यक्तियों की सुरक्षा से है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जो अन्य समझौते किए गए वे भी मानवीय कानून के अंतर्राष्ट्रीय निकायों के भाग हैं। ये समझौते व्यापक नरसंहार जैसे अपराध को रोकने और अपराधी को सजा देने से संबंधित कन्वेशन (1948) तथा किसी आपातकाल और सशस्त्र संघर्ष में स्त्रियों

एवं बच्चों की सुरक्षा की घोषणा (1974) से संबंधित है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जिनेवा उपसंधि (कन्वेशन) और प्रोटोकोल का प्रायः प्रयोग किया जाता रहा है। हाल ही में इसका प्रयोग पूर्व–यूगोस्वालिया के संघर्ष के दौरान किया गया था।

16.4.4 मानव अधिकारों को बढ़ावा देने और उनको सुरक्षा प्रदान कराने में गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

आर्थिक और सामाजिक काउंसिल ने गैरसरकारी संगठन की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी है – 'कोई अंतर्राष्ट्रीय संगठन जिसकी स्थापना अंतर्सरकारी समझौते के द्वारा न हुई हो।' इस व्यापक परिभाषा के अंतर्गत निजी स्वैच्छिक संगठन, सामुदायिक वर्ग, व्यावसायिक और व्यापारिक संगठन, श्रमिक संघ, शैक्षिक और वैज्ञानिक संगठन आते हैं।

गैर–सरकारी संगठनों और अनगिनत व्यक्तिगत वकीलों, पत्रकारों और कार्यकर्ताओं के योगदान ने विश्व–भर में मानव अधिकारों के प्रति सम्मान की भावना को बढ़ाने में बहुत मदद की है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एम्नेस्टी इंटरनेशनल (1977 में शांति के लिए नोबल पुरस्कार विजेता), रेडक्रॉस और मानव अधिकार निगरानी (जिसके प्रभाग अफ्रीका वाच, अमेरिका वाच, एशिया वाच, हेल्सिकी वाच और और मध्य–पूर्व वाच हैं) आदि गैर–सरकारी संगठन मौके पर जाँच करते हैं, अंतर्राष्ट्रीय तथा घरेलू फोरम (मंच) पर विस्तृत रिपोर्टें प्रेषित करते हैं तथा मज़दूरी समर्थक अभियान चलाते हैं। हमारे मानव अधिकार संगठन कहीं कम जन–जागरूकता के बीच और अपने पार–राष्ट्रीय प्रतिरूप की अपेक्षा कहीं कम शारीरिक सुरक्षा के साथ काम करते हैं। और जहाँ संभव होता है, वे अपनी–अपनी सरकारों के कार्यों की मॉनीटरिंग भी करते हैं। इन वर्गों में सैन–सेल्वाडोर (ऐल सल्वाडोर) का टुटेला आर्चडायोसिसन कानून सुरक्षा कार्यालय, चिली का विकेरिया डि सोलिडेरिडैड और फिलिपीन्स का निःशुल्क कानूनी सहायता वर्ग सम्मिलित हैं।

16.4.5 गैर–सरकारी संगठन और संयुक्त राष्ट्र

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के 71वें अनुच्छेद में व्यवस्था है कि गैर–सरकारी संगठन आर्थिक और सामाजिक काउंसिल के कार्य में परामर्शदाता के रूप में भाग ले सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ परामर्शदाताओं के रूप में काम करने वाले 930 गैर–सरकारी संगठन हैं। इनमें से प्रमुख गैर–सरकारी संगठन हैं – एम्नेस्टी इंटरनेशनल, फेडरेशन ऑफ रेड क्रसेंट सोसाइटीज़, दी एंडियन कमीशन ऑफ ज्यूरिस्ट्स और दी रीजनल काउंसिल फॉर ह्यूमन राइट्स इन एशिया। संयुक्त राष्ट्र जन सूचना विभाग और गैर–सरकारी संपर्क सेवा (एन.जी.एल.एस) के माध्यम से बड़ी संख्या में गैर–सरकारी संगठनों से संपर्क बनाए रखता है। इन विभागों को संयुक्त राष्ट्र पद्धति के अंतर्गत चलने वाले कार्यक्रमों के लिए कई एजेंसियों द्वारा संयुक्त रूप में प्रायोजित किया जाता है। गैर–सरकारी संगठन संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञों को सूचनाएँ मुहैया कराते हैं। ये विशेषज्ञ मानव अधिकारों की मॉनीटरिंग करते हैं और सामान्यतः बहुत–से निर्णयों को प्रभावित भी करते हैं। इन निकायों का कार्य मानव अधिकार के पक्षों से जुड़ा है।

सरकार और अंतःसरकारी संगठन जिन क्षेत्रों को राजनीतिक दृष्टि से संवेदनशील समझते हैं उनमें गैर–सरकारी संगठन कोई खतरा उठाने में स्वतंत्र और तैयार होते हैं। उन्हें अपने कार्य की प्रकृति के कारण अभिव्यक्ति और कार्य में लचीलापन तथा अपने कार्यकलापों में स्वच्छंदता है। यह गैर–सरकारी संगठनों को संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकारों को बढ़ावा देने और उन्हें सुरक्षा प्रदान करने में पूरक की भूमिका अदा करने में सहायता करते हैं।

शीत युद्ध की समाप्ति ने नई विश्व व्यवस्था को कई प्रकार से परिभाषित करने के प्रयास किए हैं। परिणामस्वरूप लोगों और संस्कृतियों के संगम ने वैश्विक बहु–सांस्कृतिक विश्व को बढ़ावा दिया है जिसमें बहुवाद के साथ इसके समायोजन की प्रक्रिया में तनाव, संशय और संघर्ष भरा हुआ है। ऐसे में पुरानी प्रथाओं, परंपरागत संस्कृति, मूलभूत मूल्यों और बोध, व्यक्ति की पहचान को प्राप्त करने का औचित्य की ओर मुड़ने का ज़ोरदार समर्थन किया जा रहा है। परिवर्तन के इस परिवेश में और इस अत्यधिक संवेदनशीलता ने वर्तमान सार्वभौम मानव अधिकारों के समक्ष नई चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं।

संयुक्त राष्ट्र के अधिकांश वर्तमान कार्यों के माध्यम से मानव अधिकारों की सार्वभौमिकता अंतर्राष्ट्रीय कानूनों में स्पष्ट रूप में स्थापित और स्वीकृत हो गई है। मानव अधिकारों के मानकों में ये उपलब्धियाँ संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था द्वारा पाँच दशकों में किए गए कार्यों का परिणाम हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून के ज्यादातर क्षेत्रों की तरह सार्वभौम मानव अधिकार न तो अन्य संस्कृतियों की उपेक्षा करके किसी विशिष्ट संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं और न ही उनकी ओर उन्मुख हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपनी संस्कृति पर अधिकार है यानी उसे अपनी संस्कृति का आनंद लेने, उसका विकास करने एवं उससे घनिष्ठता बढ़ाने का अधिकार है। इसका यह अभिप्राय बिल्कुल नहीं है कि परंपरागत संस्कृति मानव अंधिकारों का स्थान ले सकती है। मानव अधिकारों को संस्कृति के संदर्भ से जोड़ने, बढ़ावा देने, सुरक्षित करने और स्थापित करने की आवश्यकता है। ऐसा दृष्टिकोण, सांस्कृतिक संपूर्णता और विविधता को मानव अधिकारों के सार्वभौम मानकों के साथ किसी प्रकार का समझौता किए बिना या उसके स्वरूप को कम किए बिना, स्वीकार करता है।

बाल्कन्स से लेकर हार्न ऑफ एफ्रीका तक मानव अधिकार उन स्थितियों का अविभाज्य घटक हैं जिन्हें मानवीय सहायता की आवश्यकता है। इससे वे लोग प्रभावित होते हैं जो शरणार्थी हैं, जो अपने ही देश में विस्थापित हो गए हैं या दूसरे नागरिक जो आपसी दंगों के शिकार हो जाते हैं। उनकी स्थिति भी वैसी है, उनके मानव अधिकारों के उल्लंघन की संभावना है, उन्हें किसी उपद्रव में सुरक्षा की आवश्यकता है, जब आपात स्थिति समाप्त हो जाए और वे फिर से जीवन

शुरू करना चाहें तो उनके अधिकारों को सम्मान दिया जाना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था ने निरंतर बढ़ती हुई मानवीय चुनौतियों में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को नेतृत्व दिया है। शरणार्थियों के संयुक्त राष्ट्र के उच्चायुक्त और मानवीय मामलों के नए विभाग इस प्रयास में सबसे आगे हैं। ये संयुक्त रूप से सरकारी, अंतर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संगठनों, रेडक्रॉस की अंतर्राष्ट्रीय समिति तथा गैर–सरकारी समुदाय की कई अन्य संस्थाओं के साथ कार्य कर रहे हैं।

16.5 पर्यावरण

मानव पर्यावरण की सुरक्षा की आवश्यकता को प्राथमिक महत्त्व का अंतर्राष्ट्रीय उद्देश्य माना जा सकता है। सभी सभ्य देशों के लिए पर्यावरण की सुरक्षा समान रूप से चिंता का विषय स्वीकार किया जाने लगा है। फलस्वरूप आज के युग में पर्यावरण की सुरक्षा विश्व के देशों तथा अन्य सबके सम्मिलित प्रयास से हमारे कार्यकलापों का प्रमुख क्षेत्र बन गया है।

प्राकृतिक साधनों के सिद्धांतहीन उपयोग, औद्योगीकरण और शहरीकरण, कीटनाशकों के उपयोग तथा गरीबी, आवास स्थानों की खस्ता हालत, जन–स्वास्थ्य की दुरवस्था, कुपोषण और अपर्याप्त रोज़गार के कारण पर्यावरण का अपकर्ष हो रहा है। सभी विकासशील देशों की स्थिति लगभग ऐसी ही है। इन सबने मिलकर मानव को न केवल बिगड़ते हुए पर्यावरण को और अधिक खराब होने से रोकने के लिए विवश किया बल्कि सजग रूप से प्रयास और योजना निर्माण द्वारा पर्यावरण को फिर से ठीक करने के साधन और उपाय करने के लिए भी बाधित किया। इस सबसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक ओर वातावरण को बिगड़ने से बचाने के लिए तथा दूसरी ओर पारिस्थितियों के अनुकूल प्रौद्योगिकी को अपना कर राष्ट्रों के व्यवहार को नियमित करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इससे इस बात की भी आवश्यकता अनुभव की गई कि वातावरण को बिगाड़ने वाले दैनिक उपयोग के रसायनों तथा प्रौद्योगिकी पर प्रतिबंध लगाने की जरूरत है जो पर्यावरण को दूषित करने के लिए मुख्य रूप से दोषी हैं।

पर्यावरण सुरक्षा की संकल्पना में प्रदूषण, विशेष रूप से भूमंडलीय प्रदूषण या पर्यावरण अपकर्ष को रोकने के प्रयास शामिल हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून का एक सर्वसम्मत सिद्धांत यह रहा है कि किसी भी देश को न तो ऐसे कार्य करने चाहिए और न ही अपने इलाके को ऐसे प्रयोजनों के लिए इस्तेमाल करने देना चाहिए जो दूसरे राज्यों के लिए हानिकारक हो। इस नियम का आज के संदर्भ में अभिप्राय यह है कि सभी देशों को इस बात के लिए विवश किया जाए कि वे पर्यावरण प्रदूषण के अपकर्ष का कोई काम न करें। इसलिए यह बिल्कुल अंतर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में आता है कि वे पर्यावरण की सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत स्तर पर और सम्मिलित रूप में सभी देशों को कानून बनाने के लिए कहें।

वास्तव में, सन 1960 के दशक में मानव जाति इस बात के प्रति सजग होने लगी और संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानव पर्यावरण पर एक उपसंधि की आवश्यकता को स्वीकार किया। 3 दिसंबर, 1968 को संयुक्त राष्ट्र की आम सभा ने एक संकल्प पारित किया जिसमें मानव से संबंधित पर्यावरण के संबंध में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करने का प्रस्ताव रखा।

16.5.1 मानव पर्यावरण संबंधी स्टॉकहोम सम्मेलन (1972)

उपर्युक्त संदर्भ में 5 जून से 16 जून 1972 तक स्टॉकहोम में मानव पर्यावरण पर एक, संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में मानव पर्यावरण पर घोषणा को स्वीकृति प्रदान की गई। इसमें मानव पर्यावरण की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए सात क्षेत्रों का निर्धारण किया गया। ये क्षेत्र हैं :

1. मानव पर्यावरण के बारे में घोषणा।
2. मानव पर्यावरण के संबंध में कार्य योजना।
3. सांस्थानिक और वित्तीय प्रबंध विषयक संकल्प।
4. विश्व पर्यावरण दिवस के नाम के बारे में संकल्प।
5. परमाणु अस्त्रों के परीक्षण के संबंध में संकल्प।
6. पर्यावरण पर द्वितीय सम्मेलन आयोजित करने का संकल्प।
7. राष्ट्रीय स्तर पर किए जाने वाले कार्य के बारे में सिफारिशें सरकारों को भेजना।

क) मानव पर्यावरण के बारे में घोषणा

मानव पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन 1972 के खंड–I में मानव पर्यावरण पर घोषणा का विवरण है। उपर्युक्त घोषणा की मानव अधिकारों से संबंधित सार्वभौम घोषणा 1948 से तुलना करते समय यह देखा गया कि 'यह घोषणा अनिवार्य रूप से ऐसी घोषणा है जिसकी अभिव्यक्ति एक नैतिक कोड के रूप में हुई है और जिसका प्रयोजन भावी कार्यों और कार्यक्रमों को राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर संचालित एवं प्रभावित करना है।' मानव पर्यावरण संबंधी यह घोषणा–पत्र दो भागों में बँटा हुआ है। पहले भाग में सामान्य टिप्पणियाँ हैं (जैसे, मनुष्य अपने पर्यावरण का जनक है और इसका निर्माता है, मानव पर्यावरण की सुरक्षा और सुधार का प्रभाव विश्व के आर्थिक विकास पर पड़ता है, और जनसंख्या की स्वाभाविक वृद्धि पर्यावरण के संरक्षण से संबंधित समस्याएँ खड़ी करती है।) घोषणा के दूसरे भाग में 26

सिद्धांतों का उल्लेख है। ये सिद्धांत पर्यावरण संरक्षण और प्रदूषण नियंत्रण से संबंधित हैं। इसमें देशों के मूलभूत अंतर्राष्ट्रीय दायित्व की ओर संकेत किया गया है।

ख) मानव पर्यावरण के संबंध में कार्य योजना

पर्यावरण की सुरक्षा और संवर्धन के लिए कार्य योजना व्यावहारिक रूप में, सम्मेलन द्वारा स्वीकृत अंतर्राष्ट्रीय कार्रवाई के लिए सभी सिफारिशों का तर्कसंगत ढंग से वर्गीकरण है।' मानव पर्यावरण की कार्य योजना को तीन भागों में बाँटा गया है :

(i) 'पृथ्वी निगरानी' कार्यक्रम का उद्देश्य पर्यावरण संबंधी किसी आसन्न संकट के विरुद्ध चेतावनी देना था ताकि अंतर्राष्ट्रीय महत्व की समस्याओं की पहचान की जा सके, (ii) पर्यावरण प्रबंध से संबंधित सिफारिशें या दूसरे शब्दों में पर्यावरण के संबंध में जिसे आवश्यक बताया गया था उसे व्यावहारिक रूप देना; और (iii) शिक्षा, प्रशिक्षण, जन सूचना और अन्य समर्थनकारी उपाय।

(ग) सांस्थानिक और वित्तीय प्रबंध विषयक संकल्प

इस संकल्प में पर्यावरण कार्यक्रमों के लिए 54 सदस्यों वाली शासी परिषद (गवर्निंग काउंसिल) की स्थापना की सिफारिश की गई थी। इस परिषद के सदस्य न्यायोचित भौगोलिक वितरण के आधार पर तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाने थे। परंतु संयुक्त राष्ट्र की आम सभा ने दिसंबर 1972 में पर्यावरण कार्यक्रम के लिए (54 सदस्यों के बजाय) 58 सदस्यों की शासी परिषद की स्थापना की। इस शासी परिषद को यह निर्देश दिया गया कि वह विश्व के पर्यावरण पर नज़र रखे ताकि वह विश्व में उठने वाली पर्यावरण की समस्याओं के बारे में यह सुनिश्चित कर सके कि क्या सरकारें उन पर पर्याप्त और समुचित ध्यान दे रही हैं। शासी परिषद की सहायता के लिए इसका कार्यकारी निदेशक पर्यावरण की स्थिति के बारे में प्रति वर्ष एक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। इस संकल्प में यह भी सिफारिश की गई थी कि संयुक्त राष्ट्र में ही उच्च–स्तरीय प्रभावी प्रबंध–. व्यवस्था के लिए एक छोटा–सा सचिवालय स्थापित किया जाए। संकल्प में पर्यावरण संबंधी कार्यक्रमों के लिए वित्तीय संसाधनों को बढ़ाने के उद्देश्य से एक स्वैच्छिक निधि की स्थापना की भी सिफारिश की। संयुक्त राष्ट्र के पर्यावरण कार्यक्रमों में उच्चतम प्रभावी समन्वय के लिए, संकल्प में पर्यावरण–समन्वय बोर्ड स्थापित करने की भी सिफारिश की गई।

राष्ट्रीय स्तर पर कार्रवाई के लिए सरकारों को सिफारिशें भेजने का निर्णय मानव पर्यावरण से संबंधित स्टॉकहोम सम्मेलन ने अपनी सिफारिशें विभिन्न देशों की सरकारों को, राष्ट्रीय स्तर पर कार्रवाई के लिए भेजीं। इन उपायों के अलावा, सम्मेलन ने सिफारिश की कि समुद्री पटाई पर आयोजित उपसंधि के अनुच्छेद के प्रारूप को 1972 के अंत में इंग्लैंड द्वारा संयोजित किए जाने वाले सम्मेलन में स्वीकृति के लिए भेजा जाए। स्टॉकहोम सम्मेलन के कुछ निर्णय और सिफारिशें जनवरी 1972 में एक संकल्प द्वारा संयुक्त राष्ट्र आम सभा के 27वें अधिवेशन में कार्यान्वित की गईं। इन संकल्पों में से एक संकल्प (संकल्प 2997) के द्वारा संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रमों (यू.एन.ई.पी) के लिए 58 सदस्यों वाली एक शासी परिषद स्थापित की गई। इसके लिए प्रति वर्ष अपना अधिवेशन करना आवश्यक था। इसे विश्व के विभिन्न भागों में स्थापित किए जाने वाले पर्यावरण कार्रवाई केंद्रों में नेता, उत्प्रेरक, उद्दीपक और समन्वयकर्ता की भूमिका निभानी थी।

स्टॉकहोम सम्मेलन के बाद और संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम के स्थापित हो जाने के बाद एक भूमंडलीय पर्यावरण सुरक्षा आंदोलन आरंभ हुआ। आवास (दी हैबीटेट) – संयुक्त राष्ट्र के मानव आवास संबंधी सम्मेलन ने इस दिशा में बहुत अधिक सहायता प्रदान की।

16.5.2 पर्यावरण सुरक्षा संबंधी भूमंडलीय सम्मेलन, 1975 की पुष्टि

वर्ष 1975 में पर्यावरण सुरक्षा से संबंधित आंदोलन में बहुत तेज़ी से प्रगति हुई। उस समय विश्व के बहुत–से देशों ने सात भूमंडलीय समझौतों की पुष्टि की। ये समझौते थे :

- जंगली जीव–जंतुओं और वनस्पति जगत की संकटापन्न प्रजातियों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय समझौते के संदर्भ में आयोजित सम्मेलन (1973)।
- अंतर्राष्ट्रीय महत्व के गीले भूभाग पर, विशेष तौर पर मुर्गाबियों के आवास के बारे में समझौता (1972)।
- विश्व की सांस्कृतिक और प्राकृतिक विरासत की सुरक्षा से संबंधित समझौता (1972)।
- खुले समुद्र में तेल के प्रदूषण की दुर्घटनाओं के मामलों में हस्तक्षेप से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय समझौता (1969)।
- तेल प्रदूषण से होने वाली क्षति के कारण नागरिकों की देयता विषय पर अंतर्राष्ट्रीय सम्झौता (1969)।
- समुद्री जहाज़ों और विमानों से सामग्री की पटाई से समुद्री प्रदूषण को रोकने का समझौता (1973)।
- कूड़ा–करकट और अन्य सामग्री के क्षेपण से होने वाले समुद्री प्रदूषण को रोकने का समझौता (1972)।

सन 1982 में स्टॉकहोम सम्मेलन की 12वीं जयंती मनाई गई और नैरोबी घोषणा को स्वीकृति दी गई। इसमें स्टॉकहोम सम्मेलन में लिए गए निर्णयों के पालन और कार्यान्वयन के प्रति वचनबद्धता को दोहराया गया। 1982 में समुद्री कानूनों पर संयुक्त राष्ट्र के सम्मेलन में समुद्री पर्यावरण की सुरक्षा की भी व्यवस्था थी। रियो डि जेनिरो में 1982 में आयोजित भू–शिखर सम्मेलन ने भूमंडलीय पर्यावरण के संरक्षण और पृथ्वी ग्रह की सुरक्षा के लिए भूमंडलीय जागरूकता को सशक्त बनाने का उल्लेखनीय काम किया।

16.5.3 भूमंडलीय जलवायु परिवर्तन पर संगोष्ठी, 1997

जनवरी 1997 में नई दिल्ली में विकास विकल्प' नामक गैर–सरकारी संगठन के तत्वावधान में भूमंडलीय जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में तीन दिन की एक संगोष्ठी आयोजित की गई थी। इस संगोष्ठी का आयोजन विकासशील देशों में जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र ढाँचे पर सम्मेलन के अंतर्गत किया गया था। इसमें गरीबी, पर्यावरण और संसाधन प्रबंध की समस्याओं के समाधान के लिए विकसित और विकासशील देशों के बीच व्यापारिक सहयोग की संभावनाओं को खोजने का प्रयास किया गया। इसमें ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को रोकने के लिए आवश्यक उपायों और साधनों पर चर्चा हुई। इस बात पर सब सहमत थे कि ईंधन की खपत को कम करना इसके लिए तात्कालिक आवश्यकता है।

इससे पूर्व, जनवरी 1997 में बाई–एनियल ग्लोबल एनवायरनमेंट आउटलुक नामक पत्रिका के प्रथम संस्करण का विमोचन नैरोबी में किया गया। इसमें विश्व के सात क्षेत्रों में सात प्रमुख पर्यावरण संबंधी प्रवृत्तियों की पहचान की गई और लोगों को प्रभावी भूमंडलीय पर्यावरण के प्रबंध की ओर तत्कालन ध्यान देने का आह्वान किया।

16.5.4 अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण संपर्क केंद्र की मार्च 1997 की वैकल्पिक पर्यावरण कांग्रेस की बैठक

नैरोबी स्थित पर्यावरण संपर्क केंद्र अंतर्राष्ट्रीय की वैकल्पिक पर्यावरण कांग्रेस की बैठक मार्च 1997 में तिलोनिया (राजस्थान) में हुई। इसमें 38 देशों के 100 पर्यावरणविदों ने भाग लिया। इन पर्यावरणविदों ने पर्यावरण की सुरक्षा के लिए (जिसमें समाज के निम्नतम स्तर के लोग भी शामिल हों) सतत। और व्यावहारिक दृष्टिकोण का खाका प्रस्तुत करने का आह्वान किया। 16.5.5 जलवायु परिवर्तन संबंधी क्योतो की बैठक जलवायु परिवर्तन के संबंध में संयुक्त राष्ट्र ढाँचे से संबंधित विभिन्न देशों के तीसरे सम्मेलन का आयोजन 1 से 11 दिसंबर तक जापान के क्योतो में हुआ था। इस सम्मेलन की बैठक में 150 देशों ने भाग लिया। इसमें ऐसी संधि का मसौदा तैयार करने का प्रयास हुआ जो भूमंडल को गर्म करने वाली सी.एफ.सी.जैसी छह ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को सीमित करने के लिए सुनिश्चित, ठोस और समयबद्ध उपाय करेगी। 1992 के बाद के वर्षों में यानी रियो डि जेनिरो भूमंडलीय शिखर सम्मेलन के बाद के वर्षों में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन के स्तर को कम करने के प्रयासों की विफलता के कारण क्योतो शिखर सम्मेलन का महत्व और बढ़ गया।

परंतु दो दिन की क्योतो की बैठक में विकसित देशों और विकासशील देशों के बीच मतभेद और गंभीर हो गए। इस बैठक में यूरोपीय संघ ग्रीन हाउस गैसों (कार्बन डाइ ऑक्साइड, नाइट्रस ऑक्साइड, मीथे, एच.एफ.सी.एस, पी.एफ.सी, और सल्फर हैक्ज़ा फ्लुओराइड) के उत्सर्जन स्तर को 15 प्रतिशत कम करने पर और जापान 2.5 से 5 प्रतिशत तक कम करने को तैयार हो गया। थोड़ी–सी झिझक के बाद अमेरिका भी इस शर्त पर 5 प्रतिशत उत्सर्जन स्तर को घटाने के लिए तैयार हो गया यदि विकासशील देश भी इन मानकों को स्वीकार करने को तैयार हों। विकासशील देश चाहते थे कि प्रदूषणकर्ता यानी विकसित देश इस खर्चे को उठाएँ। लंबी बहस और सौदेबाजी के बाद 11 दिसंबर 1997 को क्योतो नयाचार (प्रोटोकॉल) को स्वीकार किया गया। इस प्रोटोकॉल की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :

'परिशिष्ट–1' के देशों को अपनी गैसों के उत्सर्जन के स्तर को 1990 की तुलना में औसतन 5.2 प्रतिशत घटाना होगा (परिशिष्ट 1 के देशों में शामिल हैं – आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के 24 मूल सदस्य, यूरोपीय संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के 11 सदस्य)। मोटे तौर पर सन 2012 तक अमेरिका को उत्सर्जन स्तर में 7 प्रतिशत की कमी करनी है, 15 सदस्यीय यूरोपीय संघ को 8 प्रतिशत, कनाडा को 6 प्रतिशत और जापान को 6 प्रतिशत, रूस को अपना वर्तमान उत्सर्जन स्तर 1990 के स्तर पर बनाए रखना होगा। इस अवधि में ऑस्ट्रेलिया को अपने उत्सर्जन स्तर को 8 प्रतिशत तक बढ़ाने की अनुमति दी गई।

विकासशील देशों को निर्धारित लक्ष्य के अनुसार उत्सर्जन स्तर में कमी करने से छूट दी गई। परंतु उन्हें अपने उत्सर्जन स्तर को मापने को कहा गया। गैसों के उत्सर्जन में इस कटौती को सभी छह ग्रीन हाउस गैसों पर लागू किया गया। इसके लागू होने की अवधि 2008 से 2012 के बीच निर्धारित की गई। 1990 के अमेरिकी प्रस्ताव से स्रोतों की कटौती को शामिल करना और कार्बन अवशोषक सामग्री को हटाना केवल वनरोपण, पुनःवनरोपण और वन उन्मूलन तक सीमित था। उत्सर्जन के दायित्वों की पूर्ति के लिए व्यापार की स्वीकृति, परियोजनाओं के संयुक्त रूप से कार्यान्वयन और स्वच्छ विकास यांत्रिकी को हाथ में लिया गया। इन तीन पक्षों में गैर परिशिष्ट–1 के देशों या विकासशील देशों से स्वैच्छिक भागीदारी की आवश्यकता अनुभव की गई। प्रोटोकॉल में व्यवस्था थी कि उत्सर्जन ट्रेडिंग के साथ स्वच्छ विकास यांत्रिकी और संयुक्त कार्यान्वयन को जलवायु के परिवर्तन को कम करने के लिए, विकासशील देशों में उनके द्वारा

परियोजनाओं के संचालन के लिए पूँजी निवेश करने पर विकसित देशों को ऋण की सुविधा उपलब्ध होगी। परंतु एक बात स्पष्ट नहीं थी कि स्वच्छ विकास यांत्रिकी का संचालन विश्व बैंक द्वारा किया जाएगा या ग्लोबल एनवायरमेंट फेसिलिटी द्वारा। इस योजना का संचालन कितनी वचनबद्धता के साथ किया जाएगा और इसका ठीक से परिपालन न होने पर क्या दंडात्मक उपाय किए जाएँगे, इस विषय में किसी प्रक्रिया का उल्लेख तक नहीं है। इस विषय में ब्यूनस आइरस में 1998 में होने वाली अगली बैठक में विचार किया जाएगा।

इस नयाचार (प्रोटोकॉल) पर मार्च 1998 और मार्च 1999 के बीच विभिन्न पक्षों द्वारा हस्ताक्षर किए जा सकते थे।

16.5.6 जलवायु परिवर्तन संबंधी ब्यूनस आइरस सम्मेलन, 1998

जलवायु परिवर्तन के संयुक्त राष्ट्र फ्रेमवर्क कन्वेशन से संबद्ध पक्षों के सम्मेलन का चौथा अधिवेशन अर्जेंटीना के ब्यूनस आइरस में 2–14 नवंबर 1998 में हुआ था। इस सम्मेलन का आयोजन मुख्य रूप से क्योतो प्रोटोकॉल 1997 के कार्यान्वयन पर विचार करने के लिए किया गया था। क्योतो प्रोटोकॉल में औद्योगिक देशों द्वारा छह ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन स्तर को घटाने के लिए कुछ लक्ष्य निर्धारित किए गए थे। इनका उल्लेख प्रोटोकॉल के परिशिष्ट–1 में किया गया है।

विभिन्न पक्षों के सम्मेलन में राष्ट्रों ने ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन से संबंधित विभिन्न प्राचलों (पैरामीटरों) के बारे में अपनी स्थिति का विवरण दिया। सम्मेलन में प्रौद्योगिकियों के अंतरण (विशेष रूप से ऊर्जा से संबंधित क्षेत्र की प्रौद्योगिकी के अंतरण) के मामलों पर चर्चा की गई। साथ ही, इस सम्मेलन में तीन विवादास्पद 'लचीली यांत्रिकियों' अर्थात स्वच्छ विकास यांत्रिकी, अंतर्राष्ट्रीय उत्सर्जन ट्रेडिंग, और संयुक्त कार्यान्वयन के बारे में भी विचार हुआ। लेकिन ब्यूनस आइस सम्मेलन की कार्यवाही में भी भूमंडलीय तापन की राजनीति और अर्थव्यवस्था का विषय ही छाया रहा, जिसने क्योतो की बैठक में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

क्योतो में अमेरिका द्वारा उठाए गए मामले ब्यूनस आइरस के कार्यवृत्त में भी अहम बने रहे। क्योतो में अमेरिका ने 1992 के उत्सर्जन स्तर की तुलना में 2008–2012 के स्तर पर 7 प्रतिशत कटौती करने की बात स्वीकार कर ली थी। पर्यावरण पर गठित वर्ग ने अनुमान लगाया कि 2010 में अमेरिका में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन का स्तर वस्तुतः 1992 के स्तरों की तुलना में 20 प्रतिशत अधिक होगा। अमेरिका की सौदेबाजी का परिणाम यह हुआ कि समझौते से बाहर निकलने के बहुत अधिक रास्ते (लूपहोल) रह गए। अमेरिका जिस अंतर्राष्ट्रीय उत्सर्जन ट्रेडिंग शासन के लिए बहुत जोर–शोर से आवाज़ उठा रहा था, उसने कम प्रदूषण करने वाले देशों को अपना कोटा अधिक प्रदूषणकारी देशों को बेचने की अनुमति दे दी। स्वच्छ विकास यांत्रिकी (सी.डी.एम) में इस बात की व्यवस्था है कि सरकार और निजी क्षेत्र मिलकर उत्सर्जन में कमी करने का कार्य करें। संयुक्त कार्यान्वयन योजना के अंतर्गत उत्सर्जन न्यूनीकरण परियोजनाओं पर ऋण लेने की सुविधा है।

इस सम्मेलन में अमेरिका ने बाज़ार के प्रति सख्त मैत्रीपूर्ण रवैया अपनाया। इसमें जी–77 देशों और चीन के नेतृत्व वाले विकासशील देशों ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया कि प्रौद्योगिकी अंतरण को आसान बना दिया जाए ताकि समझौते के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।

चीन ने और बाद में भारत ने माँग की कि विकसित देशों के 'विलासपूर्ण कार्यों के लिए उत्सर्जन' और विकासशील देशों के जीवन धारण करने के लिए : आवश्यक उत्सर्जन' के बीच अंतर रखा जाए।

विकासशील देशों द्वारा स्वैच्छिक वचनबद्धता के प्रश्न को ब्यूनस आइरस में उठाया गया। यद्यपि अर्जेंटीना ने इसे कार्यवृत्त में रखा, लेकिन चीन के नेतृत्व में विकासशील देशों ने इसका तीव्र विरोध किया। अर्जेंटीना और कज़ाकिस्तान ने एकतरफा तौर पर इस वचनबद्धता को स्वीकार कर लिया जिससे विकासशील देशों के हितों के विभाजन का खतरा पैदा हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि क्योतो प्रोटोकॉल की पुष्टि नहीं हो सकी।

मानव जाति के 21वीं शताब्दी के कार्यवृत्त में पर्यावरण की सुरक्षा का मुद्दा प्राथमिक महत्व का है। पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति सबसे महत्वपूर्ण और सकारात्मक विकास की बात मानव की अपने प्रमुख उद्देश्य के प्रति बढ़ती हुई जागरूकता है।

इस बात की सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता कि विश्व के लगभग सभी देश (चाहे वे विकसित देश हों या विकासशील देश), पर्यावरण की सुरक्षा की गंभीर समस्या को समझते हैं। यद्यपि जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पर्यावरण को – सबसे बड़ा खतरा औद्योगिक जगत से है। आवश्यकता इस बात की है कि विश्व के सभी भागों के देश सामूहिक रूप से और पूरे जोर के साथ इसके समाधान का प्रयास करें। इक्कीसवीं शताब्दी के मानव के लिए पर्यावरण की सुरक्षा एक प्राथमिक मुद्दा है। यह इस बात से भी स्पष्ट होता है क्योंकि आज तक इस विषय पर कई सम्मेलन हो चुके हैं और विश्व के विकसित देशों और विकासशील देशों के बीच कई उपसंधियों पर हस्ताक्षर हो चुके हैं। हम स्पष्ट रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पर्यावरण की सुरक्षा से संबंधित सबसे महत्वपूर्ण और सकारात्मक बात यह है कि मानव अपने प्रमुख उद्देश्य के प्रति अत्यधिक जागरूक हो गया है।

16.6 सारांश

मानव जाति को अपने जीवित रहने के लिए कई समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इनमें से एक समस्या पर्यावरण सुरक्षा की है। इसके अलावा कई नृजातीय और धार्मिक आंदोलन तथा झगड़े चिंता का विषय रहे हैं। उदाहरण के तौर पर इनमें से कुछ झगड़े हैं – श्रीलंका में तमिल अल्पसंख्यकों की समस्याएँ, इसकी एक दशक पुरानी माँग, आंदोलन और आतंकवादी गतिविधियाँ। इन सबका भारतीय शासन और भारत की विदेश नीति पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अब संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के माध्यम से मानव अधिकारों की सार्वभौमिक स्तर पर रक्षा की जाती है। संयुक्त राष्ट्र आम सभा ने दिसंबर 1948 में मानव अधिकारों पर सार्वभौम घोषणा को स्वीकार किया। यह घोषणा सामाजिक–आर्थिक एवं नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए आधारभूत मार्गदर्शक प्रपत्र बन गया। इसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघ ने दो ऐसे समझौतों को स्वीकार किया जिनमें नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के साथ–साथ सामाजिक–आर्थिक अधिकारों के लिए बाध्यकारी ढाँचा प्रदान किया। इनके अलावा, प्लस दो वैकल्पिक प्रोटोकोलों में अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रपत्र है। जिन देशों ने इस समझौते की पुष्टि की है उन्हें मानव अधिकारों के प्रति सम्मान को सुनिश्चित करने वाले प्रावधानों को मानना पड़ता है।

संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था, बहुत–सी अंतःसरकारी एजेंसियाँ, सदस्य देशों की सरकारें इसके साथ ही बहुत से गैर–सरकारी संगठन भी मानव अधिकारों की सुरक्षा में संलग्न हैं। कई अन्य देशों की तरह भारत में भी मानव अधिकारों के उल्लंघन को रोकने तथा उसके लिए सजा दिलाने के लिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग है।

संयुक्त राष्ट्र संघ और इसकी एजेंसियों के लिए पर्यावरण की सुरक्षा एक मुख्य चिंता का विषय बन गया है। भू–शिखर सम्मेलनों में, जिनमें भारत ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था, प्रदूषण की मात्रा को यथासंभव कम करने की दिशा में कार्य कर रहे है ताकि यह धरती सभी प्राणियों के रहने के लिए पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षित स्थान बन जाए।

16.7 अभ्यास

1. नृजातीय और धार्मिक आंदोलनों की भूमिका के बारे में चर्चा कीजिए। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि धार्मिक और नृजातीय विवादों को राष्ट्रीयता की गतिशीलता से पृथक नहीं किया जा सकता?
2. चर्चा कीजिए कि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ और गैर–सरकारी संगठन मानव अधिकारों की सुरक्षा के प्रति पूर्ण रूप से सजग हैं।
3. हमारे जीवित रहने के लिए पर्यावरण सुरक्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण है। क्या आप इससे सहमत हैं? इस विषय पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार व्यक्त कीजिए।

इकाई–17

राजनीतिक और राजनयिक मामले

(संयुक्त राष्ट्र, गैर–आर्थिक क्षेत्रीय संगठन, गुटनिरपेक्ष आंदोलन और भूमंडलीकरण)

इकाई की रूपरेखा

17.1 प्रस्तावना

17.2 संयुक्त राष्ट्र संघ

17.2.1 युद्ध और शांति

17.2.2 जातिवाद, उपनिवेशवाद और मानव अधिकार

17.2.3 विकास

17.3 क्षेत्रीय संगठन

17.4 गुटनिरपेक्ष आंदोलन

17.5 भूमंडलीकरण

17.6 सारांश

17.7 अभ्यास

17.1 प्रस्तावना

आज हम विश्व से संबंधित जिन मामलों के साक्षी हैं वे निस्संदेह अत्यधिक जटिल हैं। आज मानवजाति और आधारभूत क्षेत्रीय इकाइयाँ (जिन्हें हम राज्य कह सकते हैं) विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना कर रही है। इन समस्याओं में शामिल हैं– शांति, मानव अधिकार, विकास, पर्यावरण की सुरक्षा, व्यापार आदि। छोटे या बड़े राज्य इन समस्याओं को व्यक्तिगत स्तर पर, दूसरे राज्यों के सहयोग के बिना, बातचीत द्वारा, अपने मतभेदों को कम करके और समझौते के क्षेत्रों का विस्तार करके करने में असमर्थ है। चूंकि ये समस्याएँ और इनसे जुड़े पक्षों की संख्या बहुत अधिक है इसलिए एक देश का दूसरे देश से संपर्क कभी–कभी इनके समाधान में पर्याप्त सहायक नहीं होता। किन्हीं तात्कालिक महत्व के और बहुत पुराने मामलों के समाधान के लिए कुछ मंच (फोरम) उपलब्ध हैं। जो सरकारों को वार्ताओं और आपसी समझौते की बातचीत के लिए नियमित रूप से प्रेरित करते हैं। यह आज के विश्व के मामलों में एक परस्पर लाभकारी तरीका बन चुका है। भारत को स्वयं के अपने मामलों और अंतर्राष्ट्रीय समुदायों से संबंधित मामलों को संयुक्त राष्ट्र, गुटनिरपेक्ष आंदोलन के अतिरिक्त सार्क और आसियान जैसे क्षेत्रीय स्तर के संगठनों के माध्यम से सुलझाने का लंबा और व्यापक अनुभव रहा है।

17.2 संयुक्त राष्ट्र संघ

भारत की दृष्टि में, संयुक्त राष्ट्र संघ शांति और समृद्धि युक्त विश्व व्यवस्था का आधार है। संयुक्त राष्ट्र लोकतंत्र, समानता और न्याय जैसे सार्वभौम नैतिक मूल्यों का प्रतिनिधि है। इन्हीं सार्वभौमिक मूल्यों ने युगों से भारत के इतिहास का मार्गदर्शन किया है। भारत की विदेश नीति का यह एक आधारभूत सिद्धांत रहा है कि वह संयुक्त राष्ट्र और अन्य अंतर्राष्ट्रीय निकायों से सक्रिय रूप से सहयोग करता है। भारत इन संस्थाओं को नए स्वाधीन हुए देशों का संरक्षक मानता है। भारत विश्व में शांति और व्यवस्था बनाए रखने में, आर्थिक प्रगति को पाने में, मानव अधिकारों के संरक्षण आदि में संयुक्त राष्ट्र के क्रियाकलापों में सक्रिय रूप से भाग लेता रहा है। आइए, अब हम इनमें से कुछ मामलों पर विचार करें और इनमें भारत की भूमिका पर नज़र डालें।

17.2.1 युद्ध और शांति

स्वतंत्र भारत ने अपनी सुरक्षा को पूरे विश्व की सुरक्षा के हिस्से के रूप में देखा है। सन 1945 में संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के एकदम आरंभ से ही विश्व की सुरक्षा और स्थिरता को विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा है। उन दिनों में भारत की चिंता का प्रमुख कारण पूर्व और पश्चिम के बीच शीत युद्ध की स्थिति थी जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ एक–दूसरे के विरोधी थे। ये दोनों देश निरंतर परिष्कृत परमाणु और पारंपरिक हथियारों को प्राप्त करने में संलग्न थे। इस प्रकार इन दो बड़ी शक्तियों को विश्व–स्तर की महाशक्तियों का दर्जा प्राप्त था। ये अपने युद्ध (छद्म युद्ध) यूरोप में नहीं लड़ते थे अपितु ये अफ्रीकी और एशियाई देशों के बीच तनाव और विवाद पैदा करने का प्रयास करते थे। इनमें से विभाजित कोरिया शीत–युद्ध का पहला युद्ध क्षेत्र बना। इसके अतिरिक्त, निकटवर्ती पड़ोसी देश विवादित सीमाओं या दूसरी समस्याओं को लेकर शीत युद्ध के गुटों के सैनिक या राजनीतिक

समर्थन से युद्ध लड़ते थे। इस वर्ग में – पश्चिम एशिया में इज़राइल और अरब देशों के बीच युद्ध, ईरान–इराक युद्ध, अफ्रीका में इथियोपिया और सोमालिया के बीच युद्ध आते हैं। इसके अलावा, अमेरिका और रूस ने कुछ देशों में सैनिक दृष्टि से हस्तक्षेप किया। इसके कुछ उदाहरण हैं डोमिनिकन रिपब्लिक, ग्रेनाडा पर अमेरिकी तथा चेकोस्लोवाकिया और अफगानिस्तान पर रूसी हस्तक्षेप। कंबोडिया, निकारागुआ और भारत–पाकिस्तान उपमहाद्वीप के संघर्ष स्पष्ट रूप से शीत युद्ध के विस्तार के उदहारण हैं। शीत–युद्ध के दौरान कुल मिलाकर 250 छोटे–बड़े युद्ध लड़े गए।

यद्यपि 1990 के दशक के आरंभिक दिनों में शीत–युद्ध के बादल छितरा गए थे लेकिन विश्व में शांति व्यवस्था और स्थिरता को नए और पुराने, दोनों प्रकार का खतरा बना रहा। इराक पर हुए दो युद्धों के बावजूद शांति को विदेशी आक्रमण के प्रमुख खतरे से पर्याप्त कमी आ गई है। इसके बजाय, एक के बाद दूसरे अफ्रीकी, एशियाई और लातिन अमेरिकी राज्यों में गृह कलह ने वहाँ की राजनीतिक व्यवस्थाओं, उनकी अर्थव्यवस्थाओं और यहाँ तक कि वहाँ के निर्दोष पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को बरबाद कर दिया है।

युगोस्लाविया, हैती, सोमालिया, रवांडा, अंगोला, अफगानिस्तान, सिएरा लियोन और अन्य कई देशों के समाज इस क्षोभकारी प्रवृत्ति के शिकार हो चुके हैं। पिछले 12–13 वर्षों में ऐसे युद्धों में लगभग 60 लाख लोग अपने जीवन से हाथ धो चुके हैं। भारत ने किसी भी राज्य के क्षेत्र पर जबरदस्ती अधिकार करने या किसी देश द्वारा दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप करने को संयुक्त राष्ट्र में अनुचित ठहरायो। भारत इसे राज्यों की प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखंडता के सिद्धांतों का उल्लंघन मानता है। भारत ने समस्याओं के समाधान के लिए बातचीत और शांतिपूर्ण उपायों का समर्थन किया। भारत ने मिस्र, हंगरी, कांगो, लेबनान के प्रभुसत्तात्मक अधिकारों का ज़ोरदार समर्थन किया और उन देशों के बीच युद्ध को बिना शर्त समाप्त करने का आग्रह किया, चाहे वह युद्ध किसी भी देश ने शुरू किया हो और चाहे उसका कुछ भी कारण रहा हो। शांति के प्रयास में भारत का दृष्टिकोण बहुत लचीला रहा है। हमने संयम का मार्ग अपनाया। इससे जिन सदस्य राष्ट्रों से नियमों का उल्लंघन हुआ हो उन्हें भी सामान्य वातावरण बनाने के लिए सम्मानपूर्ण ढंग से अपनी समस्याओं से निपटने का अवसर मिल सके। यह तरीका 1956 में मिस्र पर इंग्लैंड, फ्रांस और इज़राइल के आक्रमण के संदर्भ में सफल और प्रभावी रहा। इसी तरह, 1967 के इज़राइल के अरब पड़ोसियों के साथ युद्ध के बाद, भारत ने सुरक्षा परिषद के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर कब्जे वाले क्षेत्रों से वापसी के बाद इज़रायल और उसके अरब पड़ोसियों को अपनी सुरक्षित सीमाओं के भीतर सह–अस्तित्व के साथ रहने के लिए एक खाका प्रस्तुत किया।

शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद स्थितियों की आवश्यकतानुसार सिद्धांतों और व्यावहारिकता का उपयोग जरूरी हो गया। 1990 में जब इराक ने कुवैत पर हमला किया और वहाँ से अपनी सेनाओं को लौटाने से इनकार कर दिया तब भारत ने कुवैत को स्वतंत्र कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के अनुमोदन से अमेरिकी नेतृत्व में सैनिक कार्रवाई का समर्थन किया। यद्यपि बहुत से देश संयुक्त राष्ट्र में संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति के प्रति भारत के रूख में नरमी का अनुभव कर सकते हैं लेकिन 2003 में भारत ने अमेरिका की इराक में सद्दाम हुसैन को सत्ता से हटाने के लिए की गई सैनिक कार्रवाई का विरोध किया। अमेरिका की यह इकतरफा कार्रवाई संयुक्त राष्ट्र चार्टर का उल्लंघन थी। भारत उन अनेक देशों में से एक है जो अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों के कमजोर होने से चिंतित है जिसमें एक देश की दूसरों पर अपनी इकतरफा प्राथमिकताओं को थोपने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस प्रवृत्ति से सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र के संबंधित विभागों को समुचित रूप से मज़बूत बनाने की आवश्यकता है। संयुक्त राष्ट्र का सुरक्षा परिषद से अधिक महत्वपूर्ण कोई दूसरा अंग नहीं है जिसके विन्यास में विद्यमान मूलभूत कमज़ोरियों और इसकी शक्तियों को सही परिप्रेक्ष्य में प्रतिष्ठापित करने के लिए उसमें सुधार की आवश्यकता है। भारत 1992 से इस बात का आग्रह करता रहा है कि बदली हुई परिस्थितियों में सुरक्षा परिषद के लोकतंत्रीकरण करने की आवश्यकता है। यहाँ एक विशेष बात पर ध्यान देना आवश्यक है। विश्व शांति और सुरक्षा के लिए भारत के योगदान के आधार पर, इसे विश्व के सबसे बड़े प्रकार्यात्मक लोकतंत्र के रूप में, इसके आर्थिक निष्पादन और भावी संभावनाओं के कारण जो सराहना मिली है उसकी वजह से भारत में बहुत से लोग इस बात के प्रति आश्वस्त हैं कि भारत कुछ अन्य विकासशील देशों के साथ सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता का हकदार है। इस क्षेत्र से केवल चीन ही इस समय स्थायी सदस्य है। इस दृष्टि से एशिया का प्रतिनिधित्व बहुत ही कम है जबकि अफ्रीका और लैटिन अमेरिका का कोई भी प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद के भीतरी महत्वपूर्ण चक्र में नहीं है। यद्यपि इस विषय में अभी सर्वसम्मति नहीं बनी है फिर भी भारत निकट भविष्य में अनुकूल परिणाम की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कर रहा है। भारत का विश्वास है कि केवल शांति के बारे में सतर्कता बरतने की सलाह मात्र से ही शांति को बढ़ावा नहीं मिल सकता, बल्कि उसके लिए वास्तविक प्रयास करने की आवश्यकता है। संयुक्त राष्ट्र की छत्रछाया में शांति को बढ़ावा देने वाले कार्य ही इसके सशक्त प्रतीक हो सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र के सैनिक वर्दीधारी और विभिन्न व्यवस्थाओं में संलग्न शांति स्थापना करने वाले लोगों ने युद्धरत राष्ट्रों के क्रोध को ठंडा करने में उनकी सेनाओं की बिना पक्षपात के सहायता करके, उन्हें युद्ध न करने के वायदों का सम्मान करने के लिए प्रेरित करके तथा युद्ध न करने के पूर्व–हस्ताक्षरित समझौतों को कार्यान्वित करके शांति स्थापना में मदद की। संयुक्त राष्ट्र अब तक एशिया, मध्य अमेरिका, अफ्रीका और यूरोप में लगभग 55 शांति स्थापना कार्यों का संचालन कर चुका है। इनमें भारत का स्थान 10–15 प्रथम

देशों में है। इन देशों ने युद्ध में भाग लेने के बजाय युद्धों को रोक कर शांति स्थापित करने के लिए अपने सैनिकों और नागरिकों की सेवाएँ उपलब्ध कराईं। एक राष्ट्र के रूप में हम स्वेज़ कांगो, कंबोडिया, मोज़ाम्बिक, हैती, रवांडा, सोमालिया, बोस्निया–हर्जेगोविना आदि ऐसे 35 शांति स्थापना कार्यों में अपने योगदान से संतुष्ट हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने 2003 में अपने अधिकार वाले इराक में व्यवस्था स्थापित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के ढाँचे के अंतर्गत भारत से सैनिक सहयोग की माँग की थी। किंतु, भारत ने संयुक्त राष्ट्र के स्पष्ट आदेश के बिना सैनिक सहयोग करने से इनकार कर दिया।

17.2.2 जातिवाद, उपनिवेशवाद और मानव अधिकार

इस भाग में वर्गीकृत विषय भारत के बहुत प्रिय विषय हैं। इनमें सबसे प्रमुख जातिवाद है। इस विवाद का केंद्र–बिंदु दक्षिण अफ्रीका की जातिभेद की सरकारी नीति है। आम सभा के सबसे पहले सत्र में भारत ने इस मामले को उठाया और विश्व समुदाय से आग्रह किया कि वह दक्षिण अफ्रीका सरकार पर रंगभेद और जातिभेद की नीति को छोड़ने की माँग करे। दक्षिण अफ्रीका की अल्पसंख्यक गोरी सरकार पर दबाव डालने के लिए भारत ने विश्व राजनीति में जातिवाद–विरोधी संयुक्त गठबंधन तैयार किया जिसने खेलों में भाग लेने, अंतर्राष्ट्रीय मंचों में हिस्सा लेने और सैनिक उपस्करों की बिक्री पर प्रतिबंध लगाने जैसे कार्यक्रमों को संचालित करने में संकोच नहीं किया। इस संदर्भ में यह बहुत संतोष की बात है कि 1993 में दक्षिण अफ्रीका ने स्वयं को जातिभेद और रंगभेद से मुक्त शासन घोषित कर दिया। इसके बाद स्वतंत्र चुनावों में चुनी गई लोकतंत्रीय सरकार का नेतृत्व महात्मा गांधी के आध्यात्मिक वारिस नेल्सन मंडेला ने संभाला।

भारत को इस बात का श्रेय है कि उसने पराधीन देशों की आजादी के लिए प्रयास किया यानी विश्व के विभिन्न भागों में औपनिवेशिक शासन के अधीन देशों को मुक्त कराया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत सबसे पहले आजादी पाने वाले देशों में से एक था। इसलिए यह भारत के लिए स्वाभाविक था कि वह विश्व में अन्यत्र उपनिवेशवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष करे। 1940 के दशक के अंत में सर्वप्रथम भारत ने डच उपनिवेशवाद के अधीन इंडोनेशिया की आजादी की बात को उठाया। एशिया और अफ्रीका के कई भागों के स्वतंत्रता सेनानियों ने, जिनमें हिंद–चीन, अल्जीरिया, अंगोला, नामीबिया, रोडेशिया और ट्यूनीशिया के स्वतंत्रता सेनानी शामिल थे, भारत से राजनयिक और राजनीतिक समर्थन और मार्गदर्शन की अपेक्षा की। 1960 के दशक के दौरान उपनिवेशों को हटाने के लिए की गई घोषणा को शीघ्र कार्यान्वित करने के लिए गठित संयुक्त राष्ट्र की उपनिवेशवाद विरोधी समिति का भारत ने नेतृत्व किया। आँकड़े इस अभियान के स्पष्ट गवाह हैं। जब संयुक्त राष्ट्र की स्थापना हुई थी उस समय विश्व में विभिन्न उपनिवेशों में 75 करोड़ लोग पराधीन थे। और अब ऐसे केवल 50 लाख लोग हैं जिन्हे औपनिवेशिक शासन से मुक्त कराया जाना है। अधिकांश मुक्त हुए क्षेत्र संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बन गए हैं। इससे संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की संख्या 51 से बढ़कर अब 191 हो गई है।

एक लोकतंत्रीय देश होने के कारण स्वभावतः भारत की मानव अधिकारों के प्रति दृढ़ निष्ठा है। मानव अधिकारों के अंतर्गत नागरिक अधिकार, यानी जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार तथा यातना और गैर कानूनी ढंग से कारावास में रखने से मुक्ति का अधिकार आदि अधिकार शामिल हैं। भारत के साथ तीसरे विश्व के सभी देशों तथा पूर्व–समाजवादी देशों ने अनुभव किया कि नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के साथ आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को भी प्राप्त करने की आवश्यकता है। क्योंकि इन्हें एक–दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इनका अस्तित्व साथ–साथ है। इनमें कोई भी दूसरे का स्थान नहीं ले सकता। राजनीतिक अधिकारों में आत्म–निर्णय का अधिकार सबसे विवादग्रस्त विषयों में से एक है। क्या ये अधिकार विदेशी, औपनिवेशिक शासन के संदर्भ में हैं यानी ये देशी, औपनिवेशिक कब्जे पर ही लागू होते हैं या इससे नृजातीय) और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों को किसी देश से अलग होने का अधिकार मिल जाता है। यह प्रश्न बहुत ही विवादास्पद है। एक दूसरा मुद्दा यह है कि क्या जो लोग देश से अलग होने के लिए हिंसा का सहारा लेते हैं उन्हें इन अधिकारों के अंतर्गत सुरक्षा मिल सकती है या उन्हें स्वतंत्रता सेनानी कहा जा सकता है या उन्हें किसी और धरातल पर आतंकवादी कहा जाएगा? क्या ऐसे राज्य बाहरी विश्व की दृष्टि में मानव अधिकारों का उल्लंघन कर रहे हैं? क्या ऐसे मामलों में विदेशी ताकतें इसे मानव अधिकार का उल्लंघन मानकर सैनिक हस्तक्षेप कर सकती हैं? भारत ने देशों की अखंडता और संप्रभुता के प्राधिकार के पक्ष में कड़ा रुख अपनाया है।

17.2.3 विकास

मानव अधिकार के बारे में चर्चा में आर्थिक और सामाजिक विकास भी एक मुख्य मुद्दा है। इस महत्वपूर्ण विषय में भी भारत और संयुक्त राष्ट्र सहभागी हैं। भारत की आधारभूत स्थिति दोहरी है। एक तो शांति के लिए आर्थिक विकास आवश्यक पूर्वापेक्षा है। विश्व शांति तभी स्थायी हो सकती है जब समाज में संघर्ष का कारण बनने वाली गरीबी, भूख, शोषण आदि अवस्थाओं का शमन कर दिया जाए। दूसरे, जिन औपनिवेशिक देशों ने हाल ही में राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की है उनकी यह स्वतंत्रता आर्थिक और सामाजिक विकास के बिना अधूरी रहेगी। दूसरे शब्दों में, विश्व व्यवस्था में

विकास के तत्व का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत ने अपनी पर्याप्त शक्ति संयुक्त राष्ट्र की बीसियों संस्थाओं को स्थापित करने में लगा दी। ये संस्थाएँ आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों की सहायता करती हैं। ये संस्थाएँ हैं – क्षेत्रीय आर्थिक आयोग, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम और संयुक्त राष्ट्र का व्यापार और विकास समागम। 1960 और 1970 के दशक में भारत पश्चिम के निर्यात बाज़ार में कृषि उत्पादों की अस्थिर कीमतों और व्यापार की शर्तो के गरीब देशों के प्रतिकूल होने और अमीर तथा औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों के अनुकूल होने के बारे में शिकायतें करने और माँग करने में अग्रणी था। तृतीय विश्व (जिसे जी–77 समूह के नाम से भी जाना जाता है) की राजनयिक सम्मेलनों और संधिवार्ताओं में एक विशिष्ट (यद्यपि भिन्न) समूह के रूप में पहचान की गई थी। इस समूह का एक काल्पनिक विषय जो 1970 के दशक में संयुक्त राष्ट्र के मंचों में गूंजा करता था, वह था लोकतंत्र, निष्पक्षता और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित नई आर्थिक विश्व व्यवस्था की स्थापना।

आइए, यहाँ हम इस बात पर भी ध्यान दें कि भारत तथा दूसरे विकासशील देशों ने विकास के प्रति संपूर्णतापरक दृष्टिकोण को क्यों बढ़ावा दिया? इस दृष्टिकोण के अनुसार पर्यावरण, जनसंख्या नियंत्रण, खाद्य, मानव अधिकार और स्त्रियों को उनके अधिकार देना आदि प्रमुख समस्याएँ विकास के साथ निकट से संबद्ध हैं। उदाहरण के तौर पर, जब हम दीर्घकालीन विकास की बात करते हैं तो उसका मतलब यह है कि पर्यावरण के संरक्षण के महत्व पर इस रूप में ध्यान दिया जाए कि आज की पीढ़ी के जैव संसाधनों का प्रयोग इस प्रकार किया जाए कि वह मानव की आगामी पीढ़ी को उनके विशेषाधिकारों से वंचित न होने दे। भूमंडलीय शिखर सम्मेलन ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया और उसी सम्मेलन में भारत ने इस भूग्रह की सुरक्षा के लिए एक निधि स्थापित करने का प्रस्ताव किया।

वैसे यहाँ, भारत और दूसरे विकासशील देशों के प्रयासों को जो धक्के लगे उसकी भी हमें उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। विकसित उत्तर और विकासशील दक्षिण के देशों के बीच प्रत्याशित वार्ता आरंभ ही नहीं हो सकी। सरकार से सरकार के बीच विकास सहायता के स्तर उत्तरोत्तर घटते गए। यही बात संयुक्त राष्ट्र की अन्य एजेंसियों की विकासपरक गतिविधियों के लिए संसाधनों की उपलब्धता के संबंध में भी कही जा सकती है। दूसरी ओर, विकासशील देशों के ऋणों में तेज़ी से हुई वृद्धि (जो इस समय 2,500 बिलियन अमेरिकी डॉलर है) भी चिंता का कारण थी। भारत सहित लगभग 80 विकासशील देशों को अपनी अल्पकालीन आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से ऋण लेना पड़ा। इसके लिए उन्हें कमर तोड़ने वाली कठोर शर्तों को स्वीकार करना पड़ा।

आप इस तथ्य की सराहना करेंगे कि संयुक्त राष्ट्र की विकासपरक गतिविधियों में दो महत्वपूर्ण बातें हैं। भारत को बहुपक्षीय विकास सहायता का प्रमुख लाभ प्राप्त हुआ है। जिसमें से कुछ सहायता जैसी एजेंसियों के माध्यम से प्राप्त हुई। इसके साथ ही तकनीकी जनशक्ति के रूप में तथा तृतीय विश्व के नेता के रूप में भारत ने यूनिडो, यूनेस्को और संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम जैसी संस्थाओं के माध्यम से साथी विकासशील देशों की प्रगति के लिए प्रायः महत्वपूर्ण योगदान किया है।

17.3 क्षेत्रीय संगठन

क्षेत्रीयवाद के साथ–साथ विश्ववाद आज के विश्व की उल्लेखनीय विशेषता है। यूरोप, अफ्रीका, एशिया, लैटिन अमेरिका और उत्तरी अमेरिका जैसे विश्व के बहुत से भागों में कुछ क्षेत्रीय एवं उपक्षेत्रीय संगठन गलती से यह समझकर उभर आए हैं कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक कारगर मंच हैं। हाल ही के वर्षों में उनकी संख्या में अचानक काफी वृद्धि हुई है। इनमें जबकि राष्ट्रमंडल (कॉमनवेल्थ) और अमेरिकी राज्यों का संगठन सबसे पुराने हैं लेकिन अफ्रीकी एकता संगठन (जिसे अब अफ्रीकी संघ कहा जाता है), इस्लामिक देशों का संगठन, दक्षिण–पूर्वी एशियाई राष्ट्रों का संघ और क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई संघ जैसे कई नए संगठन हाल ही में प्रकाश में आए हैं।

इन क्षेत्रीय संगठनों के प्रति भारत का रुख समझने और सावधानी बरतने का है। भारत ने कभी भी इन्हें प्रतिद्वंद्वी नहीं माना बल्कि संयुक्त राष्ट्र संघ के पूरक के रूप में देखा है। इस दृष्टिकोण पर विशेष रूप से शीत युद्ध के दौरान और उसके बाद स्थापित नाटो जैसे संगठनों एवं उनकी गतिविधियों के संदर्भ में विचार किया जाना चाहिए। 1999 में कोसोवो में नाटो की गतिविधियों ने इस आशंका को और अधिक बढ़ा दिया। इसके अतिरिक्त, भारत ने कभी भी यह नहीं चाहा कि ये क्षेत्रीय संगठन किसी सदस्य देश और गैर–सदस्य देश के बीच विवाद में कोई पक्ष लें। उदाहरणार्थ, इस्लामिक देशों के संगठन ने प्रायः भारत के प्रति राजनयिक शिष्टाचार की सीमाओं का अतिक्रमण करके कश्मीर के मुद्दे पर पाकिस्तान के पक्ष का समर्थन किया।

भारत का अधिकांश क्षेत्रीय संगठनों के साथ अच्छा अनुभव है। राष्ट्रमंडल इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। स्वाधीनता प्राप्ति के एकदम बाद जवाहरलाल नेहरू ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रमंडल का नाममात्र अध्यक्ष बनाने पर सहमत हो गए थे लेकिन उन्होंने एक सदस्य के रूप में राज्य के चुने हुए प्रधान के बारे में किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। वर्षों से हमने दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया में काले लोगों की बहुसंख्यक जनसंख्या के अधिकारों के समर्थन में, और फीजी, नाइजीरिया तथा पाकिस्तान जैसे सदस्य देशों में लोकतंत्रीय सरकार के स्थान पर सैनिक सत्ता परिवर्तन को अस्वीकार

करने के साथ–साथ शैक्षिक और सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ावा देकर सहयोग करने में राष्ट्रमंडल को सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करने में अपनी सक्रिय भूमिका अदा की है। इसी तरह, भारत के दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के संघ (आसियान) से बहुत अच्छे संबंध हैं। वैसे, भारत अभी इस संघ का पूर्ण सदस्य नहीं है। हमारे आसियान देशों के साथ राजनीतिक और वाणिज्यिक संबंधों में सुधार हुआ है, खासकर जब से भारत ने पूर्व की ओर देखो' की नीति अपनाई है। भारत आसियान क्षेत्रीय फोरम का पूर्णकर्ता सहभागी है और सदस्य है। यह फोरम क्षेत्रीय सुरक्षा की दिशा में समझ और सहयोग बढ़ाने का माध्यम है। भारत ने अफ्रीकी एकता संगठन और अमेरिकी राज्यों के संगठन जैसे क्षेत्रीय संगठनों की नीतियों और क्रियाकलापों का भी समर्थन किया है, ताकि उन क्षेत्रों की राजनीतिक प्रभुसत्ता और आर्थिक संवृद्धि मज़बूत हो सके। लेकिन भारत को इस बात का दुख है कि इन संगठनों में एकता का अभाव है, जिस कारण ये संगठन कमज़ोर बने हुए हैं।

आइए, अब हम भारत के पड़ोस में क्षेत्रवाद के प्रभाव पर ध्यान दें। दक्षिण एशिया में, 1985 में भारत के समर्थन के बिना "दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ' (सार्क) क निर्माण संभव न होता। भारत ने बांग्लादेश की पहल का स्वागत किया। भारत के अलावा भूटान, बांग्लादेश, मालदीव, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका संगठन सदस्य हैं। इन सब देशों के एक–दूसरे देशों के साथ संबंधों की अपेक्षा भारत के साथ राजनीतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक और नृजातीय संबंध अधिक गहरे हैं। इनकी अपनी कुछ समस्याएँ भी हैं। इनमें सबसे अधिक गंभीर समस्या भारत और पाकिस्तान के बीच तनावों की है। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि इन नए क्षेत्रीय फोरमों का गलत इस्तेमाल अपने राजनीतिक, प्रचारात्मक प्रयोजनों के लिए न किया जाए। तदनुसार, इसके सभी सदस्य देश इस बात पर सहमत थे कि इस फोरम को राज्यों/सरकारों के अध्यक्षों के बीच और अधिक आपसी समझ और संपर्क बढ़ाने के लिए इस्तेमाल किया जाए। इस फोरम में नीति संबंधी अन्य मामलों को और विवादास्पद द्विपक्षीय मुद्दों को अलग रखा जाएगा।

परंतु दुर्भाग्य से, सार्क को भी भारत और पाकिस्तान के तनाव के कारण बहुत हानि हुई है। पाकिस्तान ने प्रायः सार्क का उपयोग भारत को परेशान करने के लिए किया है। भारत ने पाकिस्तान के मंतव्य को पूरा न होने देने के उद्देश्य से सार्क की आवधिक बैठकों को भी आयोजित नहीं होने दिया। उदाहरण के तौर पर, पिछला शिखर सम्मेलन जो 2002 में काठमाण्डू में आयोजित हुआ था, वह तीन साल बाद हुआ था। आगामी 2003 में पाकिस्तान में होने वाले शिखर सम्मेलन के मार्ग में भी द्विपक्षीय मुद्दों के कारण समस्याएँ थीं जिन्हें प्रधानमंत्री वाजपेयी ने अपनी सूझबूझ से हल कर दिया। इसी प्रकार, दक्षिण एशियाई प्राथमिक व्यापार समझौता (साप्टा) या सार्क के आतंकवाद विरोधी समागम के कार्यान्वयन में भी रुकावटें खड़ी की जा रही हैं। इस कारण सार्क की गति बहुत धीमी हो गई है।

17.4 गुटनिरपेक्ष आंदोलन

गुटनिरपेक्ष आंदोलन सबसे बड़ा शांति आंदोलन है। इसका भारत के लिए विशेष महत्व है क्योंकि भारत अपनी आज़ादी के आरंभिक दिनों से ही गुटनिरपेक्ष नीति का अग्रणी रहा है। इस नीति का प्रयोजन यह था कि हम किन्हीं अंतर्राष्ट्रीय मामलों में, शीतयुद्ध की प्रतिद्वंद्विता के संदर्भ में बनी सैनिक संधियों की सदस्यता में बंधे बिना, स्वतंत्र रूप से अपनी इच्छानुसार मत व्यक्त कर सकें। कई नव–स्वतंत्र हुए देशों ने भारत के नेतृत्व से प्रेरणा ग्रहण की और 1950 के दशक में और उसके बाद गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुसरण किया। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू, युगोस्लाविया के मार्शल टीटो और मिस्र के जमाल अब्दुल नासिर ने मिलकर 1961 में गुटनिरपेक्ष देशों के आंदोलन (नैम) की औपचारिक रूप से नींव डाली। गुटनिरपेक्ष देशों के अब तक 13 शिखर सम्मेलन (जिनमें 1983 में नई दिल्ली में आयोजित सातवाँ सम्मेलन शामिल है) आयोजित किए जा चुके हैं। अंतिम शिखर सम्मेलन 2003 में मलेशिया के क्वालालमपुर में आयोजित हुआ था। इन वर्षों के दौरान, गुटनिरपेक्ष आंदोलन की मुख्य बातों में एक तो लगभग संपूर्ण विश्व के देशों द्वारा इसकी सदस्यता ग्रहण करना और अपने कार्य के केंद्र–बिंदु को उपनिवेशवाद विरोध और जातिवाद विरोध से हटाकर विकास और भूमंडलीकरण की ओर बदल दिया। इसमें संदेह नहीं कि फिलिस्तीनी लोगों के अधिकारों के प्रति तथा संयुक्त राष्ट्र संघ और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक जैसी बहुपक्षीय राजनीतिक और वित्तीय संस्थाओं को मज़बूत बनाने की आवश्यकता के प्रति वचनबद्धता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस आंदोलन की सदस्यता में वृद्धि का एक नकारात्मक पक्ष भी है और वह यह कि कुछ देशों ने बड़ी शक्तियों के साथ विशेष सैनिक संबंधों का परित्याग नहीं किया। इसने इस आंदोलन की दार्शनिक और राजनीतिक संसक्तता को अवश्य हलका कर दिया, चाहे इससे इस आंदोलन की विश्वसनीयता पर कोई प्रभाव न पड़ा हो। इसके अतिरिक्त, इस आंदोलन के कुछ देशों के बीच सैनिक संघर्ष भी हुए। उदाहरण के लिए ईरानइराक, भारत–पाकिस्तान, इथियोपिया–सोमालिया के बीच युद्धों ने इसकी सदस्यता के बारे में दुविधाजनक स्थिति पैदा कर दी। इसके अतिरिक्त, इस आंदोलन के संस्थापक सदस्य और प्रमुख भूमिका निभाने वाले युगोस्लाविया के विघटन से इस आंदोलन को गहरा आघात लगा। अंततः शीत युद्ध की समाप्ति के कारण बहुत से गुटनिरपेक्ष देशों की स्थिति बदल गई। उन्हें बदली हुई स्थिति में संयुक्त राज्य अमेरिकी और उसके सहयोगियों के बढे हुए प्रभाव के कारण शीघ्र ही नए सिरे से अपनी विदेश नीति को नए ढंग से बनाना पड़ा।

इसका परिणाम यह हुआ कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन का महत्व इसके सदस्य देशों में भी घट गया। म्यांमार और यहाँ तक कि मिस्र ने भी इसे समाप्त करने का सुझाव दिया। यद्यपि भारत ने अभी इतनी अधिक दूरी तक नहीं सोचा है लेकिन इसने भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन के संदर्भ में कुछ वक्तव्य देने के अलावा कुछ अधिक नहीं किया है।

बदले हुए संदर्भ में गुटनिरपेक्षता के आलोचकों का कहना है गुटनिरपेक्ष आंदोलन की । प्रासंगिकता समाप्त हो चुकी है और यह भारत जैसे देशों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोगी नहीं रहा है। दूसरी ओर इस बात की तरफ ध्यान दिलाना भी आवश्यक है कि गुटनिरपेक्षता के पीछे निहित भावना अर्थात् राष्ट्रीय नीति–निर्माण की स्वतंत्रता को सैनिक या आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली देशों के दबाव या सनक के अधीन समर्पित न होने देने की इच्छा की आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यकता है। यह संभव है कि जिस प्रकार से यह आंदोलन चलाया गया उसमें कुछ कमियाँ हों परंतु इस नीति में अंतर्हित महत्व पर संदेह नहीं किया जा सकता। यदि भारत आचरण से यह प्रदर्शित कर सके तो यह न केवल गुटनिरपेक्षता के विचार के प्रति बड़ी सेवा होगी बल्कि समतावादी विश्व–व्यवस्था के प्रति भी बड़ा योगदान होगा। यह एक बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन के कमज़ोर पड़ने के साथ ही संयुक्त राष्ट्र भी कमज़ोर पड़ गया। इसका अभिप्राय यह है कि दोनों के भविष्य परस्पर संबद्ध हैं। यह हमारे वर्तमान और भावी नेतृत्व के लिए एक नसीहत है।

17.5 भूमंडलीकरण

निस्संदेह आप इस बात से सहमत होंगे कि भूमंडलीकरण सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक और राजनयिक मुद्दे के रूप में उभरा है। इसका श्रेय कंप्यूटर, दूरसंचार और उपग्रह प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आई क्रांति को दिया जा सकता है। अब इंटरनेट सुविधाओं के माध्यम से सूचनाओं का आदान–प्रदान बहुत आसान हो गया है। आजकल विश्व–भर के बहुत से व्यक्ति, सरकारी या निजी, राष्ट्रीय या विदेशी संस्थान इन सुविधाओं का लाभ उठा रहे हैं। उदाहरण के तौर पर, इंटरनेट के माध्यम से विश्व के दो या अधिक स्थान पर तत्काल पत्रों का आदान–प्रदान हो सकता है। इसी प्रकार, कंपनियाँ भी सूचना और संचार प्रौद्योगिकियों की मदद से विश्व–भर में माल की बिक्री और खरीद का व्यापार कर रही हैं। बैंकों में चेक बुक के बिना रुपयों का एक खाते से दूसरे खाते में अंतरित करना संभव हो गया है। इंटरनेट सेवाओं के उपयोग द्वारा ग्राहक अपने घर बैठे–बैठे हैं। माल का ऑर्डर भेज सकते हैं, माल प्राप्त कर सकते हैं और उसका भुगतान कर सकते हैं। इसे इलेक्ट्रॉनिक वाणिज्य कहते हैं। कंपनियाँ बहुत तेजी से अपने उत्पादन केंद्रों को विश्व के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा रही हैं। माइक्रोसॉफ्ट, सैमसुंग और सिटी बैंक जैसी कंपनियाँ (जिनका उत्पादन, विक्रय और कर्मीदल कई देशों में स्थित हैं) के नाम भारत जैसे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में भी खूब परिचित हो गए हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों अपने कार्य को तेज़ी से एक देश से दूसरे देशों में स्थानांतरित करके पैसा लगाकर खूब धन कमा रही हैं। बैंक, कार्यालय, परिवहन सेवाएँ, कंपनियाँ, लाभ न कमाने वाले संगठन, शैक्षिक संस्थाएँ, अंतर्राष्ट्रीय संगठन और पर्सनल कंप्यूटर सॉफ्टवेयर का प्रयोग करके अपनी बेवसाइट खोलकर और उसमें सूचनाओं को डालकर प्रिंट करके कोई भी व्यक्ति उन्हें इंटरनेट के द्वारा फ्लॉपी डिस्क पर उतार कर उपयोग कर सकता है। उपग्रह चैनल विश्व के सभी देशों में सीधे घर–घर अपने कार्यक्रम प्रसारित कर रहे हैं। समाचारों का प्रसारण भी तत्काल किया जा रहा है और टेलीविजन पर युद्धों के समाचार सीधे दिखाए जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में, भूमंडलीकरण की पहचान सूचना और संचार प्रौद्योगिकियों के उपयोग द्वारा बहुत तेज़ी से पूँजी, सामान, सूचना और यहाँ तक कि लोगों के आवागमन से होती है। जिन क्षेत्रीय सीमाओं को राष्ट्रों के रूप में जाना जाता था वे एकाएक अब उतनी प्रासंगिक नहीं रह गई हैं। अब एक ऐसा विश्व नागरिक समाज उभरता दिखाई दे रहा है जिसमें सांसद, मज़दूर संघ, गैर–सरकारी संगठन आदि शामिल होंगे। अब एक विश्व–ग्राम की संकल्पना वास्तविक हो गई है। सुविकसित और अत्यधिक प्रतियोगी कंप्यूटर सॉप्टवेयर उद्योग की शक्ति से, तकनीकी और कुशल कर्मीदल की उपलब्धता से और इसके अत्यधिक विशाल मध्यमवर्गीय बाज़ार की संभावनाओं से भारत भूमंडलीकरण के इस युग में लाभान्वित होने की आशा कर सकता है। सन् 1991 से भारत ने अपनी आर्थिक नीति की दिशा परिवर्तित कर दी है। और नई आर्थिक नीति में निजीकरण, विदेशी पूँजी निवेश के नियमों को उदार बनाकर, सरकारी क्षेत्र की कंपनियों के विनिवेश के रूप में नए महत्पूर्ण तत्व जोड़ दिए हैं। अब बाज़ार में ग्राहकों के सामने मोटरकारों से लेकर खाद्य सामग्री तक चुनने के लिए ढेर सारे विकल्प हैं। भारत का निर्यात (विशेष रूप से सेवा के क्षेत्र में) बहुत बढ़ गया है, देश में पूँजी निवेश में तेज़ी आई हैं और हमारे विदेशी मुद्रा भंडार की स्थिति बहुत ही सुविधाजनक है। कुल मिलाकर भूमंडलीकरण के दौरान भारत, विश्व की सर्वाधिक तेज़ी से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था बनकर उभरा है।

भारत भूमंडलीकरण के लाभकारी पक्षों के प्रति उत्साहित है लेकिन वह इसके हानिकारक प्रभावों से चिंतित भी है। भूमंडलीकरण के आलोचकों के विचार में विश्व के भूमंडलीकरण का ही दूसरा नाम विश्व का अमेरिकीकरण है। एक प्रकार से अमेरिकी कंपनियों, मुद्रा, चैनलों और हथियारों ने विश्व पर आधिपत्य जमा लिया है। भूमंडलीकरण के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिणाम चिंताजनक हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों, बड़े–बड़े संचार माध्यमों और गैर–सरकारी संगठनों की गतिविधियों में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया जिस रूप में अभिव्यक्त हुई है, उसने राज्यों की

संरचना के प्रभुसत्तात्मक विशेषाधिकार को हानि पहुँचाई है। उदाहरणार्थ, विभिन्न सरकारों पर – रियो के बाद सिएटल और डर्बन में एक सम्मेलन के बाद दूसरे सम्मेलन में – बहुत अधिक दबाव पड़ा। शरणार्थियों और प्रवासियों की उपस्थिति उत्तर के साथ–साथ दक्षिण में भी एक प्रकार के राजनीतिक विप्लव का कारण थी। आतंक और हिंसा फैलाने के लिए प्रौद्योगिकी का दुरुपयोग भूमंडलीकृत विश्व का एक महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रभाव है। विभिन्न देशों में परस्पर और देश के भीतर अमीर और गरीब के बीच आय का अंतर बहुत अधिक बढ़ गया है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा जारी किए गए आँकड़ों के अनुसार विश्व की लगभग आधी जनसंख्या (जिनमें से अधिकांश उप–सहाराई अफ्रीका और दक्षिण एशिया की है) प्रतिदिन दो डॉलर से भी कम आय पर जीती है। वस्तुतः विश्व के तीन सर्वाधिक धनी अरबपतियों (बिलिनयर्स) की परिसंपत्तियाँ सबसे कम विकसित देशों की कुल सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) से अधिक हैं। और बाज़ार की शक्ति में वृद्धि के कारण अधिकांश विकासशील विश्व निजी पूँजी निवेश के लिए अनाकर्षक और निर्यात के प्रयोजनों के लिए प्रतियोगिताहीन हो गया है। इसके अलावा, हमारे रहन–सहन के ढंग में मूलभूत परिवर्तन हो रहा है जो टेलीविज़न में प्रदर्शित विज्ञापनों द्वारा प्रेरित होकर निरर्थक उपभोक्तावाद की ओर अग्रसर हो रहा है।

भूमंडलीकरण के नकारात्मक प्रभावों को समाप्त करने और मानवता के सभी भागों में इसके लाभों को प्राप्त कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्रीय संगठन और गुटनिरपेक्ष आंदोलन अन्य देशों के साथ कार्य कर रहा है। इसी संदर्भ में कुछ उत्साहवर्धक प्रगति भी हुई है जिसमें समूह–8 के देशों ने यह निर्णय किया है कि कुछ सर्वाधिक ऋणग्रस्त और गरीब देशों के ऋणों को रद्द कर दिया जाए। संयुक्त राष्ट्र के अर्द्ध सहस्राब्दि शिखर सम्मेलन में इस विषय में सर्वसम्मति थी कि गरीबी घटाने, बच्चों की शिक्षा, एड्स आदि के क्षेत्र में 2015 तक कुछ सामाजिक–आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्य किया। जाए ताकि सभी सकारात्मक क्रियाकलापों के केंद्र में मानव को रखा जा सके।

17.6 सारांश

भारत की दृष्टि में संयुक्त राष्ट्र संघ शांति और समृद्धि के प्रति समर्पित विश्व–व्यवस्था का आधार है। भारत ने हमेशा गरीब, अभाव और विवादों के परिणाम के प्रबंध के लिए समान मोर्चा बनाने के लिए सार्वभौम मंचों के राजनयिक उपयोग पर ज़ोर दिया है। यह संयुक्त राष्ट्र के विभाजनकारी ज़ोर–जबरदस्ती वाले और सीमित उद्देश्यों के लिए उपयोग का विरोध करता है। इसी तरह, भारत की दृष्टि में क्षेत्रीय संगठनों का प्रयोग ऐसी प्रक्रियाओं के रूप में किया जाना चाहिए जो देशों के बीच अधिक से अधिक समझ और सहयोग को बढ़ावा दे सकें और इनके माध्यम से इस बात पर बल देना चाहिए कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व मंचों के साथ मिलकर कार्य करें। इसका कारण देशों की एक–दूसरे पर बढ़ती हुई निर्भरता है जो अब भूमंडलीकरण के युग में परिवर्तित हो गई है। इसकी व्यवस्था कुछ इस प्रकार की जानी चाहिए कि यह इस ग्रह पर जीवन को पहले से अधिक न्यायसंगत और पक्षपातरहित बना दे। दूसरे शब्दों में, विश्व के मामलों में भारत अनुभवी, परिपक्व संतुलित और भविष्योन्मुख देश के रूप में उभर रहा है। घरेलू राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद भारत की यह विशेषता कायम है।

17.7 अभ्यास

1. संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से विश्व शांति और सुरक्षा के क्षेत्र में भारत के योगदान के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों की पहचान कीजिए।
2. भारत ने तृतीय विश्व के देशों के आर्थिक विकास के लिए किन तरीकों से कार्य किया है।
3. भारत के राष्ट्रमंडल और आसियान के साथ संबंधों के बारे में चर्चा कीजिए।
4. सार्क के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5. भारत की गुटनिरपेक्ष नीति की राजनयिक उपलब्धियों का स्पष्ट रूप में वर्णन कीजिए।
6. गुटनिरपेक्षता की नीति गुटनिरपेक्ष आंदोलन से किस प्रकार भिन्न है?
7. भूमंडलीकरण से क्या लाभ प्राप्त हुए हैं?
8. भूमंडलीकरण से जुड़ी कुछ समस्याओं की पहचान कीजिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- ए.अप्पादुरै : डोमेस्टिक रूट्स ऑफ इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी, 1947–1972 (दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1981)
- ए.के.पाशा, इंडिया एंड वेस्ट एशिया : कंटीन्यूटी एंड चेंज, (ज्ञान सागर पब्लिकेशनसः दिल्ली, 1999).
- ए.के.दामोदरन, बियोंड ऑटोनॉमी – रूट्स ऑफ इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी, (सोमैया पब्लिकेशंस, मुंबई–नई दिल्ली, 2000)
- बी.सी. उप्रेती एवं अन्य (संपा.), इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी : इमर्जिंग चैलेंजेज़ एंड पैराडाइम्स, (कलिंगा पब्लिकेशनंस, दिल्ली, 2003).
- बी.आर.दीपक, इंडिया–चाइना रिलेशंस : इन द फर्स्ट हाफ ऑफ द ट्वेंटियथ सेंचुरी (दिल्ली, ए.पी.एच, 2001)
- सी.राजा मोहन, क्रॉसिंग दि रूबिकॉन – दि शेपिंग ऑफ इंडियाज़ न्यू फॉरेन पॉलिसी, (वाइकिंग, नई दिल्ली, 2003).
- सी.एस.आर.मूर्ति, इंडिया इन टूमॉरोज़ यूनाइटेड नेशनंस, (नई दिल्ली, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, 1995).
- चरन डी वधवा और मुकुल जी.अशेर, आसियान–साउथ एशिया इकोनॉमिक रिलेशंस, (सिंगापुर, 1985).
- चार्ल्स ई.मॉरिसन, एशिया–पैसिफिक सिक्योरिटी आउटलुक, (तोक्यो, 1999).
- कोइड्स जी, इंडियनाइज़्ड स्टेट्स ऑफ साउथ–ईस्ट एशिया, (लंदन, 1964).
- डेविड मेयर्स (संपा.), रीजनल हेगेमॉनी : चैट परसेप्शन एंड स्ट्रेटजिक रिसपोंसिज़ (बॉलडर : वेस्टव्यू, 1991), पृ.1–29
- गंगानाथ झा, साउथ–ईस्ट एशिया एंड इंडिया – ए पॉलिटिकल पर्सपेक्टिव, (नई दिल्ली, 1987).
- गोवर रिज़वी, साउथ एशिया इन चेंजिंग इंटरनेशनल ऑर्डर (नई दिल्ली, सेज, 1993)
- हरीश कपूर, इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी, 1947–1992 : शैडोज़ एंड सब्सटांस (नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1994)
- जे.बंद्योपाध्याय, दि मेकिंग इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी (नई दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स, 1980)
- जे.बंद्योपाध्याय, दि मेकिंग ऑफ इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी, (एलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1970).
- जे.एन.दीक्षित, एक्रॉस बॉर्डर्स, (पाइसस बुक्स, नई दिल्ली, 1998).
- जेफ्री बेनर, स्ट्रक्चर ऑफ डिसिज़न : दि इंडियन फॉरेन पॉलिसी ब्यूरोक्रेसी (नई दिल्ली, साउथ एशियन पब्लिशर्स, 1984).
- जोसफ फ्रेंकल, दि मेकिंग ऑफ फॉरेन पॉलिसी : एन एनालैसिस ऑफ डिसिज़न–मेकिंग, (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1963).
- के.एम.पणिक्कर, इंडिया एंड दि इंडियन ओशन, (लंदन, 1945).
- के.एस. नाथन, इंडिया एंड आसियान, (कुवालालम्पुर, 2000).
- के.डी.माथुर और पी.एम.कामत, कनडक्ट ऑफ इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी (दिल्ली, साउथ एशियन पब्लिशर्स, 1996).
- के.पी.मिश्रा, जनताज़' फॉरेन पॉलिसी (नई दिल्ली, विकास, 1979).
- के.पी.मिश्रा (संपा) की पुस्तक फॉरेन पॉलिसी ऑफ इंडिया में के.पी.मिश्रा का आलेख ''फॉरेन पॉलिसी प्लानिंग इन इंडिया'', थॉम्सन प्रेस, नई दिल्ली, 1977.
- के.पी.सक्सेना, का एम.एस.राजन आदि (संपा.) की पुस्तक दि नॉनएलाइन्ड एंड दि यूनाइटेड नेशनंस में आलेख "दि यूनाइटेड नेशंस इन इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी एंड स्ट्रेटजी'', नई दिल्ली, (साउथ एशियन' पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1987).

- के.वी.केशवन (संपा), बिल्डिंग ए ग्लोबल पार्टनरशिप : फिफ्टी ईयर्स ऑफ इंडो–जापान रिलेशंस (नई दिल्ली, लांसर्स बुक्स, 2002).
- कपूर, अशोक आदि (संपा), इंडिया एंड दि यूनाइटेड स्टेट्स इन चेंजिंग वर्ल्ड, (नई दिल्ली, सेज, 2002)
- कोडीकरा शेल्डन (संपा), एक्सटर्नल कम्पल्शन ऑफ साउथ एशियन पॉलिटिक्स, (नई दिल्ली).
- कोफी ए. अन्नान. वी दि पीपुल्स : दि रोल ऑफ दि यूनाइटेड नेशनंस इन दि ट्वेंटीफर्स्ट सेंचुरी, (न्यूयॉर्क, यूनाइटेड नेशंस, 2000).
- कृपा श्रीधरन, आसियान रीजन इन इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी, (लंदन, 1996).
- कुलदीप नैयर, इंडिया : दि क्रिटिकल ईयर्स, (विकास, नई दिल्ली, 1971).
- ललित मानसिंह, एम.वेंकटरामन, जे.एन.दीक्षित और अन्य (संपा), इंडियन फॉरेन पॉलिसी : एजेंडा फॉर दि ट्वेंटी–फर्स्ट सेंचुरी, वॉल्यूम 2, (कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1998).
- एम.एस.अगवानी, कनटम्प्रेरी वेस्ट एशिया, (हर–आनंद पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1995).
- एम.एल.सौंधी और श्रीकांत परांजपे, सार्क पार्लियामेंट एंड दि परसुइट ऑफ स्टेबल पीस इन साउथ एशिया, (नई दिल्ली, कॉन्फक्लिक्ट मैनजमेंट ग्रुप, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 1995).
- एम.एस. राजन. इंडिया एंड इंटरनेशनल अफेयर्स : ए कॉलेक्शन ऑफ ऐसेज़, (नई दिल्ली, लान्सर्स बुक्स, 1999).
- महापात्र, चिंतामणि, इंडो–यू.एस.रिलेशंस इनटू द ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी (नई दिल्ली, आई.डी.एस.ए. और नॉलेज वर्ल्ड, 1999).
- मल्होत्रा, विजय कुमार, क्लिंटन एडमिनिस्ट्रेशन एंड साउथ एशिया (दिल्ली, एस.ए.पी, 1997).
- मान, पूनम, इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी इन दि पोस्ट कोल्ड वार ईरा (दिल्ली, हर्मन, 2000).
- मोहम्मद अय्यूब, इंडिया एंड साउथ ईस्ट एशिया, (सिंगापुर, 1987).
- मोहिते, दिलीप एच, इंडो–यू.एस.रिलेशंस : इशूज़ इन कॉन्फलिक्ट एंड को–ऑपरेशन (दिल्ली : एस.ए.पी, 1995)
- एन.एन.वोहरा (संपादक), कल्चर, सोसाइटी एंड पॉलिटिक्स इन सेंट्रल एशिया एंड इंडिया, (शिप्रा पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1999).
- एन.एन.वोहरा (संपा), हिस्ट्री, कल्चर एंड सोसाइटी इन इंडिया एंड वेस्ट एशिया, (शिप्रा पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2003).
- नैंसी, जेटली (संपा), इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी : चैलेंजेज़ एंड प्रॉस्पक्ट्स, (नई दिल्ली, विकास पब्लिशर्स, 1999).
- पी.एल. भोला, फॉरेन पॉलिसीज़ ऑफ इंडिया, पाकिस्तान एंड चाइना (जयपुर, आर.बी.एस.ए, पब्लिशर्स, 2001).
- पी.एन.हक्सर, इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी एंड इट्स प्रॉब्लम्स, (पेट्रिओट, नई दिल्ली, 1989).
- पॉल एफ.डाइल्ह (संपा), दि पॉलिटिक्स ऑफ ग्लोबल गवर्नेनैंस, (बॉल्डर : लाइन्ने रीनर पब्लिशर्स, 2001).
- प्राण चोपड़ा, दि क्राइसिस ऑफ फॉरेन पॉलिसी, (व्हीलर, नई दिल्ली, 1993).
- प्रसन्न कुमार पतसनी (संपा), इंडिया एंड रशिया : टूवर्स स्ट्रेटेजिक पार्टनरशिप (नई दिल्ली, संस्कृति, 2002).
- राजाराम पंडा और कैजूओ एंडो (संपा), इंडिया एंड जापान : इंडियन इंटलेक्चुअल पर्सपेक्टिव्स (नई दिल्ली, जापान फाउंडेशन, 1998)
- राम राहूल, सेंट्रल एशिया : ए टेक्स्टबुक हिस्ट्री, (मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2000).
- रियाज़ पंजाबी, ए.के.पाशा, इंडिया एंड दि इस्लामिक वर्ल्ड, (रेडिएंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1998).
- एस.डी.मुनि और अनुराधा मुनि, रीजनल को–ऑपरेशन इन साउथ एशिया (नई दिल्ली, 1984)
- सार्क इन ब्रीफ (काठमांडू, सार्क सचिवालय)
- शम्सुद्दीन (संपा), इंडिया एंड रशिया : टूवर्स स्ट्रेटेजिक पार्टनरशिप (नई दिल्ली, लांसर्स बुक्स, 2001)

- शशि थरूर, रिज़न्स ऑफ स्टेट : पॉलिटिकल डेवलपमेंट एंड इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी अंडर मिसेज इंदिरा गांधी 1966–1977 (नई दिल्ली, विकास, 1977)
- श्रीकांत परांजपे, इंडिया एंड साउथ एशिया सिंस 1971 (नई दिल्ली, रैडिएंट, 1985)
- सुलेमान, नौशाद अनवर, इंडिया, जर्मनी एंड यूरोपीयन यूनियन : पार्टनर्स इन प्रोग्रेस एंड प्रॉस्पर्टी (दिल्ली, कलिंगा, 2002)
- टोन थाट थिएन, इंडिया एंड साउथ ईस्ट एशिया, (जिनेवा, 1963).
- वी.डी.चोपड़ा (संपा), इंडो–रशियन रिलेशंस : प्रॉस्पैक्ट्स, प्रॉब्लम्स एंड रशिया टूडे (नई दिल्ली, कल्पाज़, 2001).
- वी.एन.खन्ना, फॉरेन पॉलिसी ऑफ इंडिया, (विकास, नई दिल्ली, 2001).
- वी.पी.दत्त, इंडियाज़ फॉरेन पॉलिसी, (विकास, नई दिल्ली).
- वर्नन हैविट, दि न्यू इंटरनेशनल पॉलिटिक्स ऑफ साउथ एशिया (मानचेस्टर, मानचेस्टर यूनीवर्सिटी प्रेस, 1997)

आलेख

- 'दि इंटरनेशनल बिल ऑफ ह्यूमैन राइट्स' यूनाइटेड नेशनंस, न्यूयॉर्क, 1993.
- ए.एच.एच.अबिदी, 'इरानियन पर्सपैक्टिव ऑन रिलेशंस विद इंडिया', इंटरनेशनल स्टडीज, भाग 32, अंक 3, 1995.
- अब्दुल नेफे और ओम गुप्ता संपा., लैटिन अमेरिका इन इमर्जिंग वर्ड ऑर्डरः अपर्म्युनिटी फॉर इंडिया, (नई दिल्ली, डी.के. पब्लिशर्स, 2000) (अध्याय : 18–23)
- भार्गव गोपाल (2003), ह्यूमैन राइट्स : कॉन्फलिक्ट टू बिल्ड पीस, कल्पज़ पब्लिकेशंस, नई दिल्ली
- भार्गव गोपाल (2003), मीनिंग एंड सोर्सिज़ ऑफ ह्यूमैन राइट्स, कल्पज़ पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.
- सेंट्रल एशिया टूडे, वर्ल्ड फोकस, भाग 19 अंक 3, मार्च 1998.
- सेंट्रल एशिया टूडे : सीरियस डिफिकल्टीज़ लाइ एहैड, वर्ल्ड फोकस, भाग 21 सं.8, अगस्त 2000.
- चपोहरम सी (1997) "एनवायरनमेंट एंड ह्यूमैन सर्वाइवल", ऑक्सफोर्ड, लंदन.
- छाबड़ा, हरी शरण, 1986. इंडिया एंड अफ्रीका : एक सागा ऑफ फ्रेंडशिप, नई दिल्ली : अफ्रीका पब्लिकेशंस.
- डी.पी. जडेजा (संपा.), इंडिया एंड लैटिन अमेरिका : पार्टनर्स इन प्रोग्रस, नई दिल्ली ट्रांस एशिया पब्लिकेशंस, 1998.
- दीपक नैयर (संपा.), ट्रेड एंड इंडस्ट्रियलाइज़ेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1997.
- डॉमिनीक्वैज़, जे.आई. 'ह्यूमन राइट्स एंड इंटरनेशनल रिलेशन्स'
- भारतीय परमाणु सिद्धांत पर राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड की मसौदा रिपोर्ट (17 अगस्त 1999 को जारी)
- गिलीस बॉक्यूर्ट, 'इंडियन रिसपोंस टू दि गल्फ क्राइसिस ऑफ 1990–91", इंटरनेशनल स्टडीज़, भाग 38, अंक 4, 2001.
- हंस गुंटूर ब्राउच, सर्वे ऑफ रिसेंट एंड ऑनगोइंग रिसर्च इन दि सोशल एंड ह्यूमैन साइंसेज़ ऑन डिसआर्मामेंट (यूनेस्को, 1988)
- जोसफ हडास, "इवोलूशन्स ऑफ दि रिलेशंस बिटविन इंडिया एंड इज़राइल", इंडियन क्वार्टरली, भाग 28, अंक 2, अप्रैल–जून, 2002.
- जोज़फ गोल्डब्लाट, आर्स कंट्रोल : ए गाइड टू नेगोशिएशंस एंड एग्रीमेंट्स (लंदन, सेज, 1994)
- मदनमोहन पुरी, सेंट्रल एशियन जियोपॉलिटिक्स : दि इंडियन व्यू", सेंट्रल एशियन सर्वे, भाग 16, अंक 2, जून 1997.
- मीना सिंह रॉय, "इंडियाज़ इनट्रस्ट्स इन सेंट्रल एशिया', स्ट्रैटेजिक एनालेसिस, भाग 24, अंक 12, मार्च 2001.
- वाणिज्य मंत्रालय, विभिन्न वार्षिक रिपोर्ट
- विदेश मंत्रालय, विभिन्न वार्षिक रिपोर्ट

- नेशनल न्यूक्लियर एनर्जी प्रोग्राम, (नई दिल्ली : लोकसभा सचिवालय, 1989).
- पीटर विल्किनसन, ''पॉलिटिकल टेरोरिज़्म'' (लंदन : मैकमिलन, 1974).
- राज अवस्थी (संपा.) (1996), ''एनवायरनमेंट एंड इकोनॉमिक डेवलपमेंट'', पैट्रिओट पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.
- राममूर्ति, टी.जी. 1995, एपार्थिड एंड इंडियन साउथ एफ्रीकन्स, नई दिल्ली : रिलायंस.
- रामचंदानी, आर.आर. 1990. इंडिया–एफ्रीका रिलेशंस : इशूज़ एंड पॉलिसी ऑप्शन्स, भाग 1, नई दिल्ली : कलिंगा.
- रसगोत्रा, एम. (संपा.), "इंडिया फॉरेन पॉलिसी इन दि 1990ज़'', पैट्रिएट पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.
- रॉडलै नीगेल (1977), मैकग्रॉ हिल, न्यूयॉर्क.
- सावंत, ए.बी, 1991. इंडिया एंड साउथ एफ्रीका : ए फ्रेश स्टार्ट, नई दिल्ली, कलिंगा.
- सक्सेना, एस.सी, 1992. साउथ एफ्रीका : वाकिंग दि लास्ट माइल, नई दिल्ली, कलिंगा.
- शरर, आर (1996), ''एथिनिक नेशनलिज्म एंड वॉयलेंस'', प्राइगर, वेस्टपोर्ट, सी.टी.
- सीवार्ड एम (1999), 'रिलिजंस एंड एथनिक्स चैलेजेज़ टू डेमोक्रेसी इन साउथ एशिया'' ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड.
- स्मिथ आर. (1998), ''एथनिक ऑरिजन ऑफ नेशंस'', कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.
- थॉमस सी. (1995). "रिलिजसे फ्रीडम'', फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.
- अंकटाड, ट्रेड एंड डेवलपमेंट रिपोर्ट, 1998, यूनाइटेड नेशंस, न्यूयॉर्क और जिनेवा.
- अंकटाड, वर्ल्ड इनवेस्टमेंट रिपोर्ट 1996, इनवेस्टमेंट ट्रेड एंड इंटरनेशनल पॉलिसी अरेजमेंट्स, यूनाइटेड नेशंस, न्यूयॉर्क और जिनेवा, 1996.
- अंकटाड, वर्ल्ड इनवेस्टमेंट रिपोर्ट 1997, ट्रांसनेशनल कार्पोरेशन्स, मार्केट स्ट्रक्चर एंड कम्पिटिटिव पॉलिसी, यूनाइटेड नेशंस, न्यूयॉर्क और जिनेवा, 1996.
- अंकटाड, वर्ल्ड इनवेस्टमेंट रिपोर्ट 1998, ट्रेंड्स एंड डिटरमिनेंट्स, यूनाइटेड नेशंस, न्यूयॉर्क और जिनेवा, 1998.
- विभाकर, जे, 1974. एफ्रो–एशियन सिक्योरिटी एंड दि इंडियन ओशन, नई दिल्ली, स्टर्लिंग.
- वोहरा, एन.एन. और मैथ्यूज़ के (संपा), 1997. इंडिया, साउथ एफ्रीका एंड साउथ साउथ को–ऑपरेशन, नई दिल्ली, हरनंद।